माँ ने कहा था .....

लेखक

पीयूष प्रियंवद

माँ ने कहा था......

जीवन ने जहाँ अपने, और अपने परिवेश के रहस्यों को सुलझाते रहने का प्रयास किया है, वहाँ व्यक्तिगत स्पर्धाओं ने उन रहस्यों को बने रहने देने के अपने प्रयास को कभी छोड़ा भी नहीं है। चार्वाक ने अगर अपनी अनास्तिकि दिखलाई, तो वहाँ तथाकथित 'वेदवादियों' अथवा 'ईश्वरवादियों' ने उसपर प्रवलतम प्रहार करने से अपने को रोका भी नहीं।

जीवन ने व्यक्ति की हर द्वन्द्वात्मक स्थिति को देखा और परखा है। उसने व्यक्ति को उसकी निरी वैयक्तिकता से अलग करने का हर बार प्रयास भी किया है। किन्तु, 'व्यक्ति', अपनी निरी वैयक्तिकता को छोड़ने-न छोड़ने की कशमकश के बाद भी, उससे अलग नहीं हो पाया है। 'व्यक्ति' की अपनी निरी वैयक्तिकता हो, अथवा पारिवारिक इकाई की निरी वैयक्तिकता, सामाजिक इकाई की निरी वैयक्तिकता हो अथवा राष्ट्रीय इकाई की निरी वैयक्तिकता, 'वैयक्तिकता' ने हर बार अपना वर्चस्व स्थापित करने के क्रम में व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक पर कभी अच्छा तो कभी बुरा प्रभाव छोड़ा है। आज भी इसके अनगिनत उदाहरण स्पष्टतः देखने को मिलते ही रहते हैं– कभी राष्ट्रवाद के रूप में, तो कभी आतंकवाद के रूप में; कभी जातीय संघर्ष के रूप में तो कभी साम्प्रदायिक संघर्ष के रूप में।

'श्रुति' और 'स्मृति' से प्रभावित तत्कालीन समाज ने अपने उत्तरकालीन अवस्था में जिस 'बुद्धिवाद' और 'कर्मवाद' की वैयक्तिकता को जन्म दिया था, उसकी पुनःसमन्विति के प्रयास का ही फल है 'उपनिषद्'। उपनिषदों ने विद्या-अविद्या की समन्विति के माध्यम से उनकी वैयक्तिक एकांगिकता की असफलता को न केवल व्याख्यापित ही किया, वरन् सम्पूर्ण सृष्टि को 'ब्रह्म-शक्ति' की एकरूपता में ढालकर उसे एक संवेदनशील पूर्ण का रूप दे, पुरुष-रूप मानवीय आकृति भी दी।

प्रो० आर० डी० रनाडे के अनुसार उपनिषदों में दस प्रकार की विचार-विधियों का प्रयोग किया गया है। वे दस विचार-विधि निम्न रूप में गिनाये गये है– कूट विधि (Enigmatic method); सूत्र-विधि; धात्वर्थ विधि (etymological method); पौराणिक विधि (mythical method); दृष्यान्त विधि (analogical method); द्वन्द्वन्याय विधि (dialectical method); समन्वय विधि (Synthetic method); स्वतःसंवाद विधि (monological method); यथावसर विधि (Adhoc method); प्रतिगमन विधि (Regressive method)।

माँ ने कहा था .....

(उपनिषदों से)

[पीयूष-प्रियंवदा स्मृति मानविकी मेधा पुरस्कार-योजना के अन्तर्गत् प्रकाशित]

लेखक

पीयूष प्रियंवद

दर्शन-पीयूष प्रतिष्ठान, दरभंगा ।

प्रकाशक-

दर्शन-पीयूष प्रतिष्ठान, दरभंगा

[दर्शन-विभाग, ल० ना० मि० वि० के शिक्षक श्सदस्यों द्वारा संचालित संस्था]

[पीयूष-प्रियंवदा स्मृति मानविकी मेधा पुरस्कार-योजना के अन्तर्गत् प्रकाशित]

लेखक : पीयूष प्रियंवद

कॉपीराइट : शचीन्द्र नाथ सिन्हा

संस्करण : 2003 ई०

आवरण एवं साज-सज्जा : मतलुब रेजा 'राजा'

मूल्य : दो सौ रुपए मात्र

शब्द-संयोजन एवं मुद्रण : प्रिंटवेल
अशोका होटल कैम्पस, टावर चौक
दरभंगा-846004
दूरभाष : 235205

Maan Ne Kahaa Thaa....
(Upnishadon Se)
by PIYUSH PRIYAMVAD

यह कृति
स्नेहमयी पूजनीया माँ
को
सादर समर्पित
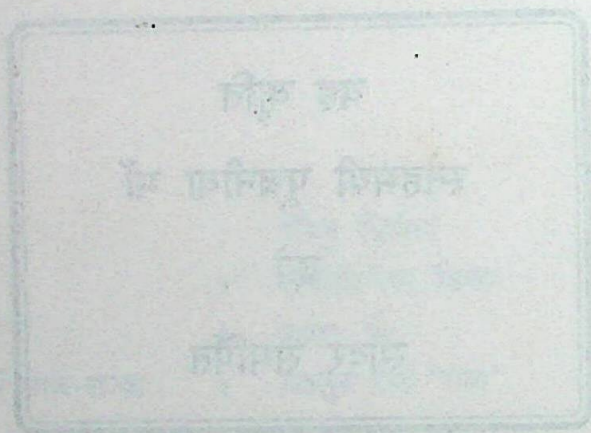
मम्मी-पापा के लाड़ले पीयूष !

अमर रहें आप, और अमर रहे आपकी कृति ।

आज आपकी 'कृति'- 'माँ ने कहा था...'- प्रकाशित हो रही है। आज आप उन्मुक्त हैं; दिव्य और अमर हैं । आप आज शक्ति-स्वरूप सृष्टि-रूप ही नहीं, स्रष्टा भी हैं । एक स्रष्टा ही नित्य होता है । ब्रह्मानन्द में डूबे, अपने मंम्मी-पापा के अमर लाल ! आपको आपके पापा का कोटि-कोटि नमन । आपकी विदुषी माता को समर्पित आपकी कृति आपको अर्पित ।

पापा के 'अकबर' ! पापा के दिल पर राज करनेवाले ! आज तो आप स्वयं में 'स्रष्टा' हैं । ऋण-त्रय से विमुक्त, 'सृष्टि के स्रष्टा ब्रह्म' के अनन्य अंग ! आपको आपके इस जागतिक पापा का कोटि-कोटि नमन ।

मम्मी-पापा के अमर लाल ! आपकी यह वर्त्तमान कृति अविज्ञानमय जगत के लिये विज्ञानमय पथ-प्रदर्शक है । नैतिकता और मानवीयता के घटते मूल्य के प्रति सजग करती आप की यह अमर कृति भौतिकवादिता को मानव-मूल्य से जोड़नेवाली है । मम्मी-पापा के विद्वान-महान अमर पुत्र ! आपको आपके जागतिक पापा का कोटि-कोटि नमन ।

मम्मी-पापा के अमर लाल ! आप माँ-बेटे के मुख-मण्डल पर छाई महापरिनिर्वाण की पूर्ण शान्ति मुझे याद दिला जाती है महापरिनिर्वाण की गोद में सोये अस्सी-वर्षीय 'बुद्ध' के मुख-मण्डल पर छाई शान्ति की । जो अपने कार्य पूर्ण कर जग छोड़ते हैं उनके ही चेहरे पर पायी जाती है वह कान्तिमय शान्ति की छटा । आप माँ-बेटे ने भी शायद अपना-अपना कार्य पूर्ण कर लिया था जगती पर, तभी तो एक 'बुद्ध' की तरह पूर्ण शान्ति में जग छोड़ पाये थे । विदुषी माँ की एक कविता का ही अंश उद्धरणीय प्रतीत होता है

यहाँ । 'मम्मी' ने लिखा है–

> ''अस्सी-वर्षीय 'बुद्ध' जब सोये थे
> महापरिनिर्वाण की गोद में,
> मुखः कान्ति में छटा थी
> पूर्णतः पूर्ण शान्ति की;
> आभा थी
> पूर्ण आत्मविश्वास की;
> सन्तुष्टि थी
> 'पूर्णता' में 'पूर्ण' को देखने-भोगने की ।''

मम्मी–पापा के अमर लाल ! भारतीय ऋषियों के शब्दों को समझने और समझाने वाली आपकी विदुषी माता एवं समझने तथा प्रकाशित करने वाले आप, दोनों ही प्रबुद्ध 'बुद्ध' हो । आप प्रबुद्ध–द्वय को मेरा कोटि–कोटि नमन ।

आपकी इस कृति के प्रकाशन के लिए मैं व्यक्तिगत रूप में आभारी हूँ डा० पंकज कुमार वर्मा और 'दर्शन–पीयूष प्रतिष्ठान' के सदस्यों का तथा 'प्रिंटवेल' और उनके मालिक श्री संजीव अग्रवाल एवं कम्प्यूटर टंकक श्री अरुण कुमार यादव, मो० मतलुब रेजा 'राजा' एवं अन्य सहकर्मियों का, जिन्होंने मेरी सारी कठिनाइयों के बावजूद आपकी इस 'कृति' को प्रकाशित करने का कार्य अपने हाथों में लिया और पूर्ण किया । बेटे ! मैं आपकी ओर से भी उन्हें आभार और धन्यवाद प्रकट करता हूँ । काश ! आप स्वयं होते यह सब करने के लिए ।

आप से ही गौरवान्वित

पापा
शचीन्द्र प्रियंवद

प्रियंवदा निवास
चित्रगुप्त नगर,
कादिराबाद,
दरभंगा – 846004

आमुख

'दर्शन-पीयूष' के पाठक इस बात से भिज्ञ हैं कि इस पत्रिका के अस्तित्व में आने के कारणों के आधार में दिवंगत बालक पीयूष द्वारा ''माँ ने कहा था.....'' शीर्षक के अन्तर्गत लिपिवद्ध कुछ कहानियाँ हैं जिन्हें उसने समय-समय पर अपनी माँ से सुन रखीं थीं। माँ की भावना पर अमल करने के क्रम में बालक ने स्मृति में कैद कुछ कहानियों का भौतिक शब्दांकन उसे यथासंभव पूर्णता में ग्रहण करने के उद्देश्य से ही किया है, यह उन कहानियों के बालक द्वारा संदर्भ ग्रन्थ से अनुशीलन की कोशिश से स्पष्ट हो जाता है। इसी कोशिश में आई बालक की सर्जनात्मक क्षमता की पहचान एवं स्मृति-चिन्ह के रूप में कुछ योजनाएँ जब बालक के पिता द्वारा निर्धारित की जाती हैं, तो उनमें से एक पत्रिका के अस्तित्व में आने की बात और दूसरी उन कहानियों का पुस्तक रूप में प्रकाशन की बात भी है। अस्तु, अब जब पत्रिका के बाद पुस्तक की बारी है तो यह निर्णय उचित प्रतीत हुआ कि दर्शन-पीयूष के पाठकों को यह सबसे पहले निःशुल्क उपलब्ध करायी जाय।

एक माँ अपने पुत्र को, जैसा कि हुआ करता है, कहानियाँ सुनाया करती हैं। तरह-तरह की कहानियों के मध्य माँ उपनिषदों की कहानियाँ भी सुनाने लगती हैं। माँ असाध्य रोग से पीड़ित हो जाती हैं। माँ के बिछुड़ जाने का अन्देशा तथा मातृ-प्रेम को यथा साध्य भोग लेने की ललक अब बड़े हो गये बालक को माँ की चिकित्सा-तपश्चर्या के मध्य भी रात्रि-प्रहर माँ के समक्ष सोकर पुनः कहानियाँ सुनने को बाध्य करती है। माँ को भी मौका मिलता है विरह के इस अवसर पर यथायोग्य समस्त कथनीय को बालक के समक्ष उँड़ेल देने का। और, इस प्रकार एक बीमार माँ के स्मृति-पटल पर अंकित उपनिषदों की कहानियाँ एक बालक-विशेष के लिए उपदेशात्मक हो जाती है। कथानक उपनिषदों का, उपदेश एक विशिष्ट माँ का अपने विशिष्ट पुत्र के लिए। स्पष्ट है कि उपनिषदों का संदर्भ एक

बालक के लिए इस प्रकार क्यों हैं ? पुस्तक का प्रकाशन इस स्थिति को बालक की पहचान के साथ जोड़ने का लक्ष्य समेटती है ।

उपनिषदों की कहानियाँ जो गूढ़ दार्शनिक सत्यों को प्रायः प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यक्त करती हैं, जो काफी गंभीर अर्थ समेटती हैं, जिनका उपरिवर्त्ती अर्थ गौण एवं अमहत्वपूर्ण है; को एक आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में अभ्यस्त एवं दीक्षित बालक के समक्ष प्रस्तुत करना एक विशेष प्रयास है, जिसे सर्वथा त्रुटि-रहित न होने पर भी सराहनीय माना जायगा । पर, इस प्रकार गंभीर अर्थ की निर्वाहिका औपनिषदिक कहानियों का कितना भी सरलीकृत, वैज्ञानिक एवं विशिष्ट प्रस्तुति बालक के समक्ष क्यों न हुई हो, बालक को लगता है कि उन कहानियों की उसकी अपनी समझ यथेष्ट नहीं हो सकी है । फलस्वरूप स्मृति में कैद उन खास कहानियों के अनुशीलन का उसी परम्परा एवं शैली में बालक द्वारा जो विशिष्ट प्रयास किया जाता है, उसे स्मृति-चिन्ह के रूप में समेटना प्रकाशन का एक दूसरा प्रमुख उद्देश्य माना जाना चाहिये । इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि का आदी किशोर-मन की दार्शनिक रूझान और दार्शनिक बातों की अभिव्यक्ति क्षमता का रेखांकन इस प्रयास के मूल में माना जाना चाहिये है ।

कहानियों का उपस्थापन बालक की लेखनी से है, पर, उन्हें उसने अपनी माँ से ग्रहण किया है, इसलिए माँ के दृष्टिकोण और बालक के दृष्टिकोण की अलग-अलग पहचान नहीं रह पायी है । फिर भी, इस व्याख्या में दोनों ही का कुछ बातों के प्रति समान आग्रह है । जैसे संपूर्ण कृति में एक आग्रह है कि चरम-तत्व जो शुद्ध शक्ति स्वरूप है, का भौतिक शक्ति से कोई विरोध नहीं । यह ठीक है कि अतिक्रान्तकता को लेकर वह सभी चीजों के परे है- साधारण चैतन्य से, लौकिक अध्यात्म से और भूत से तो है ही । लेकिन जब उसकी व्याख्या की पदावली चैतन्य और अध्यात्म को लेकर हो सकती है, तो, भूत को लेकर क्यों नहीं ? भूत और अध्यात्म के मध्य सस्ते ढंग से द्वैत खड़ा करना अनावश्यक, अवांछनीय एवं घातक है । अगर भूत में सत् है और परम तत्त्व असत् नहीं है, तो, योग का मार्ग भूत से होकर परमतत्व तक होना चाहिये, भले ही उसमें अतिक्रान्तकता क्यों न हो । जो विज्ञानातीत है, धर्मातीत है, योगातीत है, वह भूतातीत तो है ही । पर अगर वह चैतन्य स्वरूप है, योग स्वरूप है तो भूतात्मक भी है । भूत

खुद आध्यात्मिक है। आज के परिवेश में इस दृष्टिकोण का विशेष महत्व माना जायगा।

शायद इस बात को लेकर ही दोनों का समान आग्रह है कि विज्ञान परमतत्त्व का अन्वेषण कर सकेगा। हलाँकि इस सम्बन्ध में विचार सर्वथा स्पष्ट नहीं भी प्रतीत होने लगते हैं, खास कर तब जब परमतत्त्व के अन्वेषण की बात वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक ढंग से होने की होती है। वस्तुनिष्ठ एवं वैषयिक रूप वैज्ञानिक खोज सापेक्ष रूप में ही हो सकता है, जो, हमेशा निरपेक्ष से इतर होगा। निरपेक्ष को विषय कभी नहीं बनाया जा सकता। विज्ञान, अपना अतिक्रमण करके ही निरपेक्ष की उपलब्धि कर सकता है। पर, जिस रूप में भी हो, विज्ञान का उर्ध्वगामी प्रयास अध्यात्मवाद की दिशा में है और परमतत्त्व की उपलब्धि का वैज्ञानिक आदर्श, वस्तुतः आध्यात्मिक आदर्श ही है, बालक का ऐसा विश्वास अवश्य है।

उपनिषदों की कहानियों में निहित दार्शनिक भाव शाश्वत हैं और अपने दृष्टिकोण से उसे पकड़ने का किशोर मन का प्रयास एक व्यष्टिनिष्ठ प्रयास है जो कहाँ तक सार्थक और उपयुक्त है, इसके ऊपर यथायोग्य विचार पाठकों का ही होना चाहिये, अस्तु यह प्रस्तावना का अभीष्ट भी नहीं।

बालक द्वारा प्रस्तुत कहानियाँ जिस रूप में हैं, उन्हें उसी रूप में रहने दिया गया है, ताकि, उनके माध्यम से उसकी मानसिक स्थिति, सोच-समझ, दृष्टिकोण आदि उसके वैयक्तिक पहलू की सही-सही अभिव्यक्ति हो सके। किसी भी तरह की काट-छाँट अथवा सजाने-संवारने की कोशिश से बालक की पहचान प्रभावित हो सकती है। आखिर यह पुस्तक दिवंगत बालक की मानसिक-वौद्धिक स्थिति की तस्वीर ही तो है। इस अर्थ में पुस्तक का स्वरूप एक तरफ ऐतिहासिक घटना-मूलक है तो दूसरी तरफ ऐसे किसी प्रयास की प्रतिनिधिमूलक प्रतिलिपि। पुस्तक एक तरफ उच्च दार्शनिक भावों को विचार क्षेत्र में समाविष्ट करा जाती है, तो दूसरी तरफ इस बाल-कृति को सावधानी एवं सहानुभूतिपूर्वक लेने का आग्रह करती है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए दर्शन-पीयूष के सुधी पाठकों को इसके अवलोकनार्थ जब सर्वथा उपयुकत समझा गया तो यह भी माना गया कि आखिर यह उनकी थाती ही तो है, क्योंकि दर्शन-पीयूष पत्रिका रूपी इमारत की नींव में यह भी तो पड़ी है। पाठक अपनी पत्रिका की बुनियाद के एक

महत्त्वपूर्ण घटक से अवश्य ही परिचित हो लें। क्या यह संस्करण सामान्य जन के लिये भी समान रूप से उपयोगी हो सकता है अथवा इसमें गौण-परिवर्त्तन अपेक्षित हैं, अगर पाठकों से इस विषय पर विचार उपलब्ध हो सकें तो उस दिशा में प्रयास कर बालक के पिता अपने को धन्य समझेंगे।

कहानियों के उपस्थापन में निहित सर्जनात्मक क्षमता की पहचान के क्रम में जब पुस्तक में माँ-बेटे की अतिसंक्षिप्त परिचयात्मक चर्चा की बात आती है तो भावुक हो गये पिता के लिए यह काम (परिचय से सम्बन्धित बातों को उपलब्ध करा पाना) कठिन हो जाता है। आवरण पृष्ठ पर माँ-बेटे के सम्बन्ध में भावुक पिता के परिचयात्मक शब्द देखे जा सकते हैं। हाँ, बालक की माँ के सम्बन्ध में इस परिचय को उनके एक स्वतंत्र लेख 'विचारणा' के अवलोकन द्वारा पूरा किया जा सकता है, बालक के पिता का ऐसा विश्वास उपयुक्त ही प्रतीत होता है। इन सारे प्रकरण में असाक्षात रूप से और पृष्ठभूमि में जिस पिता की भूमिका सर्वत्र व्याप्त है, उसके बारे में किसी भी प्रकार के चर्चा से वे परे ही रहना चाहते हैं और बालक के प्रति अपने उद्‌गार को ही अपना सम्पूर्ण परिचय मानने का आग्रह करते हैं, जो पुस्तक में 'लाड़ले-पीयूष' शीर्षक से दर्ज है। इस प्रकार पुस्तक एवं पत्रिका के अस्तित्व के आधार में भावना किस प्रकार अन्तर्व्याप्त है, पाठक समझ सकेंगे।

दर्शन-पीयूष की मंगल-कामनाओं के साथ !
पंकज कुमार वर्मा

दर्शन-विभाग,
ल० ना० मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा।

विचारणा

'दर्शन' और 'साहित्य' । विचारणा और वर्णन । तकनीकी दृष्टिकोण में इनकी व्याख्याएँ चाहे जो कुछ भी हों, जीव-'जीवन', 'आत्मा-परमात्मा' के सन्दर्भ में सामान्यजनों के लिए ये 'सहित' से अधिक 'स-हित' का ही अर्थ देते हैं । कहना नहीं हागा कि 'दर्शन' दृश्य से सन्दर्भित है, और 'साहित्य' दृश्य के वर्णन से । ये दोनों क्रमशः 'भाव'-पक्ष और 'नाम'-पक्ष को उजागरित करते हैं ।

'भाव', अर्थात् 'क्रिया', एवं 'नाम', अर्थात् निर्मिति । 'क्रिया', वस्तुतः 'कारण'-पक्ष से सन्दर्भित है । इस तरह 'दर्शन' और 'साहित्य', दोनों ही, 'विचारणा' एवं 'प्रस्तुति' की तारतम्यता से जुड़े होते हैं । दृश्य का 'दर्शन' और 'दर्शित' का 'विवरण' ही विचार-संचार का साधन है ।

विचारों की निर्मिति जितनी अधिक वैज्ञानिकता लिये होती है, उतनी ही अधिक उसकी विश्वसनीयता बढ़ती है । उनकी इस विश्वसनीयता का माप-दण्ड, निश्चिततः, 'सार्व' का 'कल्याण' ही होता है । सर्व कल्याणकारी जीवन-दर्शन जब सर्वकल्याणकारी रूप में वर्णित, अर्थात् 'वाक्'-रूप में प्रस्तुत होकर आचारतः आचरित होता है, तब 'व्यक्ति', अर्थात् 'जीवन की व्यक्त इकाई', अपना और अपने साथ सबों का विश्वास, श्रद्धा और निष्ठा अर्जित करता है । स्पष्टतः विश्वसनीयता सर्वकल्याण की, और इस तरह, 'सत्य' की भी, कसौटी है । 'सत्य' अन्य कुछ नहीं, सहमत्यता और सर्व-कल्याण की पहचान है । उपनिषद् का भाष्यकार उसे 'भूमा संज्ञक सर्वातीत परमार्थ सत्य तत्त्व' कहता है ।[1] 'विज्ञान' ज्ञान की अनन्तता और विश्वसनीयता 'या सत्यता' को अपनी व्यापकता में समेटने का प्रयास करता है । और, इस तरह निश्चितता का विश्वास दिलाता है ।

उपनिषद का कथन है– 'जिस समय पुरुष सत्य को विशेषरूप से जानता है तभी वह सत्य बोलता है, बिना जाने सत्य नहीं बोलता ।''[2]

'सत्य को विशेष रूप से जानना' ही 'विज्ञान' है ।

उपर्युक्त कथन में 'विशेष रूप से जानना' परमार्थतः ही सम्भव है। 'परमार्थ' का 'बीज' स्वार्थ में ही निहित है। स्व-अर्थ की वैयक्तिक अनुभूति और उसका सामान्य या व्यापकता पर आरोपण परमार्थ को जन्म देता है। 'विज्ञान' व्यापकता का निरूपण करता है। फलतः 'स्वार्थ' का विस्तार 'परमार्थ' की ओर जाता है। मात्र 'स्वार्थ' के आधार पर 'विज्ञान' का निर्माण सम्भव नहीं। दूसरे शब्दों में मात्र स्वार्थ से 'ज्ञान' की 'विज्ञान'-रूप प्रस्तुति सम्भव नहीं। 'परमार्थ' में ही कल्याणकारी 'सत्य' को उजागर करने की क्षमता है। 'परमार्थ' ही लोक में विस्तार पाता है, स्वार्थ नहीं। 'स्वार्थ' तो, 'निजी' होने के कारण, अपने तक ही 'कुछ' सीमित रख छोड़ने की प्रवृत्ति का शिकार हो जाता है। फिर भला उसका विस्तार 'कैसे'? और 'कहाँ' हो सकता है ? किन्तु, इतने से 'स्व-अर्थ' का अवमूल्यन नहीं हो जाता। 'स्व' की अनुभूति से ही 'परम' की अनुभूति सम्भव होती है। 'परम' को जानने के लिए 'स्व' को जानना अनिवार्य है। यह सृष्टि वस्तुतः 'स्व' और 'परम' के बीच का सन्तुलन है। 'स्व' में 'परम' और 'परम' में 'स्व' को देखना-दिखाना ही आर्ष-विचारकों का लक्ष्य रहा है। 'परमार्थ' का निहितार्थ ही 'यथार्थ' या 'परम सत्य' है।

भारतीय आर्ष विचारणा में 'सत्य' एक है, निश्चित् है, नित्य है। और, वह परतम-रूप 'शक्ति' का द्योतक है। यह परतम-रूप 'शक्ति' अपनी परमार्थता के कारण ही सर्वत्र और सर्वव्याप्त है। यह कोई 'विचार' नहीं, जो देश-काल-परिस्थिति की बदलती जानकारी के अनुसार बदली जाती रहे।

आर्ष-विचारणा में सम्पूर्ण सृष्टि 'शक्ति-रूप' है– इसलिए वहाँ 'विज्ञान' की परिभाषा भी परमार्थिक है। वह 'ज्ञान', जो परमार्थ के दृष्टिकोण से जिज्ञासा-योग्य है, 'विज्ञान' है। और, वह अपने परतम रूप में नित्य, निश्चित् एवं सत्य है। यह कपोल-कल्पना नहीं, 'वस्तु'-सन्दर्भित है। 'शक्ति' अपने हर रूप में 'वस्तु'- सन्दर्भित ही रहती है।

उपनिषद् अपने कथन में 'विज्ञान' को मात्र 'शास्त्र-ज्ञान' तक सीमित नहीं रखता, वरन् वह उसे 'वास्तविक' ज्ञान तक ले जाता है। वह 'वस्तु' के मात्र वाह्य-रूप तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि 'वस्तु' की 'वास्तविकता', (material) और 'संरचनात्मकता' (structural) को जानने तक चला जाता है। विज्ञान वस्तुतः 'विजिज्ञासा', अर्थात् वास्तविक जिज्ञासा की देन है।

'वस्तु' के सरंचनात्मक-ज्ञान से ही 'वस्तु' की उपयोगिता का परमार्थिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है । वस्तुतः, यही एक विषय है, जो सम्पूर्ण आर्ष-वाङ्मय में सविस्तार वर्णित हुआ है । 'देव-असुर-मनुष्य' के त्रिक् की अवधारणा वहाँ अकारण नहीं । यह त्रिक्, वस्तुतः 'आकार' (बाह्य रूप) और 'वास्तविकता' के विभेद का परिचायक है । 'असुर' वस्तु की वास्तविकता को नहीं जानता, मात्र उसके बाह्य रूप से आकर्षित होकर रह जाता है । 'मनुष्य' वस्तु के बाह्य-रूप पर ही मोहित होकर नहीं रह जाता, वरन्, उसकी आन्तरिकता का भी विश्लेषण, अपने मनन द्वारा, करता हुआ उसके सभी व्यापक अवयवों को जान लेने का प्रयास करता है; और, उसकी उपयोगिता का निर्धारण करता हुआ उसके उपभोग का आनन्द भी उठाता है। वह अपनी मननशीलता में मात्र 'निज'-सा 'स्व' को ही स्थान देकर नहीं रह जाता । जिस आभ्यन्तरिक 'वास्तविकता' का रहस्योद्घाटन वह अपनी मननशीलता के आधार पर करता है उसे वह 'क्रियात्मक-शक्ति' के रूप में लेता तथा कार्य-शक्ति का 'कारण'-रूप मानता हुआ 'कार्यनिर्वाहक-शक्तियों' के रूप में परमार्थिक रूप देता है । आर्ष-विचारणा का 'शक्ति'-सन्दर्भित निष्कर्ष जिस विशुद्ध 'शक्ति' तक पहुँचा दीखता है, वह, आज की भौतिकी-रासायनिकी-जैविकी-मनोवैज्ञानिकी' के समन्वयन के बाद भी, नहीं जाना या समझा जा सका है । आर्ष-विचारणा की वे 'कार्य निर्वाहक' शक्तियाँ 'देव'-रूप हैं, कोई लोकोत्तर या भौतिकेतर वस्तु नहीं । आर्ष-विचारणा के ये 'देव'-रूप 'रहस्य' हो सकते हैं, 'कोरी या निराधार कल्पना' तो बिल्कुल नहीं । रहस्य का उद्घाटन अवश्यम्भावी है, असम्भव नहीं ।

आर्ष विचारक अपनी मननशीलता को जानता, और उसकी 'उपासना' करता है । 'उपासना' का अर्थ न ही आज की 'मन्दिरी'-पूजा है, और ना ही किसी मठाधीश के चरणों में बैठकर अर्द्ध-सत्य का जानना, वरन् वह ऐसा अथक चिन्तन और ध्यानन है, जिससे 'सत्य' स्वयं को अपनी पूर्णता में उजागरित कर देता है ।

'चिन्तन' वैचारिक क्रिया है । विचारों का निर्माण और उनकी विनष्टि वैयक्तिक ज्ञान के द्योतक बनते हैं । वैयक्तिक ज्ञान का वैषयिक क्षेत्र जितना ही विस्तृत होता है, चिन्तन में वैचारिक-सटीकता उतनी ही अधिक होती है। 'ध्यानन' में समाधिस्थ ऋषि अपने विचारों को कार्य-रूप देखता है । विचारों से बने उस कार्य-रूप की सफलता पूर्णतः उसकी 'परमार्थिक' उपयोगिता पर

निर्भर होती है । यह परमार्थिक उपयोगिता ही उसकी 'सत्-उपयोगिता' है । 'साधक' अपनी 'साधना' की सफलता को इसी 'साध्य' की प्राप्ति में देखता और आनन्द विभोर हो उठता है । इस आनन्द से वह अपने रोम-रोम तक को आह्लादित होता अनुभव करता है । उसका यह आह्लाद, उसकी यह खुशी, मात्र वैषयिक या ऐन्द्रियक नहीं होती, वरन् सर्वाङ्गीण होती है । इस 'सर्वाङ्गीणता या समन्विति को ही वह 'आत्मा' या 'आत्म-शक्ति' की संज्ञा देता है । इस तरह 'ऋषि' 'शक्ति' को जानता-समझता और पहचानता है। ऋषि 'शक्ति' के सभी व्यापारों को जानता है । पाश्चात्य-विचारणा को जिस सृष्टि की 'शक्ति-रूप' एकता पर आइन्स्टाइन के 'सापेक्षता-सन्दर्भित सिद्धान्त' के रहस्योद्घाटन के पश्चात् विश्वास हुआ है, उसे न जाने कब भारतीय 'ऋषि' ब्रह्म-शक्ति के रूप में उद्घाटित और उद्घोषित कर चुका दीखता है ।

'ऋषि' ने 'विचारणा' को भी 'वाक्' के रूप में ही देखा है, और 'कार्य' को भी 'वाक्' का ही रूप दिया हे । 'ऋषि' 'कारण-कार्य' का अध्येता है । वह 'कारण-कार्य' की एकता को पहचानता है । तभी तो वह हर 'रूप' को 'तत्-रूप' पाता है । वह 'क्रिया-शक्ति' को 'कार्य-शक्ति' में विकसित होते देखता है । 'विकास' की यह शृंखला उसे उस परतम तक ले जाती है, जहाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को वह एक-रूप, 'तत्-रूप', देखता है । और तब, वह उस 'तत्-रूप' को आभ्यन्तरिकता से उठाकर, परमार्थिक आधार पर, 'वास्तविक' रूप देता हुआ, 'सत्' की संज्ञा से विभूषित करता है । वह उसे 'अनबूझ' या 'अगम्य' नहीं मानता । वह 'सत्य' है, 'रिऐलिटि' (reality) है । वह 'वास्तविक' और क्रियात्मक है । वह सत्-असत् है । 'आत्मा'-रूप सर्वांगीणता उसके लिए 'असत्', अर्थात् 'क्रियात्मक' या 'भाव'-रूप है । 'असत्य' अथवा 'अस्तित्व विहीन' तो बिल्कुल नहीं है । 'ऋषि' 'सत्-असत्' का विशेषज्ञ है, विज्ञाता है । तभी तो वह कहता है— 'विजानन्नेव सत्यं वदति'[3], अर्थात् 'विशेष रूप से जाननेवाला ही सत्य का कथन करता है ।' उसका यह 'विशेष' वास्तविकता का द्योतक है ।

'सत-असत्' के विज्ञाता ऋषि के समक्ष कोई दुविधा नहीं । वह तो 'अनन्य-शक्ति' का उपासक है । यह 'एक' या 'अनन्य' शक्ति आज की 'भौतिकी' का एनर्जी (energy) है, जो 'मैटर' (matter) है ।[4] हाँ, इतना अवश्य है कि सत्-असत्'-रूप 'शक्ति' का विज्ञाता ऋषि अपने इस 'उपास्य' को जितना स्पष्ट देखता और समझता है उतनी समझ आज के

भौतिक वैज्ञानिकों में अभी तक नहीं आ पायी दीखती है । आज का वैज्ञानिक 'कार्य' या 'नाम' या 'सत्त्व' या 'सिद्ध क्रिया' को तो देखता है, और उस पर विश्वास भी करता है, किन्तु कुछ ही प्रत्यक्ष क्रियात्मक-शक्तियों को छोड़कर, 'विशुद्ध', 'निरपेक्ष' क्रियात्मक भौतिक-शक्ति पर न तो सोचना चाहता है और न ही उसे समझने या खोजने का प्रयास करता है । जहाँ तक हो सके उस विचारणा को तिरस्कृत करने से भी वह बाज नहीं आता । 'निरपेक्ष' भौतिक-शक्ति भौतिकतया भी अनपेक्षित नहीं ।

'सत्-असत्' की व्याख्या निरुक्तकार यास्क के द्वारा व्याख्यापित 'पद' के चार रूपों में से दो, अर्थात् 'आख्यात' और 'नाम', में देखने को मिलती है । यास्क कहते हैं–

'जिनमें भाव (क्रिया) प्रधान हो, वह 'आख्यात' तथा जिनमें सत्त्व (सिद्ध क्रिया) प्रधान हो वे नाम हैं । जब दोनों मिलते हैं, तब 'भाव' (क्रिया) की प्रधानता मानी जाती है । पूर्वापर के क्रम से होनेवाले भाव को 'आख्यात' नाम से पुकारते हैं....... । ठोस अर्थात् सिद्ध क्रिया (सत्त्व) के रूप में परिणत (भाव) को सत्त्व नाम से (पुकारते हैं)'[5]

यहाँ 'आख्यात' और 'नाम' पद-रूपों से स्पष्टतः 'क्रिया और कार्य' या 'कारण और कार्य' की स्थिति व्याख्यापित होती दीखती है । इसके साथ ही सम्पूर्ण सृष्टि-रचना का आदि स्रोत शक्ति (energy) का द्रव्य-रूप रूपान्तरण भी व्याख्यापित होने से नहीं बचता । इस एक विन्दु, अर्थात् एक क्रियात्मक-शक्ति का अनेक कार्य-शक्ति रूप में रूपान्तरण, को न देख पाने या न समझ पाने के कारण, बाद के साहित्य में 'जीवन' की सहजता को पूर्णतः असहज बना दिया गया प्रतीत होता है । आजीविका के संसाधनों की खोज, और वैयक्तिक महात्त्वकांक्षा की पूर्त्ति की अभिलाषाओं ने शुद्ध सर्वकल्याणात्मक आर्ष-विचारणा की उपलब्धियों को गौण ही नहीं किया, वरन् 'नर-बलि' जैसे कर्मकाण्डीय विकृति तक भी पहुँचा दिया । 'स्मृतियों' ने राज्य-सत्ता को शक्ति देने के क्रम में ऋषियों की दिव्य दृष्टि को खो दिया, और भविष्यमें होनेवाले सत्ताई दुरुपयोग की सम्भावना तक की अनदेखी कर दी । राज्य-सत्ता ने मात्र पक्षपात को ही जन्म नहीं दिया, वरन् वर्ण-कर्म या वर्ण-धर्म में निहित 'योग्यता (merit) पक्ष की अवहेलना करते एवं उसे जन्म से 'जाति' के रूप में बदलते हुए 'योग्यता-पक्ष' को 'सत्ता-बल' के, और इस तरह प्रकारान्तर से 'शरीर-बल' के हाथों त्रस्त रहने के लिए छोड़ दिया ।

ईशावास्य उपनिषद के 'ज्ञान और कर्म'-बल[6] के समन्वयन को भूल कर तथाकथित धार्मिक कर्मकाण्डियों ने न केवल 'ज्ञान-शक्ति' को गौण किया, वरन् 'कर्म-बल' को भी छीन कर उसे 'भाग्य' या 'होनी' या ईश्वरीय विधान 'नियति' के अधीन कर दिया। विचारकों ने 'ज्ञान' को अपने अज्ञानमय तर्कों में उलझा कर 'जीवन' को अज्ञानमय और निष्कर्ममय बनाने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। 'अहङ्कार' की रचनात्मकता 'अहम्' के घमण्ड में बदल दी गई। रचनात्मक कर्म-रूपी यज्ञ को निष्कर्मिय 'द्रव्य-दान' मान लिया गया। 'यज्ञः कर्मसु कौशलम', अर्थात् 'कर्म-कौशल्य' से हटाकर 'यज्ञ' को 'मनुष्यों के लिये भुक्ति और मुक्ति का साधन बना दिया गया।[7] इतना ही नहीं; व्यक्ति को निष्क्रियता की ओर धकेलने के लिए पूरे वर्ष-भर चलनेवाले 'यज्ञ' का प्रावधान करते हुए कहा गया–

'जो मनुष्य हिंसा से रहित, सत्यवादी होकर और निन्दाशून्य होकर बारह मास तक अग्नि में हवन करता है, वह सूर्य के सदृश अष्ट वसुओं के लोकों को प्राप्त करता है।[8]

इतना ही नहीं, देवता की पूजा के साधन, 'यज्ञ'[9] को यजमान और देवता के 'बीच' चलने वाले व्यापारिक क्रय-विक्रय का साधन भी बना दिया गया।[10]

'द्रव्य' की अनेक-रूपता के पीछे 'शक्ति' की 'एक-रूपता' के 'सत्य' का दर्शन आर्ष-विचारणा की सबसे बड़ी देन है। इस विज्ञता का वैज्ञानिक लाभ वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं ने समाज को मिलने नहीं दिया। यह वैज्ञानिक विचारणा ही थी जिसे आर्ष-विचारकों ने 'दिव्य-दृष्टि' का नाम दिया था। विचारणा के परिदृश्य में 'वाक्' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

स्फोट-दर्शन ने वाक् के चार रूपों का वर्णन किया है। ये चार रूप हैं– परावाक्, पश्यन्ती वाक्, मध्यमा वाक् और बैखरी वाक्। 'परा', 'पश्यन्ती' और 'मध्यमा' अपनी आभ्यन्तरिक स्थिति के कारण अस्फुट हैं। 'परा-वाक् साधक के लिए निर्विकल्प समाधि में तथा 'पश्यन्ती' सविकल्प समाधि में बोधगयम्य हो पाता है। अन्य किसी के लिए वह बोधगम्य नहीं माना गया है। 'मध्यमा' का स्थान 'हृदय' है, और इस 'हृदय' को ही संवेदनाओं को 'पढ़' या 'समझ' पाने की भी क्षमता प्राप्त है। 'कण्ठ' और 'ओठ' से बाहर निकला स्फुट-वाक् 'बैखरी' नाम से जाना जाता है।[11] 'बैखरी' मात्र उच्चरित वाक् है। इसकी बोध-गम्यता हृदयस्थ 'मध्यमा' में

ही सम्भव हो पाती है । यही कारण है कि 'शब्द' का उत्स जहाँ हृदय से आगे नहीं बढ़ता, वहाँ 'आत्मा' द्रष्टृत्व से नीचे नहीं उतरती ।

आज जब हम जानते हैं कि सम्पूर्ण सृष्टि शक्ति-रूप ही है, तब हमें यह मानने में कोई कठिनाई नहीं हो रही कि सृष्टि का हर अवयव, अपने व्यष्टि या समष्टि-रूप में 'शक्ति', मात्र शक्ति-रूप, ही है । उसके क्रिया-कलाप और परिणाम, सब कुछ, 'शक्ति-रूप' ही हैं । 'शक्ति' चाहे 'द्रव्य' रूप हो, या 'कार्य-निर्वाहक' शक्ति-रूप, वह शक्ति ही है । 'शक्ति' की अनेक-रूपता भौतिकी नियमों पर ही आधारित है'- यह मानने में भी कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए । भौतिकी का विषय ही ऊर्जा है । फिर, जीवन स्वयं भी 'द्रव्य' और 'शक्ति' का क्रियात्मक रूप ही सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में उसकी 'चेतना' भी भौतिक 'शक्ति' का ही एक क्रियात्मक-रूप सिद्ध होती है । जैविकी अपनी व्याख्याओं में इसे सिद्ध भी करती है । इस तरह, 'जीवन' स्वयं भी भौतिक नियमों से 'अलग-नहीं', यही सिद्ध होता है।

'वस्तु' का 'अनन्त गुण' या 'अनन्त धर्म' 'शक्ति की अनन्त क्रियात्मकता' का पर्याय है ।

'वस्तु' वस्तुतः अपनी क्रियात्मकता में अनन्त-रूप है । 'क्रिया' का अन्त 'सत्त्व' को जन्म देता है । दूसरे शब्दों में 'क्रिया' का 'परिणाम' उसकी 'सिद्धि' में प्रदर्शित होता है; और क्रिया ही अपने 'सिद्ध-रूप' में 'सत्त्व' कहलाता है । 'क्रिया' का यह रूप, अर्थात् 'सिद्ध क्रिया', अपनी व्यवस्था में 'क्रिया'-शक्ति से चाहे कितना भी अलग दीख पड़े, शक्ति-रूप ही होता है । इस अवस्था में वह मात्र 'कार्य'-रूप ही नहीं रहता, क्योंकि वह 'क्रिया'-शक्ति से किसी भी पल अलग नहीं होता । किसी दूसरे 'कार्य' के लिए वह 'कारण'-शक्ति के रूप में 'क्रियात्मक' तो बना ही रहता है। इसे ही आर्ष विचारक 'कारण-कार्य' की समन्विति और शृंखला मानते हैं। 'कारण' और 'कार्य' को अलग-अलग अस्तित्व मानते हुए भी, जबकि ऐसा है नहीं, आर्ष विचारक अगर 'आदि-कारण' को, 'अनवस्था-दोष'- निवृत्ति के लिए ही सही, 'कार्य' में ही सन्निहित मानते एवं 'स्वयम्भू' कहते हैं, तो वे गलत नहीं ।

'स्वयम्भू', 'ब्रह्म', 'ईश्वर', 'आत्मा', 'परमात्मा' आदि सभी शब्द, पद या प्रत्यय एकमात्र 'शक्ति' के ही प्रतीक हैं । 'शब्द' प्रतीक होते हैं । अब, आप अपने समय-देश-परिस्थिति और प्रचलित शब्दों के अर्थ या

पर्याय का व्यवहार 'शक्ति' के किस रूप के लिये, कैसे करते हैं, कोई अर्थ नहीं रखता। 'शक्ति' का शक्ति-रूप तो वहाँ अस्तित्ववान् रहता ही है। आवश्यकता इस बात की होती है कि आप उन शब्दों का व्यवहार निश्चितता से करें।

वस्तुतः हमारा कोई भी अध्ययन 'जीवन' और 'जीवन के निवास' से अलग नहीं जा पाता। आज 'दिक्-काल' को 'एक' पहचान दी गई है। दोनों ही शक्ति के एक ही वितान के दो रूप हैं; 'एक, जहाँ 'घटना' के स्थान को निर्धारित कर रहा होता है, वहीं, उसी पल वह दो घटनाओं के बीच के अन्तराल पर भी प्रकाश डाल रहा होता है। घटना, एवं उस घटना के 'घटन' का स्थान और समय एक ही हो सकता है, भिन्न नहीं। वे एक ही 'विमा' (dimension) के अङ्ग हो सकते हैं, भिन्न या विभिन्न के नहीं।

'एक' को 'अनेक' में देखना 'मस्तिष्क' की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति है। 'वह' सम्पूर्ण को उसकी सम्पूर्णता में न तो एक समय में देख सकता है और न समझ ही सकता है। उसकी दृष्टि एक-विमिय दिक्-काल में अवलोकन के लिए अनुकूलित (adapted) है। जब कि स्वयं एक-विमिय 'दिक्-काल' त्रिविमिय 'वस्तु' की उपज है। इस तरह यह सृष्टि, जिसे व्यक्ति का 'मस्तिष्क' ग्रहण करता और जिसका ज्ञान व्यक्ति को कराता है, चतुर्विमिय (four-dimensional) कहा गया है। यही कारण है कि दिक-काल की एक-विमियता में मस्तिष्क त्रिविमिय-वस्तु के एक पक्ष को ही देख और समझ पाता है, अन्य दो पक्षों को वह देख नहीं पाता। समझ पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उस वस्तु को समझने के लिए वह उसे उलट-पुलट कर, अर्थात् अपनी विचारणा में उसे पूर्णतः देखने का प्रयास करता है।

फिर, 'वस्तु' की त्रिविमियता वस्तु को सपाट-सी मात्र आकृति-मूलक (morphological) भी नहीं रहने देती। वस्तु की त्रिविमियता उसकी आभ्यन्तरिकता को जन्म देती है, और उसका वह आभ्यन्तरिक खोखला नहीं होता। उसकी वह आभ्यन्तरिकता, जो खोखली जगह और उसमें भरे वस्तु के आभ्यन्तरिक अवयव दीख पड़ते हैं, वस्तुतः अपने निर्माण-काल में वैसी नहीं होती। वह तो 'एक' और पूर्णतः 'एक' होती है। वहाँ कोई खोखलापन नहीं होता। त्रिविमियता का आभ्यन्तरिक खोखलापन उसके विकास-क्रम में अन्य अवयवों के निर्माण और सामञ्जस्य के लिए बनता है। यह एक जैविकीय सत्य से समझा जा सकता है।

प्राणी के जीवन-चक्र में एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें नया प्राणी अपना जीवन-चक्र शुक्राणु (sperm) और अण्डाणु (ovum) के निषेचन से प्रारम्भ करता है। निषेचित अण्डाणु युग्मनज (zygote) कहलाता है। इस 'युग्मनज' का विकास 'मलवरी' (mulberry सहतूत) की आकृति तक जब पहुँचता है तब तक वह पूर्णतः कोशिकाओं से भरा एक पिण्ड होता है। उसका आभ्यन्तर खाली नहीं होता, कोशिकाओं से भरा होता है। उसे हम कोशिकाओं से बना एक ठोस गेंद कह सकते हैं। 'मलबरी' की आकृति के कारण 'युग्मनज' (zygote) के इस विकास-स्तरीय रूप को 'मोरूला' (morula) कहते हैं। इसके बाद के विकास में कोशिकाओं के बीच तरल पदार्थ का जमाव और भ्रूण के अगले विकास में 'ब्लास्टोसील' (Blastocoel), तरल पदार्थ से भरी जगह, का निर्माण होता है। इसी बीच 'योक सैक' (Yolk Sac) और 'एम्नियोटिक कैभिटी' (Amniotic Cavity) का भी निर्माण होता है।

जैविकी का यह अध्ययन हमें आकाशीय पिण्ड को समझने का अवसर देता है। दिक्-काल अलग से बना वह अस्तित्व नहीं, जिसमें सौर-मण्डलों अथवा आकाश-गङ्गाओं को भरा गया हो। यह तो भौतिकीय प्रक्रियाओं में बना शक्ति-क्षेत्र है। 'ज्ञान' की अनन्तता और वैयक्तिक जीवन की ससीमता एवं सान्तता के कारण व्यक्ति सामान्यतः अज्ञानमय जीवन ही व्यतीत करता है। इसका लाभ महत्त्वाकांक्षी विशेषज्ञों, या जानकारों या अज्ञानियों के द्वारा अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उठाया जाता रहा देखा गया है। वे वास्तविक स्थिति को या तो जानते नहीं, अगर जानते भी हैं तो अपने लाभ या अन्यों के दबाब के कारण, वस्तु-स्थिति को रहस्यमय ही बने रहने देते हैं। वे, जो साहसी हैं, आगे बढ़कर वस्तु-स्थिति का खुलासा करते हैं। वे ही क्रान्तिकारी होते हैं। वे ही 'झूठ के शिकारी' (Lie hunter) होते हैं।

यहाँ हमें दो स्थितियों का विकास दीख पड़ता है। पहली स्थिति है— आवश्यकता और अनावश्यकता की। 'आवश्यकता' हमें अधिक जानने और करने की ओर प्रवृत्त करती है, और 'अनावश्यकता' हमें उस ओर से निष्क्रिय कर देती है। 'आवश्यकता' आविष्कार, और इस तरह, सभ्यता को जन्म देती है, जो तेज गति से आगे बढ़ती चली जाती है। 'अनावश्यकता' अपनी जगह पर हमें रहने को मजबूर कर देती है। हम निष्क्रिय-से बने,

परम्परागत रूप से, चलते चले जाते रहते हैं । यह 'संस्कृति' को जन्म देती है । यही कारण है कि 'सभ्यता' और 'संस्कृति' की विकास-गति में कोई तुलना नहीं दीख पड़ती । 'सभ्यता' जहाँ अपने विकास पर इतराती है, वहाँ वह 'संस्कृति' के पिछड़ेपन का मजाक उड़ाने से भी पीछे नहीं हटती ।

दूसरी स्थिति है– 'दृष्टि-कोण' की । 'दृष्टिकोण', 'दृश्य' के 'दिक्-काल' और 'वैयक्तिक परिस्थिति' को समेट कर चलता है । फलतः यह प्रत्यक्ष से अधिक वैयक्तिक आनुमानिक चिन्तन पर आश्रित होता है । यह उसकी मजबूरी है । ज्ञान की अनन्तता जितना वैयक्तिक ससीमता और सान्तता पर आधारित है, उससे अधिक 'दृष्टिकोण' की अनन्तता पर निर्भर है । एक-विमियता में रहने-देखने की अनुकूलता हमारे दृष्टिकोण को एक-पक्षीय बना देती है, और हम चाहकर भी अपने को अपनी आनुमानिक दुनियाँ से निकाल नहीं पाते । हमारी 'आत्मगत गुणवाचकता (subjective connotation) हमें अपनी सीमित वैयक्तिक जानकारी या दृष्टिकोण से अधिक दूर जाने नहीं देती, और हमारा अनुमान हमारी अपनी उस जानकारी से हमें अधिक आगे बढ़ने नहीं देता । फिर, हमारे संस्कार, जो परम्परा की देन होते हैं, रूढ़ियों से हमें अलग नहीं होने देते । 'संस्कार' हमें रूढ़िग्रस्त रहने को मजबूर करते हैं । संस्कारजनित रूढ़िग्रस्तता जहाँ हमें उसकी अवहेलना से रोकती है, वहाँ औरों के द्वारा हम पर उसकी अवहेलना के लिए दबाव दिया जाना भी हमें क्रुद्ध और हिंसक बना जाता है ।

इस तरह, 'अनन्त धर्मकं' वस्तु का पूर्ण ज्ञान व्यक्ति के लिए जहाँ असम्भव हो जाता है, वहाँ उसकी आत्मगत गुणवाचकता' (Subjective connotation) उसके ज्ञान को न्यूनतम स्तर पर ही रखे रखती है । इन दो अतियों के बीच, गुणवाचकता का रास्ता, 'निर्धारण' का विषय बन जाता है। 'निर्धारण' में निश्चिततः 'परम्परा', और 'तर्क' दोनों को स्वतः प्रमुख स्थान प्राप्त हो जाता है । 'परम्परा', 'तर्क' और 'प्रयोग' पर निर्धारित यह मार्ग निश्चिततः प्रशस्त होता है, किन्तु परम्परा और तर्क की भूलों से वंचित नहीं रह पाता । यही कारण है कि एक वैज्ञानिक[12] भी कभी-कभी स्वयं अपनी, वैज्ञानिक अवधारणाओं पर विश्वास नहीं कर पाता या उससे मुकरने को तैयार हो जाता है।

परम्परा 'धार्मिकता' का रूप ले लेती है, और 'धार्मिकता' कट्टरता का । यहाँ 'बौद्धिकता' (rationality) भी अन्ध-भक्ति, अन्धविश्वास और

निष्ठा (faith) का रूप ले लेती है । वस्तुतः 'बौद्धिकता' भौतिकता से अलग नहीं। 'मन' (mind) पूर्णतः 'भौतिक' (material) है । समस्या यह है कि इस भौतिक संसार में एक 'भौतिक' को अपनी ही 'भौतिकता' का अध्ययन करना होता है, और अध्येता 'भौतिक' अपनी ही भौतिकता को पहचान नहीं रहा होता है ।[13] चिराग तले अँधेरा' की कहावत यहाँ स्पष्टतः चरितार्थ हो रही होती है ।

यहाँ यह कहते मुझे कोई दिक्कत महसूस नहीं हो रही कि वेद-उपनिषदों की विचारणा में ईश्वरीयता या ब्रह्म-परकता को भौतिकता से अलग स्थान कतई नहीं दिया गया है । साहित्यिक सौन्दर्य के आवरण के पीछे सत्य की खोज भले ही परिश्रम-साध्य हो, असम्भव तो बिल्कुल नहीं है । अगर मैं अपने विवेक को टटोलूँ और उस विवेक की वैज्ञानिकता का दामन न छोड़ूँ तो मैं वेदों-उपनिषदों के वैज्ञानिक संदेशों को कुछ मामलों में आज की भौतिकी की मूल अवधारणाओं से भी अधिक स्पष्ट और व्याख्यात्मक पाती हूँ । 'ईश्वरीय-शक्ति' या 'ब्रह्म-शक्ति' आज की 'शक्ति' (energy) के ही परिष्कृत रूप हैं । 'देवगण', चाहे वे मात्र 'तीन' हों अथवा 'तैंतीस करोड़', वस्तु की 'क्रियात्मक' या 'कार्यनिर्वाहक' शक्तियों' का ही निरूपण करते हैं ।

मूलतः आर्ष-विचारक 'जीवन' के सर्वांगीण रूप के अध्येता हैं । उन्होंने 'जीवन' को 'सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड' के परिप्रेक्ष्य में देखा है । 'जीवन', 'इहलोक' और 'परलोक'- ये तीन मुख्य अङ्ग है सृष्टि के । 'जीवन' के अन्तर्गत् सभी 'भूत' या भौतिक पदार्थ सन्निहित होते हैं; 'इहलोक' वह लोक है जिसमें 'भूत' निवासित हैं; और 'पर-लोक', जो इहलोक से परे, प्रत्यक्ष नहीं किया हुआ, लोक है । 'लोक' है, इसलिए कोई भी लोक, 'लोक' या 'भूत' से रिक्त नहीं है- यह स्वयम् सिद्ध है ।

वस्तुतः 'लोक' चतुर्विमिय (four-dimensional) है । 'दिक्-काल' सहित वास्तविक तीन आयाम, कुल चार आयाम, उनकी स्थिति को निर्धारित करते हैं । एक से तीन विमाओं में 'धारणा' और 'आवेष्ठन' सम्भव नहीं । स्पष्ट है कि लोक बाह्य और आभ्यन्तर हिस्सों के समन्वय से निर्मित एक समन्विति है । 'समन्वय' एक-रूपता की तथ्यात्मकता में होती है । स्पष्ट है कि 'लोक' का बाह्यांश और आभ्यन्तरांश समन्वित है, भिन्न नहीं और, सभी शक्ति-रूप ही हैं ।

'लोक' है, तो व्याख्या भी होनी है । 'लोक' है तो वह दृष्ट भी है। 'दृष्ट' की व्याख्या, 'दृष्ट' नहीं हो सकती । 'दृष्टि' है तो वह 'रूपात्मक' है । 'रूपात्मक' है, तो सगुणात्मक है । 'गुण' ही वस्तुतः 'रूप' की व्याख्या है, और 'गुण' रूपात्मक या वास्तविक नहीं होता । वह 'रूप' के साथ समवाय रहता है । स्पष्ट है कि 'गुण' की व्याख्या 'रूप' से नहीं हो सकती, और न ही 'रूप' की व्याख्या 'गुण' की चुप्पी से सिद्ध हो सकती है । 'गुण' बोल नहीं सकता । स्पष्ट है कि 'रूप-गुण'- युक्त वस्तु अपनी व्याख्या स्वयं नहीं कर सकती । उसके लिए 'वाक्' की आवश्यकता होती है ।

'वस्तु' की उपयोगिता उसके गुण में निहित है । 'गुण' की जानकारी न होने पर उसकी उपयोगिता बेकार चली जाती है । कहते हैं- वेद के 'असुर' या 'पणि' या 'दस्यु' मनुष्य से, या देवों से उनकी सुन्दर और उपयोगी वस्तुएँ छीन तो लेते हैं, किन्तु उनकी उपयोगिता, अर्थात् उनके गुणों को न जानने की दशा में उन्हें निरर्थक ही कहीं भी पड़ा रहने देते हैं । न तो उसकी सुरक्षा करते हैं और न ही उसका उपयोग ।

'गुण' की ही उपयोगिता है, और उपयोगिता से ही वस्तु का मूल्य है। 'मूल्य' या 'उपयोगिता' निर्भर है उपयोगिता की जानकारी पर । उपयोगिता की व्याख्या ही 'रूप' का 'नाम' है, जो 'वाक्' का निरूपक है । इस तरह 'रूप' नाम के बिना अव्याख्यापित रहता है और 'नाम' रूप के अभाव में अस्तित्व विहीन ।

'रूप' और 'नाम', अर्थात् 'मूर्त और अमूर्त' का समन्वय ही सृष्टि है। सृष्टि शक्ति-रूप है । रूप या 'मूर्त' सगुण-शक्ति और 'नाम' या 'अमूर्त' निर्गुण शक्ति । स्पष्ट है कि 'नाम' या 'अमूर्त' क्रियात्मक शक्ति का निरूपक है । अपनी क्रियात्मकता से ही 'गुण' व्याख्यापित या प्रदर्शित होते हैं।

'रूप' इन्द्रियात्मक है और 'नाम' क्रियापरक । इन्द्रियों के विषय होने की अपेक्षा से 'सत्' का और इन्द्रियों के विषय न होने की अपेक्षा से 'त्यत्' का अस्तित्व कहा गया है ।[14] 'सत्' विद्यमानता का बोधक है । विद्यमानता' या 'वर्त्तमानता', अर्थात् 'वास्तविकता' । इस तरह यह 'सगुणता' का बोधक है। 'त्यत्', अर्थात् 'ति + अत्' । 'ति' का अर्थ है 'तद्' या 'त' । 'तद्' की व्युत्पत्ति 'तन्' धातु-शब्द से हुई है, जिसका अर्थ होता है 'फैलना' । 'तद्' या 'ति' का अर्थ होता है- 'वह' । यहाँ 'वह' से उस वस्तु का बोध होता है, जो

वहाँ विद्यमान नहीं होता । फिर, अत्-शब्द का अर्थ 'जाना', 'चलना', 'घूमना', 'बाँधना', 'लगातार चलते रहना' आदि होता है । ये सभी क्रिया-परक हैं । इस तरह 'त्यत्' शब्द का स्पष्ट अर्थ है- 'वह' जो क्रियात्मक है'; वह, जो अप्रत्यक्ष है । उसकी उपस्थिति क्रियात्मक रूप में ही देखी जा सकती है। वह निर्गुण है, अर्थात् वह 'सत्त्व' नहीं, 'भाव' परक है ।

नाम-रूप में समन्वित उस 'वह' की निर्गुणता और सगुणता दोनों है, जो स्वयमेव क्रियापरक और कार्यपरक-शक्ति का बोधक है । इन्हीं शक्तियों को क्रमशः 'निर्गुण ब्रह्म' और 'सगुण ब्रह्म' के नाम से संज्ञापित किया गया है।

'क्रियात्मकता' का निरूपण आर्ष-विचारकों ने स्पष्टतः 'चेतना' या 'चेतन' शब्द से किया है । 'चेतन' वस्तुतः 'शक्ति' का ही एक रूप है । इसे हम 'चालक शक्ति' (Driving force) या प्रेरक शक्ति (motive force) कह सकते हैं । यह भौतिकेतर नहीं, क्योंकि अभौतिकीय में गमनात्मकता अथवा क्रियात्मकता का सर्वथा अभाव होता है ।

आज हम जानते हैं कि 'अणु' के अवयव, परमाणु, भी टूटते हैं और अपार शक्ति का सृजन करने की क्षमता रखते हैं । इन परमाणुओं के भी सूक्ष्म अवयव होते हैं । इनकी सूक्ष्मता में और भी अधिक शक्ति होती है। 'परमाणु' के अवयवों, न्यूटॉन, प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन का अपना अस्तित्व है, इनकी अपनी शक्तियाँ है । 'एलेक्ट्रॉन' की गत्यात्मकता की अपनी वैद्युतिक शक्ति है । इसी तरह रेडियोधर्मी तत्त्वों की रेडियो-धार्मिता उनकी अपनी भौतिकीय क्षमता है । स्पष्ट है कि 'शक्ति-रूप' सृष्टि में उस का एक भी अवयव क्रियाविहीन-शक्ति नहीं है । 'सूक्ष्मता' अभौतिकता का परिचायक नहीं, और न क्रियात्मकता ही अभौतिकीय शक्ति का परिचायक है । 'शक्ति' 'प्रतनु द्रव्य' (tiny matter) है । इस तरह वह पूर्णतः भौतिक (material) है । इसकी व्याख्या 'आत्मसातत्व (annihillation) सिद्धान्त से भी होता है।

परमाणु के अवयवों, जिन्हें मौलिक (Elementary) 'कणों' (Particles) की संज्ञा दी गई है, उनके भी प्रतिकण पाये गये हैं । ये प्रतिकण जब अपने कण के सम्पर्क में आते हैं, तब एक दूसरे को आत्मसात करते हुए एक दूसरे में आत्मसातित तो हो जाते हैं, किन्तु वहाँ भी शक्ति का ही सृजन होता है ।[15] शक्ति विनष्ट नहीं होती । वहाँ विकिरण-शक्ति अपने दो रूपों में दो विपरीत दिशाओं की ओर चली जाती हैं ।

स्पष्ट है कि द्रव्य अपनी सूक्ष्मतम स्थिति में भी 'शक्ति (energy) का ही संचयन' (storage) होता है ।

वेद और उपनिषदों के साथ सम्पूर्ण आर्ष-वाङ्मय प्रायः 'शक्ति' की ही व्याख्या करते नजर आते हैं । उस शक्ति का 'नाम' या संज्ञा कुछ भी हो कोई अन्तर नहीं पड़ता । वह मन, चित्त, बुद्धि आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म या परब्रह्म ही क्यों न हो, उससे क्रियात्मक और निर्गुण शक्ति (त्यत्) का ही निरूपण होता है । कार्य-शक्ति का निरूपण 'सत्' या 'द्रव्य-रूप' शक्ति, अर्थात् सगुण-रूप शक्ति से होता हैं ।

पण्डित रङ्गनाथ पाठक ने अपनी कृति स्फोट-दर्शन में 'शारदा तिलक' से लिए उद्धरण के सन्दर्भ से लिखा है–

"सनातन शिव के दो रूप बताये गये हैं– एक निर्गुण, दूसरा सगुण। प्रकृति से असम्बद्ध परमात्मा को निर्गुण और प्रकृति से सम्बद्ध को सगुण कहा गया है ।"[16] 'शिव' वस्तुतः 'शक्त' और 'शक्ति', दोनों के अर्थात् 'शक्तिमान' के निरूपक और सर्वकल्याण के प्रतीक हैं ।

'शिव' शब्द की निष्पत्ति 'शो-वन्' के रूप में हुई कही गई है । 'शो' या 'शि' का अर्थ है– पतला या कृश करना, तेज करना, पैनाना । 'श्यति पापम्', अर्थात् पाप को क्षीण करता है । 'शिव' शब्द का अर्थ है 'शुभ । मङ्गल । 'शिव' शुभ क्रियात्मक शक्ति का प्रतीक है । यह पूर्णत्व का प्रतीक है ।

'शिव' में इ-कार गत्यात्मक शक्ति का बोधक है । 'इ', अर्थात् शक्ति। इ-कार के अभाव में 'शिव' स्वयं शव में परिणत हो जाता है । स्पष्ट है कि 'शक्ति' और 'शरीर' एक दूसरे से अभिन्न हैं । दोनों ही शक्ति के रूप जो हैं! कहा है– "शक्त्या विरहितः शक्तः शिवः कर्त्तुं न किञ्चन" ।

अर्थात्, "शक्ति से रहित शिव भी कुछ करने में समर्थ नहीं ।"

वस्तुतः 'नाम-रूप' की यह अवधारणा सामान्य जनों को समझाने की विश्लेषणात्मक विधि है, जिसमें 'कारण और कार्य' अथवा 'शक्ति और शक्तिमान्' को, अथवा 'गुण और वस्तु' को अलग करके उन्हें मात्र सैद्धान्तिक रूप में देखा और समझा जाता है ।

'शक्ति' नारी-रूप कही गई है और 'पुरुष' आश्रय-रूप । 'अर्द्धनारीश्वर'

में 'शिव' का यह रूप 'पूर्णत्व' का प्रतीक है, क्योंकि शक्ति की 'दिव्यता' या 'ओज' के बिना 'देव' या 'देवता' का अस्तित्व ही सम्भव नहीं। 'शक्ति' देवी-स्वरूपा है। कहा है–

'सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा।
सर्वमन्त्रमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः ॥'[17]

'देवी' शब्द की निष्पत्ति 'दीव्यति इति देवि' के अर्थ में हुई कही गई है। स्पष्टतया 'देवी' शब्द का अर्थ 'प्रकाशमय तेजः रूप' है। देवताओं का तेज वस्तुतः इसी 'देवी'-रूप शक्ति के कारण है। इस तरह 'शिव' भी 'शिवा' के अभाव में तेजोमय नहीं रह जाते हैं। 'सती' की मृत्यु के बाद 'शिव' की विक्षिप्ति और सती के शव के रूप में स्वयं के शव को अपने ही कन्धे पर ढोते विक्षिप्त शिव अपने कर्त्तव्य को भूल-से गये होते हैं।

वस्तुतः आर्षेय आख्यानों में देवताओं को सतेज दिखाना 'शक्ति' की सत्ता का ही प्रदर्शन है। 'शिव-शक्ति' सती या पार्वती हैं; 'विष्णु-शक्ति' लक्ष्मी; 'ब्रह्मा-शक्ति' सरस्वती; 'इन्द्र-शक्ति' शची हैं। इसी तरह हर देवता की शक्ति उनकी सहजीवनी अर्द्धाङ्गिनी ही है। 'अर्द्धाङ्गिनी की स्थिति ही शिव के 'अर्द्धनारीश्वर' रूप में अभिव्यक्त है।

'नारी' शब्द 'नर' की शक्ति का निरूपक है। 'नर'[18] शब्द की व्युत्पत्ति 'नृ' धातु-शब्द से है। 'नृ' का अर्थ 'नय' है। 'नय' शब्द की व्युत्पत्ति 'नी' धातु-शब्द से है, और 'नी' धातु-शब्द का अर्थ है 'ले जाना'। 'नय' शब्द का उसके विशेषण-रूप में अर्थ है– बुद्धिमत्ता, सदाचरण। स्पष्टतः 'नय' शब्द 'क्रियात्मक' या 'गत्यात्मक'-शक्ति का निरूपक है। 'नृ' शब्द में नर या नारी का अभेद रखा गया है।

'नारी' शब्द का एक अर्थ है– 'तीन गुरु वर्णों की एक वृत्ति'। यह 'वृत्ति' वस्तुतः 'समवृत्त' का त्र्यक्षरावृत्ति रूप है। 'वृत्त'[19] भी वस्तुतः 'पद्य' का पर्याय या रूप है, जो स्वयं 'श्लोक' का रूप है। एक श्लोक में चार पाद या चरण होते हैं। चारों पादों या चरणों के संयोग से पद्य का निर्माण होता है। कहा है– 'पदेन संयोगात पद्यम्'। 'वृत्त' में 'अक्षरों' की गणना होती है। पद्य का दूसरा रूप है 'जाति'। इसमें मात्राओं की गिनती की जाती है। 'वृत्त' के तीन रूप कहे गये हैं– 'सम', 'अर्धसम' और 'विषम'। 'नारी' समवृत्त का त्र्यक्षरावृत्ति 'मध्या' रूप है। इसका दूसरा रूप है–

'मृगी'। इसमें आदि और अन्त्य के वर्ण 'गुरु' तथा मध्य वर्ण 'लघु' होते हैं। जिस मध्या में आदि, मध्य और अन्त्य वर्ण 'गुरु' ही होते हैं उसे 'नारी' नामक 'वृत्त' कहते हैं।

'वृत्त-गण' तीन-तीन वर्णों या अक्षरों के होते हैं। अगर तीनों वर्ण 'गुरु' हों तो वह 'मगण' कहलाता है। 'नारी'-त्र्यक्षरावृत्ति में 'मगण' का सन्निवेश है।

'मगण' का संक्षिप्त रूप 'म'[20] अक्षर से निरूपित होता है। वर्णों में 'म' निरूपक कहा गया है 'शिव', 'ब्रह्म', 'विष्णु', 'चन्द्रमा', 'यम', 'समय', 'विष', आदि का। संगीत में यह 'मध्यम स्वर' का परिचायक है। स्पष्ट है कि 'म' वर्ण के माध्यम से 'नारी'-शब्द 'शक्ति' का पर्याय माना गया है।

'वर्ण' या 'अक्षर' स्वयं नित्य शक्ति-रूप हैं। स्फोट-दर्शन में श्री पाठक ने वर्णों की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में लिखा है–

"मूलाधार में रहनेवाली जो परा नाम की वाक् शक्ति है, वही प्राणवायु की सहायता से उसके साथ ही उठती हुई त्रिषष्टि (63-तिरसठ) वर्णों को उत्पन्न करती है। उनमें प्रथम उत्पन्न, अर्थात् नाभिदेश में अभिव्यक्त होने पर 'पश्यन्ती' और हृदय-देश में अभिव्यक्त होने पर 'मध्यमा' पद का वाच्य होती है। वही जब मुख में आकर दूसरों के श्रवण का विषय होती है, तब 'वैखरी' कही जाती है।"[21]

इसी सन्दर्भ में श्री पाठक ने आचार्यो द्वारा 'मनुष्य-शरीर में छः चक्रों की उपस्थिति की कल्पना की चर्चा की है। वे छः चक्र हैं– मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।'[22]

'चक्र' शब्द शक्ति-बोधक है। यह गत्यात्मक और समुच्चयात्मक शक्ति का बोधक है। स्पष्ट है कि 'शक्ति' को ही केन्द्र मानकर आर्ष-विचारकों ने सृष्टि की व्याख्या की है। 'रूप' और 'नाम' एक ही शक्ति के दो विश्लेषित-रूप हैं, जो परस्पर अभिन्न हैं। स्पष्ट है कि आर्ष-अवधारणा की 'शक्ति' चेतन है। 'शक्ति' की 'चेतना' में शक्ति की 'क्रियात्मता' निरूपित होती है।

'नाम-रूप' के विश्लेषित रूप में 'शक्ति' की व्याख्या-मात्र ही आगे बढ़ती है। ऐसा मात्र उपाधि-भेद के कारण होता है। जिस प्रकार एक ही 'आत्मा' उपाधि के भेद के कारण अपने को कर्ता, कर्म, करण, क्रिया, कार्य

आदि के रूप में निरूपित करती है,[23] उसी प्रकार 'शक्ति' भी उपाधि भेद के कारण ही उन्हीं रूपों में अपने को व्यक्त करती है। वेद इसे ही स्पष्टतः प्रस्तुत करते है–

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो मरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातारिश्वानमाहुः ॥"[24]

अर्थात्, 'वाणी चार प्रकार की है। विद्वान उसके ज्ञाता हैं। उसके तीन पद अज्ञात हैं, और चौथे पद को मनुष्य बोलते हैं। उसे इन्द्र, मित्र या वरुण कहते हैं। वही आकाश में सूर्य है। वही अग्नि, यम और मातारिश्वा है। मेधावी जन एक ब्रह्म का अनेक रूप में वर्णन करते हैं"।

सृष्टि अपनी परतम (Summum) संश्लेषणात्मक स्थिति में 'एक मात्र शक्ति-स्वरूप' है, और अपनी अपरतम विश्लेषणात्मक स्थिति में 'अनेक'। 'एक से अनेक' की स्थिति, वस्तुतः विकास की कहानी में छिपी है। 'एक' से 'दो', 'दो' से 'चार'...... यही स्थिति विकास की होती है। ऐसी ही क्रमिकता में सृष्टि के अवयव-तत्त्वों की व्याख्या भी होती है।

'शरीर' और 'मन' वैयक्तिक-जीवन की पहली सच्चाई हैं, जिन्हें हर विचारक देखता है। दोनों ही अन्योन्याश्रयी हैं, और दोनों ही अपनी क्रियात्मकता में प्रत्यक्षतः अलग दीखते हैं। किन्तु, अपनी समन्विति में दोनों ही 'जीवन' के अस्तित्व के कारण भी हैं। 'शरीर' कार्य का साधन है, तो मन उस कार्य के लिए अपेक्षित मनोमयता या मननशीलता या व्याख्यात्मकता का। 'शरीर' स्थूल है, तो मन सूक्ष्म। शरीर अपनी स्थूलता में ससीम है, और कर्म में वाह्य वातावरण से सम्पर्कित तथा उसकी उत्तेजनाओं का ग्राहक-तन्त्र है। मन अपनी सूक्ष्मता में व्यापक है, और कर्म में शरीर गृहीत उत्तेजनाओं की व्याख्या का साधन।

वाह्यतः सृष्टि के सारे अवयव शरीर प्रधान हैं, और उनकी व्याख्या 'मनः मन' या 'मनः शरीर' करता है। 'मनः मन' की व्याख्या प्रतिक्रियात्मक होती है। वस्तुएँ अपनी 'वास्तविक' स्थिति में मन को प्रभावित नहीं करतीं, वरन् 'उत्तेजना-रूप' (Stimuli) में मन को प्रभावित करती हैं। इन उत्तेजनाओं का प्रतीक ही 'प्रत्यय', 'विचार' या 'आभास' कहा गया है।

'वस्तु' अपनी वास्तविकता से व्याख्यापित नहीं होती, वरन् अपनी 'गुणवाचकता' से व्याख्यापित होती है । 'अनन्त धर्मकं' वस्तु की व्याख्या एक अन्तर्यामी ही कर सकता है । सृष्टि का व्याख्याकार 'शरीर', अर्थात् मूर्त या सगुण को 'रूपात्मक जगत' की संज्ञा से संज्ञापित करता है, और वस्तु की गुणवाचकता को 'नाम'-जगत से । 'नाम' जगत वस्तुतः, 'स्थूल' जगत को उसकी सूक्ष्मता में, अर्थात् शक्ति-रूप में ग्रहण करता और उसी रूप में व्याख्यापित भी करता है । 'मनःमन' का यह क्रियाकलाप 'वाक्-रूप' होता है । यह वाक् 'परा वाक्' नाम से जाना जाता है ।

'वाक्' शक्ति रूप है । इसी शक्ति को 'नाम-शक्ति' के नाम से जानते हैं । 'नाम' वस्तुतः 'व्याख्या' का साधनमात्र है । यहाँ यह दोहराते अनर्गल नहीं प्रतीत होता कि 'शक्ति' ही 'शक्ति' को देखती है और 'शक्ति' ही 'शक्ति' की व्याख्या करती है । अन्तर है तो उपाधि-भेद का, स्थान-भेद का । एक 'व्याख्येय' है तो दूसरा व्याख्यता; एक दृश्य है, तो दूसरा द्रष्टा। तीसरा रूप है 'व्याख्या और दर्शन' का, तो वह भी स्वयं में शक्ति-रूप ही है । 'करण', 'कार्य' 'क्रिया का त्रिक ही सृष्टि का उपादान स्वरूप है।

'विचारणा' वस्तुतः 'मनःमन' का विषय-क्षेत्र, या कार्य-क्षेत्र है । वह भौतिक शक्तियों के अनुकूल ही 'मनःशक्ति' से परिचालित होती है । भौतिकता अपनी व्यापकता में निश्चित नियमों का ही अनुसरण करती है । भौतिकता के इन निश्चित् नियमों को ही सृष्टि के सन्दर्भ में 'ऋत्' कहा गया है ।

'ऋत्' का स्वामी 'वरुण' है । वह उसके अनुपालन करने-कराने में सक्षम है । 'ऋत्' के अनुपालन कराने में उसकी 'कठोरता' एक आदर्श है। वह 'मित्र' के साथ मिलकर नैतिक आदर्शों का अनुपालन विनियमित करता है । और इस वैदिक 'देव-द्वय', 'मित्रावरुण', का सदन 'मूलाधार कहा गया है ।

'मूलाधार' में रहता हुआ 'मित्रावरुण', 'देव-द्वय', 'ऋत्' का अनुपालन जिस साधन द्वारा करते हैं, वही है 'परा वाक्-शक्ति', जिसे विद्वान विचारक ने 'मित्रावरुण सदना'[21] पद से निरूपित किया है ।

आर्ष वाङ्मय के अनुसार 'अनेक' का कारण-स्वरूप शक्ति-रूप 'ब्रह्म' का अस्तित्व अनादि-अनन्त और नित्य है । उसकी सिसृक्षा उसके

संकल्प को जन्म देती है और वह एक से अनेक होने की ओर अग्रसर होता है। एक से अनेक होने की प्रक्रिया में 'शक्ति' का विभाजन प्रारम्भ होता है।

यहाँ 'नित्यता' की कसौटी निर्विकारिता है। एक विशुद्ध, 'परतम शुद्ध', ही निर्विकार और नित्य हो सकता है। फिर भी, अपनी विशुद्धता में वह कार्य-कारण की अपनी समन्विति से अलग नहीं हो सकता। वह अपनी शुद्धतम अवस्था में भी अपने 'कारण' से अलग नहीं होता। वह अपना कारण आप होता है। इसलिए वह 'स्वयम्भू' है।

अब, अगर 'ब्रह्म' का अस्तित्व है, तो वह 'शक्ति' और 'शक्त' का ही योग, अर्थात् 'शक्तिमान्'-रूप होगा। यह शक्तिमान् भी तभी निर्विकार होगा, जब कि उसका शक्त्यंश, सुस्थिर और निष्क्रिय हो। स्पष्टतः, ऐसा 'शक्त्यंश' जड़ ही हो सकता है। अगर शक्त्यंश जड़ होगा तो उसका 'शक्त'-अंश तब तक क्रियाशील नहीं हो सकेगा जब तक कि वह स्वयं चेतन और अभिलषित, अर्थात् ईक्षणयुक्त नहीं हो। 'सिसृच्छा' ईक्षण का ही रूप है। 'ईक्षण' या 'एषणा' भी संकल्पशीलता की चालक-शक्ति (driving force) या प्रेरक-शक्ति (motive force) के बिना संचालित नहीं हो सकती। यह चालक-शक्ति (driving force) जड़ात्मक शक्त्यंश ही प्राप्त करा सकती है।

विचारणा की यह प्रक्रिया स्वतः तब क्रियात्मक होती दीख पड़ती है, जब विचारणा आगे बढ़ती है। 'चेतन शक्त' जब सिसृक्षु और संकल्पित होता है, वह 'जड़' शक्त्यंश की ओर देखता है। 'जड़ शक्त्यंश' क्रियाशील होकर सिसृक्षु 'निष्क्रिय'-चेतन को क्रियाशील बनाती है। 'शक्त्यंश' और 'शक्त' मिलकर तब शिवःरूप बन, सृष्टि की रचना में तत्पर होता है। इसे ही सांख्य 'व्यक्त', 'अव्यक्त', 'ज्ञ' या प्रकृति, पुरुष और पुरुष-प्रकृति संयोग आदि के रूप में देखता है। इसे ही तन्त्र-शास्त्र निर्गुण, सगुण और शिव-तत्त्व के रूप में देखता है। 'शारदा तिलक' के शब्दों में–

> ''निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः ।
> निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥
> सच्चिदानन्द विभवात् सकलात् परमेश्वरात् ।
> आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादात् विन्दु समुद्भवः ॥''

(स्फोट दर्शन; पृष्ठ- 3)

अर्थात्, "सनातन शिव के दो स्वरूप बताये गये हैं– एक निर्गुण, दूसरा सगुण । प्रकृति से असम्बद्ध परमात्मा को निर्गुण और प्रकृति से सम्बद्ध को सगुण कहा गया है । इसी प्रकृति-युक्त सच्चिदानन्द सगुण परमात्मा से शक्ति का आविर्भाव होता है और शक्ति से नाद तथा नाद से बिन्दु की उत्पत्ति होती है ।"

'बिन्दु'-रूप अव्यक्त से ही 'नामरूपात्मक' जगत का उद्‌गम होता है।

'नाम रूपात्मक' पदयुग्म में 'नाम' को 'शब्द' और 'रूप' को 'अर्थ' कहा गया है । दोनों का एक उद्‌गम-स्रोत दोनों को ही अपनी परतम-स्थिति में एक सिद्ध करता है । मात्र सृष्टि की कार्यान्विति के लिए 'शक्ति' अपने 'परतम अभेद' को विभाजित करती हुई भेदात्मक बनाती है ।

कहा है–

"शब्दरूपमशेषन्तु धत्ते शङ्करवल्लभा ।
अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ॥"

(शारदा तिलक से उद्धृत; स्फोटदर्शन, पृष्ठ- 5)

अर्थात् "समस्त 'शब्दमय' शरीर को पार्वती धारण करती है तथा समस्त 'अर्थ'-स्वरूप को स्वयं महेश्वर धारण करते हैं ।"

'शब्द और 'शब्दार्थ' वस्तुतः 'निरुक्त' के 'भाव' और 'सत्त्व' से अलग नहीं । 'शब्द' को 'क्रिया-रूप' 'नारी-शक्ति' से तथा 'शब्दार्थ' को 'सत्त्व' या 'सिद्ध क्रिया-रूप' 'पुरुष-शक्ति' से निरूपित किया जाना स्पष्ट करता है कि व्यवहारतः दोनों अन्योन्याश्रित हैं । वे मात्र व्यवहारतः ही भिन्न दीखते हैं । दोनों वस्तुतः अपने परतम रूप में एक ही हैं । कहा है–

एक ही 'अव्यक्त' अपने 'शक्त्यंश' के आधिक्य से 'वाङ्मय' जगत और 'चैतन्य अंश' के आधिक्य से 'अर्थ' या 'रूप'-मय जगत का निर्माण करता है ।

एक उद्धृति है–

"नारी रजोऽधिकेंऽशेस्यान्नरः शुक्राधिकेंऽशके ।
रजोऽधिके भवेन्नारी तथा रेतोऽधिके पुमान ॥"

(स्फोट दर्शन, पृष्ठ- 5)

इसी तरह 'क्रिया'-रूप सूक्ष्म कारण-जगत और 'कार्य'-रूप 'स्थूल जगत' की सृष्टि भी उसी 'अव्यक्त' की अभिव्यक्ति है । कहा है–

"नामसृष्टि के उपादानभूत चिदानन्दमय अव्यक्त-रूप शक्ति के अधिकांश-विशिष्ट होने के कारण चैतन्य प्रतिबिम्बित माया-रूप बिन्दु को 'शक्ति', 'कुण्डलिनी', 'आधार शक्ति' आदि नामों से तन्त्रों के वर्णित किया गया है । तथा, रूप-सृष्टि के उपादानभूत सच्चिदानन्द-रूप शुद्ध-स्वरूप चैतन्य-अंश के अधिक होने से चित्-रूप बिन्दु पुंसत्व विशिष्ट ईश्वर, सदाशिव आदि नामों से व्यवहृत होता है ।" (स्फोट दर्शन; पृष्ठ- 7)

स्पष्ट है–

"एक ही 'अव्यक्त'रूपा 'प्रकृति' 'पदोन्मुखी' और 'शिवोन्मुखी' होकर 'नामात्मक' और 'रूपात्मक' जगत् की सृष्टि करती है ।"

तन्त्र के अनुसार–

"नादात्मनां प्रबुद्धा सा निरामय पदोन्मुखी ।
शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता ॥"

कूर्म पुराण के अनुसार–

"प्रधानं पुरुषञ्चैव प्रविश्य तु महेश्वरः ।
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ॥
प्रधानात् क्षोभ्यमाणाच्च तथा पुंसः पुरातनात् ।
प्रादुरासीन्महद् बीजं प्रधानपुरुषात्मकम् ॥"

अर्थात्, "महेश्वर 'प्रधान' और 'पुरुष' में प्रविष्ट होकर परसंज्ञक योग से उसमें क्षोभ पैदा करता है । क्षोभ्यमाण प्रधान और पुरातन पुरुष से प्रधानपुरुषात्मक महद् बीज प्रादुर्भूत होता है ।"

तनत्रानुसार–

"गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे ।
एकमूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णु महेश्वराः ॥
अन्योन्यमनुरक्तास्ते अन्योन्यमनुजीविनः ।
अन्योन्यप्रणताश्चैव लीलया परमेश्वराः ॥
त्रिधा कृत्वात्मनो देहं सोऽन्तर्यामीश्वरः स्थितः ।"

आशय है–

"जब 'अव्यक्त' संज्ञक 'प्रधान बिन्दु' में क्षोभ या ईक्षण उत्पन्न होता है, तब उसमें तीन देवता उत्पन्न या प्रादुर्भूत होते हैं। वे तीनों देव 'एकमूर्त्ति' हैं। वे 'ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर' नाम से प्रसिद्ध हैं। वे परस्पर-अनुरक्त, परस्पर-अनुजीवी और व्यवहारतः परस्पर-प्रणत (नम्र) रहते हैं। वह अन्तर्यामी ईश्वर अपने शरीर को तीन भागों में विभक्त कर स्थित है।"

'सगुण' ब्रह्म से 'शक्ति' की उत्पत्ति होती है। शक्ति से 'नाद', और 'नाद' से 'बिन्दु' की उत्पत्ति होती है। यह जगत् का 'अङ्कुर'-रूप है। इसे 'अव्यक्त' कहा गया है। यह 'अव्यक्त' ही अपने 'शक्त्यंश' की प्रधानता में 'शब्दमय जगत्' की सृष्टि और 'चैतन्य प्रधानता' में 'रूप' या 'अर्थ' मय जगत की सृष्टि करता है। 'शक्त्यंश' (शक्ति + अंश) की प्रधानता में 'अव्यक्त' बिन्दु 'शक्ति' या 'कुण्डलिनी' के नाम से जाना जाता है और 'चैतन्य'-प्रधानावस्था में 'सदाशिव', ईश्वर आदि नामों से।

प्रकृति में क्षोभ या ईक्षण के कारण ही 'बिन्दु', बीज, और नाद की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः ये तीन रूप 'प्रकृति' के शिवशक्तिमयता के प्रतीक हैं। शिवांशता-प्रधान का नाम 'बिन्दु', शक्त्यंशता-प्रधान का नाम- 'बीज' और दोनों के समवायात्मक-प्रधान का नाम 'नाद' है।

'शब्द' में 'ज्ञान', 'इच्छा' और 'क्रिया' के तत्त्व निहित होते हैं। इनकी उत्पत्ति के लिए 'बिन्दु' से 'रौद्री'-शक्ति की, 'नाद' से 'ज्येष्ठा'-शक्ति की, और 'बीज' से 'वामा'-शक्ति की उत्पत्ति होती है। इन तीन शक्तियों से क्रमशः 'ज्ञान', 'इच्छा', और क्रिया, तथा उनके आश्रयीभू- देवों- 'रुद्र', 'ब्रह्मा' और 'विष्णु' की उत्पत्ति होती है। शब्द-सृष्टि के अन्तर्गत् 'रुद्र' 'अग्नि' से, 'ब्रह्म' 'चन्द्र से और 'विष्णु' सूर्य से निरूपित होते हैं। इस तरह 'ज्ञान' की अधिष्ठातृ शक्ति 'अग्नि' से, 'इच्छा' की अधिष्ठातृ शक्ति 'चन्द्रमा' से और 'क्रिया' की अधिष्ठातृ-शक्ति 'सूर्य' से निरूपित होती है। दूसरे शब्दों में स्फोट दर्शन में 'रुद्र', 'ब्रह्मा', और विष्णु क्रमशः अग्नि, चन्द्र और सूर्य तथा ज्ञान, इच्छा, और क्रिया-शक्तियों के निरूपक हैं। ये 'त्रिदेव' 'स्थूल सृष्टि', या 'रूपात्मक' या 'अर्थ सृष्टि' की उत्पत्ति, स्थिति, और संहार के नियन्ता हैं, जब कि ये शब्दमय सृष्टि के।

'अग्नि', 'चन्द्र' और 'सूर्य', वस्तुतः 'ज्योति' या 'प्रकाश' के स्रोत

और 'ज्ञान' तथा 'ज्ञानमय कर्म' के प्रकाशक हैं । 'अज्ञानता' वेदों में 'दस्यु', 'पणि', 'असुर' 'अन्धकार' आदि रूपों से उपमित है, जबकि 'ज्ञान' प्रकाश, दिव्यता आदि से ।

इस तरह 'विचारणा' पूर्णतः सृष्टि की सर्वांगिकता से सम्बद्ध है । वह मात्र शब्दमय सृष्टि तक ही सीमित नहीं । वह सृष्टि को उसकी सम्पूर्णता में देखती और 'द्रष्टा' के दर्शन तथा दृष्ट की व्याख्या करती है । यह 'शिवांश', 'शक्त्यंश' और 'शिवशिवांश', तीनों की आश्रिता है । वह 'नाम रूपात्मक' सृष्टि की संयोजिका और व्याख्यायिका है । वह सम्पूर्ण 'शक्त्यात्मक' सृष्टि की 'शक्ति रूपा' 'शक्ति' की परिचारिका अन्तरङ्ग सहेली है । तभी तो, 'शिव' की वह 'शक्ति', जिसके बिना 'शिव' भी 'शव' बन जाते हैं, अथवा 'शक्त्या विरहितः शक्तः शिवः कर्त्तुं न किञ्चन' को चरितार्थ करने लगते हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की 'धारिका' धर्म है । वह तो है–

"सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा ।
सर्वमन्त्रमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः ॥"

ऐसी सर्वशक्तिमयी देवी की परिचारिका 'विचारणा' भी स्तुत्य है । तभी तो भारतीय 'दर्शन' 'परमार्थ'–रूप का विज्ञाता और व्याख्याता है, 'स्वार्थ'–रूप का नहीं । 'स्वार्थ' तो मात्र साधन, सीढ़ी का पहला पायदान, है– उस साधक के लिए, जो 'स्व' से छुटकारा पाकर 'अर्थ' को परतम 'शब्द' या 'वाक्' तक ले जाता है और 'परमार्थ को देखता है । तभी तो वह दृश्य के दर्शन को 'साहित्य' बना पाता है– दोनों रूपों, अर्थात् 'शब्द' और 'शब्दार्थ' के 'सहितत्व' और 'स–हितत्व' में । दूसरे रूप में शब्द और शब्दार्थ के 'सहितत्व' और 'स–हितत्व' से दृश्य वर्णित होकर 'दर्शन' बनता है ।

'शक्ति' का उपासक भारतीय आर्ष–विचारक नारीरूपा शब्दात्मिका शक्ति की 'भगवती'–रूप में स्तुति करता है–

"शब्दात्मिका सुविमलर्ड्यजुषां निधानम्
उद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम् ।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय
वार्त्ताऽसि सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्रीम ॥"

अर्थात् "हे भगवति ! तुम्हीं संसार के उत्पादन के लिए शब्दात्मक रूप को धारण करती हो; ऋक्, यजुष रमणीय पदपाठवाले नाम का भी

निधान (आश्रय) हो, और प्रकाशमान् त्रयी (वेद) मयी और समस्त संसार के कष्ट को नाश करने वाली वार्त्ता भी तुम्हीं हो ।"

'विचारणा' का यह सात्त्विक रूप वस्तुतः परमार्थिक निष्पक्षता का सर्वतोमुखी आदर्श है । यह विज्ञानमय जीवन-दर्शन और साहित्य, अर्थात् 'स-हितत्व' की समन्विति से ही सम्भव है ।

ऋग्वेद का मन्त्र-द्रष्टा आज भी पुकार रहा है-

"एतोन्वद्य सुध्यो भवाम प्र दुच्छुना मिनवामा वरीयः ।"

(ऋ० 5.45.5)

अर्थात्, "अब आ जाओ, आज हम विचार में पूर्ण हो जायँ, कष्ट और असुविधा को नष्ट कर डालें, उच्चतर सुख अपनायें ।"

हाँ, 'विचार' 'सत्य' पर होता है, और 'सत्य विचार' पर ही एकमतता होती है । "अज्ञान के नियम से शासित होकर ज्ञान, अर्थात् सत्य की प्राप्ति नहीं होती ।"

यहाँ, 'विचारणा' की आर्षेय चिन्तना-विधि अपनी सात्त्विकता के साथ स्वतः हमारे सामने आ खड़ी होती है । स्वयं उपनिषदों में विद्वानों[25] द्वारा दार्शनिक चिन्तना के दस रूपों को देखा गया है । यहाँ अपनी ओर से विवेचन-स्वरूप कुछ भी कहने के बदले मिश्र-द्वय (प्रो० अर्जुन मिश्र और डा० हृदय नारायण मिश्र) कृत 'अद्वैत-वेदान्त' से कुछ पंक्तियाँ साभार उद्धृत कर इस आलेख का अन्त करना चाहूँगी और आर्ष-विचारणा की प्रमात्मक विचारणा-विधा पर अपनी विवेचना को दूसरे अवसर के लिए छोड़ूंगी । मिश्र-द्वय अपनी पुस्तक के 'अद्वैत-वेदान्त की तर्कना-पद्धति' सन्दर्भित अध्याय में लिखते हैं-

"वैदिक सूक्तों के ऋषियों की अपेक्षा उपनिषदों के ऋषि अधिक स्पष्ट चिन्तन करनेवाले थे । वे सूक्ष्म रूप से परम तत्त्व का निरूपण कर सकते थे । उनकी उद्घोषणाओं का आधार उनकी आन्तरिक अनुभूतियाँ थीं। उनके चिन्तन में तर्क का स्थान नीचे उतर कर दूसरे स्थान का था ।

डा० दासगुप्त के अनुसार वहाँ तर्क का कार्य केवल अनुभूत सत्य को व्यक्त करना भर था ।[26]

आगे मिश्र-द्वय, प्रो० आर० डी० रानाडे की पुस्तक 'अँ कन्स्ट्रक्टिभ सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलॉसफी' (A constructive survey of Upanishedic Philosophy) के संदर्भ से, लिखते हैं-

"फिर भी, उपनिषदों की दार्शनिक चिन्तन-विधि का अध्ययन करने पर प्रो० आर० डी० रानाडे ने यह निष्कर्ष निकला कि उसमें दस प्रकार की विचार-विधियों का प्रयोग किया गया है ।"

मिश्र-द्वय ने राना डे महोदय के इन निष्कर्षित विचार-विधियों को संक्षिप्ततः प्रस्तुत किया है- "संक्षेप में वे इस प्रकार हैं-

1. कूट विधि (Enigmatic method) जैसे श्वेताश्वतर उपनिषद के ऋषि ने ध्यान योग का अनुवर्णन कर उस परमात्मा को जो एक नेमि, तीन वृत, सोलह अन्न, पचास अरों, बीस प्रत्यरों, छः अष्टकों, विश्वरूप एक पाश, तीन मार्गों तथा पाप-पुण्य दोनों के निमित्त-भूत एक मोह वाला कारण है । (श्वेताश्वतर उपनिषद, 1.4)
2. सूत्र विधि, जैसे- माण्डूक्य उपनिषद
3. धात्वर्थ विधि (Etymological method), जैसे - स्वपिति का अर्थ "सता संपन्नो भवति.... या "स्वमपीतो भवति"- सत् से सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है । (छान्दोग्य उपनिषद 6.8.1)
4. पौराणिक विधि (Mythical method), जैसे- केन उपनिषद् में यक्ष की कहानी के द्वारा बताया गया है कि विनम्रता के बिना कोई ब्रह्म का ज्ञान नहीं पा सकता ।
5. दृष्टान्त विधि (Analogical method) जैसे- जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र में नामरूप त्याग कर एक हो जाती हैं उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से मिलकर एक हो जाता है । (छान्दोग्य उपनिषद्, 6.10.1)
6. द्वन्द्वन्याय विधि (Dialectical method); यह प्रश्नोत्तर विधि है । जैसे- राजा जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्य, आदि का सभी से वाद-विवाद । (वृहदारण्यक उपनिषद्, 3.9.26)
7. समन्वय विधि (Synthetic method); अश्वपति कैकय ने यही विधि अपनाकर सृष्टि विज्ञान के छः मतों में समन्वय किया । (छान्दोग्य उपनिषद् 5-11)

8. स्वतः संवाद विधि (Monological method), जैसे- अन्तर्यामी-ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य के भावों की अभिव्यक्ति ।

9. यथावसर विधि (Ad hoc method), जैसे - इन्द्र और विरोचन को प्रजापति आत्मज्ञान एक-एक अंश में कई बार देते हैं । (छान्दोग्य उपनिषद् 8.8.1)

10. प्रतिगमन विधि (Regressive method); इसमें एक प्रश्न के समाधान के साथ अनेक प्रश्नों की उत्पत्ति होती है, जैसे जनक और याज्ञवल्क्य संवाद । (वृहदारण्य उपनिषद्, 4.3.1)

औपनिषदिक द्वन्द्वन्याय की व्याख्या करते हुए मिश्र-द्वय लिखते हैं-

"नासदीय-सूक्त का 'तदेकं' उपनिषद् के ऋषियों के सामने एक पक्ष के रूप में विद्यमान था । उसके विपरीत उन्हें विपक्ष के रूप में जगत का 'नाना' प्राप्त हुआ । यह 'एक' और 'नाना' का भाव सापेक्ष है । दोनों में से एक भी निरपेक्ष परम सत् नहीं हो सकता है । अतः इन दोनों के मूल में विद्यमान 'अद्वैत', 'परम सत्' निर्धारित किया गया । यह 'अद्वितीय सत् 'एक' और 'अनेक' की सापेक्षता से मुक्त, और दोनों का आश्रय है ।"

विचारणा में विचारों की तारतम्यता नहीं टूटती । अपनी संश्लेषणात्मक वैचारिक विधा में औपनिषदिक ऋषि अपने परतम लक्ष्य की ओर निःसंशय अग्रसर होते हैं । वे अपनी विचारणा में अपने सामने वर्तमान किन्हीं दो सापेक्ष पक्षों को लेकर निरपेक्षता के स्तर तक उठते हैं और निरपेक्ष सत् को मात्र अभिव्यक्ति हेतु 'नाम' देने से भी नहीं हिचकते । वस्तुतः वे उस निर्गुण निरपेक्ष को परतम शक्ति के रूप में पहचानने को मजबूर हैं, और वे उससे पीछे नहीं हटते । हाँ, उस 'नाम' के प्रति उनका कोई आग्रह नहीं । किसी भी आग्रह के प्रति उनकी उदासीनता उन्हें उन्मुक्त विचारण का अवसर देती है । मिश्र-द्वय आगे लिखते हैं-

"उपनिषदों के द्वन्द्व न्याय की सबसे बड़ी विशेषता परम सत् में विरोधी लक्षणों का आरोप या निषेध करना है । इस प्रकार के द्वन्द्वन्याय का अन्वेषण और विकास 'नासदीय सूत्र' (ऋग्वेद; 10/129) के 'न सत्- न असत्' निर्वचन से हुआ और सफलतापूर्वक विकसित होकर अनिर्वचनीय सत् के निर्वचन में समर्थ हुआ ।"

मिश्र-द्वय अपने इस कथन की सम्पुष्टि ईशावास्य के मंत्रों से करते हैं। वे मन्त्र है-

"अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥
तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

(ईशावास्य उपनिषद्; मंत्र - 4, 5)

अर्थात्, "वह (परम सत्) अपने स्वरूप से विचलित न होनेवाला, किन्तु मन, से भी तीव्र गति वाला है। इसे इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकती क्योंकि यह उन सबसे पहले गया हुआ अर्थात् पहले से विद्यमान है। वह स्थिर होने पर भी अन्य सब गतिशीलों को अतिक्रमण कर जाता है। उसकी सत्ता-शक्ति से ही वायु आदि देवता अपने कार्य करने में समर्थ होते हैं।"

"वह चलता है और नहीं भी चलता है। वह दूर है और समीप भी है। वह सब के अन्तर्गत है और वही सब के बाहर भी है।"

मिश्र-द्वय निष्कर्ष पर पहुँचते हुए कहते हैं-

"उपनिषदों का द्वन्द्वन्याय परम तत्त्व के निरूपण में ही नियुक्त रहा है। उसकी प्रवृत्ति खण्डनात्मक नहीं है, या बहुत कम है, किन्तु उनके बाद की रचनाओं में इसका खण्डनात्मक रूप उग्रता धारण करता गया।"

स्पष्ट है कि विचारणा का रूप प्रमुखतः दो रूपों में विकसित हुआ है- संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक। संश्लेषणात्मक विधा समन्वय के लिए अनिवार्य है। वेद-उपनिषद समन्वयकाल की विचारणा की देन है। यह विचारणा 'प्रमात्मक' या प्रत्यक्षात्मक या आनुभूतिक आधार पर खड़ी है। निष्पक्षता, सर्वज्ञता और निश्चयात्मकता इसका मूल मन्त्र है। इसमें खण्डन और निषेध वस्तुतः अस्तित्व ओर अनस्तित्व के सन्दर्भ में नहीं होता। खण्डन या निषेध होता है अस्तित्व के ही विरोधात्मक पक्ष का और वह भी मात्र विरोधात्मकता को स्पष्ट करते हुए उनके बीच समन्वय स्थापित करने के लिए। 'विद्या-अविद्या', 'भाव-अभाव', 'सत-असत्' आदि ऐसे ही विरोधात्मक अस्तित्व हैं। न तो 'अविद्या' विद्या का, और न ही 'अभाव' भाव का अथवा 'असत्' सत् का अनास्तित्विक रूप है। वे विरोधात्मक हैं, किन्तु एक दूसरे के नकारात्मक या असहयोगी अवयव नहीं। वे एक दूसरे

के पूरक हैं, विभाजक नहीं । असत्, अभाव, या अविद्या क्रियात्मकता के द्योतक हैं । वे क्रमशः सत्, भाव या विद्या को पूर्णता प्रदान करते हैं, व्यावहारिक बनाते हैं ।

वेदों-उपनिषदों के मंत्रों की ज्ञानात्मक एवं व्यवहारात्मक व्याख्या के लिए छः वेदांगों के रूप में विचारणा के छः क्षेत्र निर्धारित किए गये हैं । 'शिक्षा' उच्चारण की शुद्धता का विचारक है, 'छन्दस्' छन्द-प्रकरण का, व्याकरण शब्द-ज्ञान का, 'निरूक' शब्द-निर्वचन का, 'ज्योतिष' नक्षत्र-विद्या या गणित-ज्योतिष का और 'कल्प' कर्म-काण्ड या अनुष्ठान पद्धति का । आनुभूतिक या प्रमात्मक या प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की निष्पक्ष-विशुद्धतम व्याख्या अथवा सम्पूर्ण सर्वांगीण जीवन-दर्शन की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त वेदांगों का ज्ञान अनिवार्य समझा जाता रहा है । उनकी साधना विचारकों द्रष्टाओं के लिए अनिवार्य समझी जाती रही है ।

'न-कारात्मकता' वस्तुतः समन्वित व्यक्तित्व का अंग कभी नहीं रही। समन्वित व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग है क्रियात्मक और चैतनिक व्यक्तित्व। वेदों-उपनिषदों के "ऋषि' समन्वयन-काल के विचारक हैं । बाद के विचारक, अर्थात् खण्डवादी द्वन्द्वन्याय के पक्षधर, निश्चिततः सम्प्रदाय-विशेष के संस्थापक हैं । विश्लेषण या खण्डन में विभाजन की पद्धति जितनी अधिक सूक्ष्म होती जाती है, साम्प्रदायिक विभाजन उतना ही विस्तृत होता जाता है । 'बौद्ध' मत का विभाजन इसका उदाहरण है ।

विचारणा में संश्लेषण-विधि परतमता तक पहुँचाता है, और विश्लेषण-विधि अपरतमता तक, और दोनों का समन्वित रूप सम्यक ज्ञान या विज्ञान को जन्म देता है । एकाकी दोनों ही अपनी-अपनी एकांगिकता में सबको तोड़ डालते हैं । विचारणा तब न तो व्यावहारिक रह जाती है और न ही संगठन कहीं टिक पाता है । वेद-उपनिषद के काल को संगठनों का निर्माण-काल कहा जा सकता है । फलतः, उनकी विचारणा समन्वय प्रधान है । वे विरोधों को समाप्त करते हैं ।

आज के काल में जहाँ व्यक्ति-व्यक्ति अलग होकर अपनी-अपनी हठधर्मिता पर अड़ा हुआ है, आवश्यकता इस बात की है कि वह 'सार्व' की 'तस्मै हितम्' की भावना से जुड़े और सार्व के लक्ष्य को प्राप्त करे । तभी

विचारणा का सात्त्विक परिणाम हमारे सामने होगा, और जीवन के आदर्श को प्राप्त किया जा सकेगा ।

प्रियंवदा सिन्हा

सन्दर्भ सूची–

1. 'परमार्थसत्यं वेद ।' छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय-7; खण्ड-16; पृष्ठ-774
2. 'यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति ना विजानन्सत्यं वदति...' । छान्दोग्य उपनिषद्; अध्याय- 6; खण्ड-16
3. छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय-6; खण्ड-17; मन्त्र -1
4. "According to modern ideas energy is a tiny matter and matter is a storage of energy. There is no doubt now-a-days about their convertibility." Chapter I; Introduction Intermediate Physics by S.C. Ray Choudhary and D.B. Sinha. Page - 3 (Edn. 1979)
5. यास्क प्रणीत निरुक्तम्; सम्पादक डा० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि': चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी। हिन्दी-निरुक्त भाग; प्रथम अध्याय; प्रथम पाद; मन्त्र-1
6. 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
   अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।। (ईशावास्य उपनिषद् मंत्र-11)
7. यज्ञदानादिकं कर्म भुक्ति मुक्ति प्रदं नृणाम् ।' (अग्निपुराण 381/48) अर्थात् 'मनुष्यों के लिए यज्ञ, दान आदि कर्म भुक्ति और मुक्ति को देनेवाले हैं ।
8. महाभारत, अनुशासनपर्व 107/97-98 ।
9. 'इज्यन्ते देवा अनेनेति यज्ञः ।' या 'इज्यन्ते देवा अस्मिन्निति यज्ञः ।' अर्थात् 'जिससे देवताओं की पूजा की जाय उसे यज्ञ कहते हैं ।' या 'जिसमें देवताओं की पूजा हो उसे यज्ञ कहते हैं ।'
10. "वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्जं शतक्रतो ।" एवं,
    "देहि में ददाभि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।" (यजुर्वेद 3/49)
    अर्थात् 'हे शतक्रतो ! हम दोनों हवि और उसके फल का परस्पर में क्रय-विक्रय करें, मैं हवि देता हूँ, आप मुझे फल दें ।'
    इन्द्र उत्तर देते हैं– तुम हमें प्रथम हवि दो, पश्चात् तुम्हें उसका फल देंगे, तुम हमारे समक्ष हवि रखकर देखो तो हम फल देते हैं कि नहीं ?

11. स्फोट-दर्शन; पण्डित रङ्गनाथ पाठक; प्रकाशक-बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पृष्ठ-22

'कहने की इच्छा करनेवाले पुरुषों की इच्छा से उत्पन्न जो प्रयत्न है, उसी से मूलाधारस्थ पवन संस्कृत होता है । उसी संस्कृत वायु से सर्वत्र व्यापक रूप से अवस्थित 'ख-रूप' जो शब्द-ब्रह्म है, वह मूलाधार में ही अभिव्यक्त होता है ।'

पृष्ठ-24: 'वाक् के अभिव्यक्त होने के चार स्थान कल्पित किये गये हैं; आधार (मूलाधार), नाभि, हृदय और कण्ठ । इन चार स्थानों में क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी वाणियों की अभिव्यक्ति होती है ।'

12. A.N. Whitehead. Einstein. Newton, G.F. Stout.

13. ......recognition of the fact that the mind of the scientist is a part of the physical world he studies." — M.N. Roy in 'Science and Philogosphy'. Page - 183.

14. छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय- 6; खण्ड- 17, मन्त्र- 1 (भाष्य)

15. "A reaction between particle and its antiparticle. The energy produced is equivalent to the sum of the rest masses of the anihilating particles and their kinetic energies.

16. "निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः ।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ।।" (स्फ़ोट दर्शन- पृ. 3)

17. स्फोट-दर्शन, पृष्ठ- 15

18. मानक हिन्दी कोश-तृतीय खण्ड; शब्द - नारी, नृ, नय

19. 'छन्दोमञ्जरी' - व्याख्याकार, डा० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी ।

20. मानक हिन्दी कोश - चौथा खण्ड । शब्द 'म' ।

21. स्फोट दर्शन; पृष्ठ- 25

22. वही; पृष्ठ - 25

23. 'आत्मा आत्मना आत्मानं जानति'

24. ऋग्वेद 1/164/45-46

25. प्रो० आर० डी०. रानाडे;

26. "Reason had only to unravel it in the light of experience" — Dr. S.N. Dasgupta, History of Indian Philosophy, Vol. I

अनुक्रम

...नी अलग दुनियाँ

मम्मी की यादों से भरी आलमारी

बाबा रे । ऐसी दुनियाँ ।

'नमस्ते'

मुझे फोटो लेने दो ।
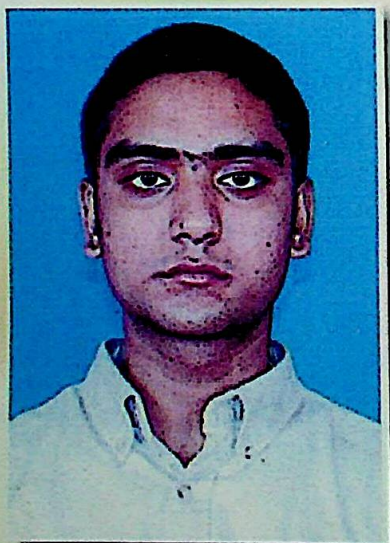
मम्मी की याद

क्या है वह?

मेरी अच्छी मम्मी।

छोटे दुल्हा (चूड़ाकर्ण की त...

वादियाँ। तू मौन क्यों है?

चलो कुछ डान्स हो जाये (स्टेज पर)
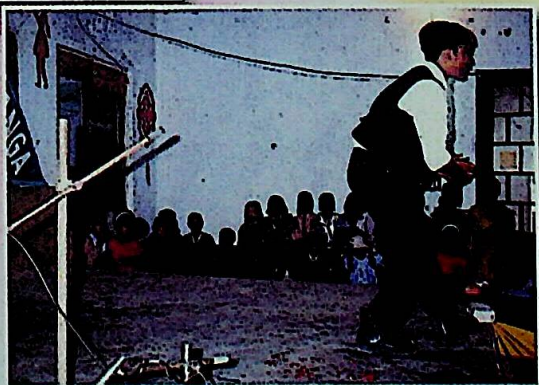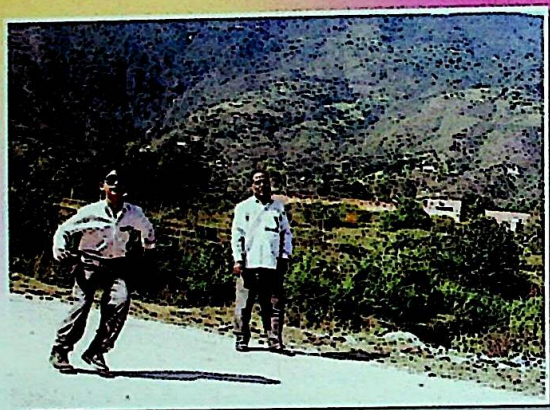
मापनी है ऊँचाई आसमान की।

मम्मी, पापा और मैं
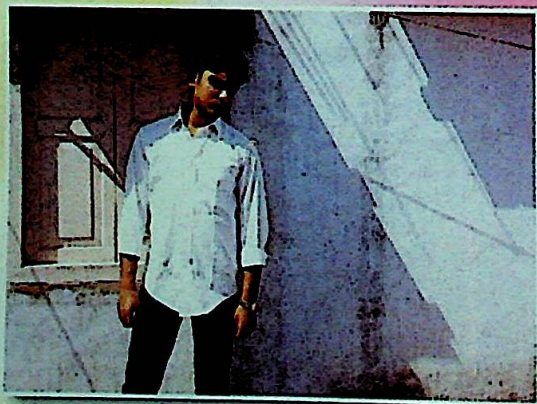
छोड़ो, कुछ सोचने दो।

'ब्रेक' की धुन पर 'ब्रेक' का सा[illegible]
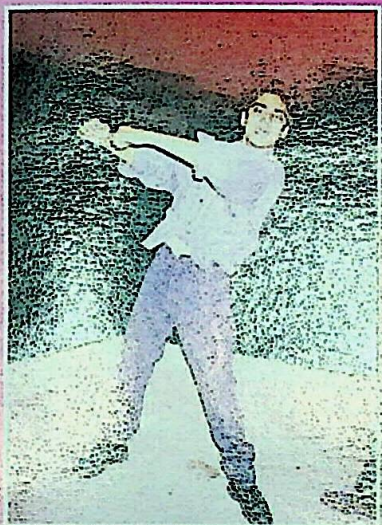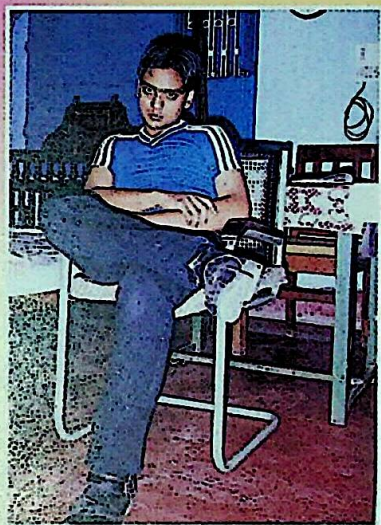
कुछ पास, कुछ दूर
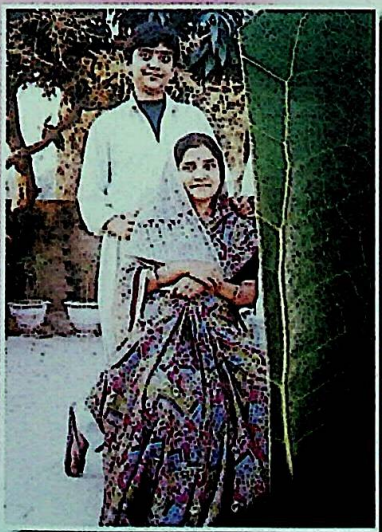
'मम्मी। ओ मम्मी'। तेरा साथ निराला
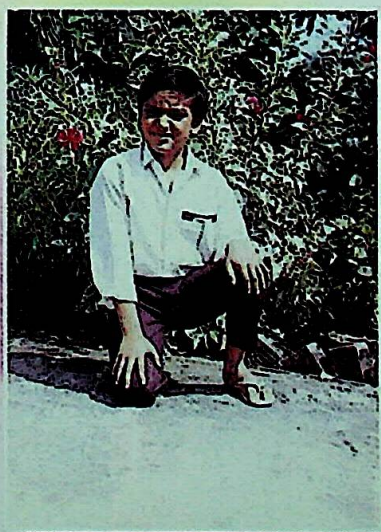
लाड़ला मैं मम्मी-पापा का
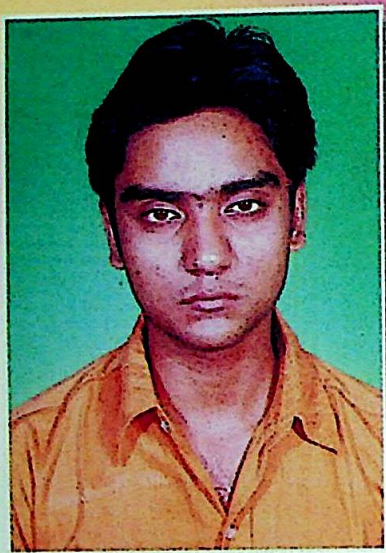
मम्मी ! तेरे बिन
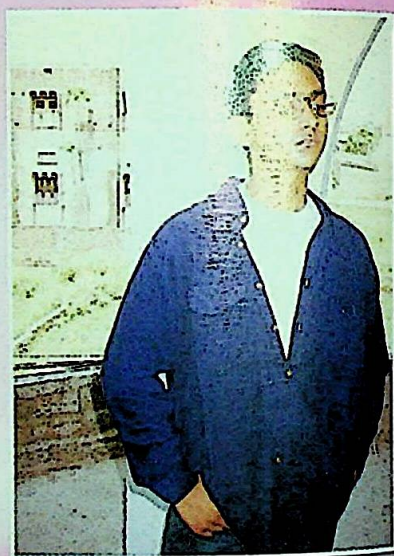
चिन्तना के क्षण
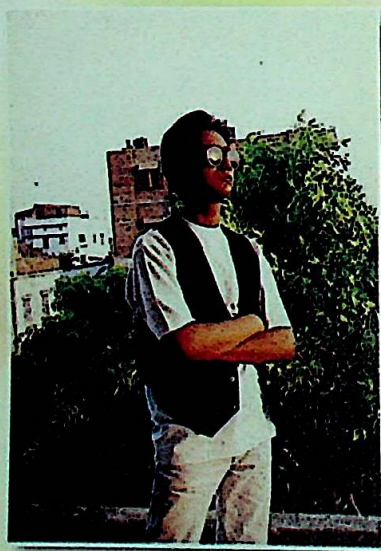
उस क्षितिज के पार
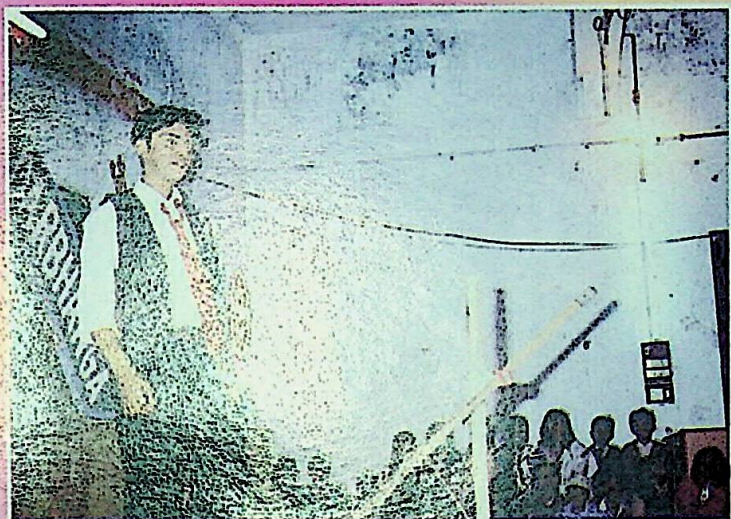
लो मैं आ गया ! (स्टेज पर)
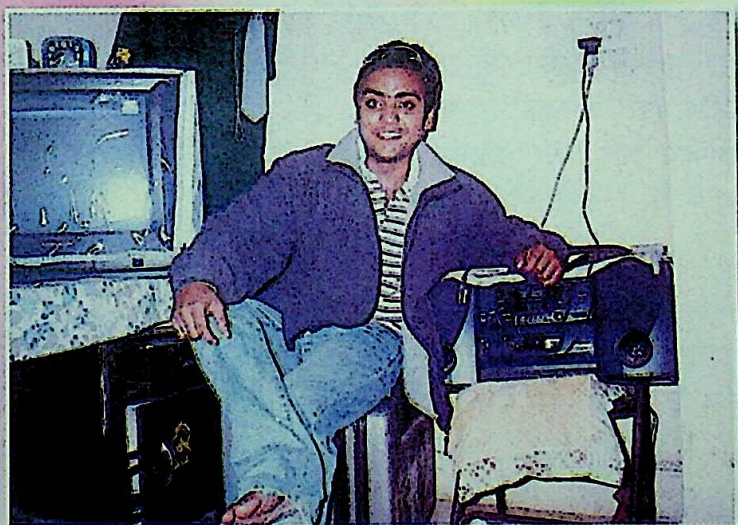
चलो, कुछ गीत हो जाये
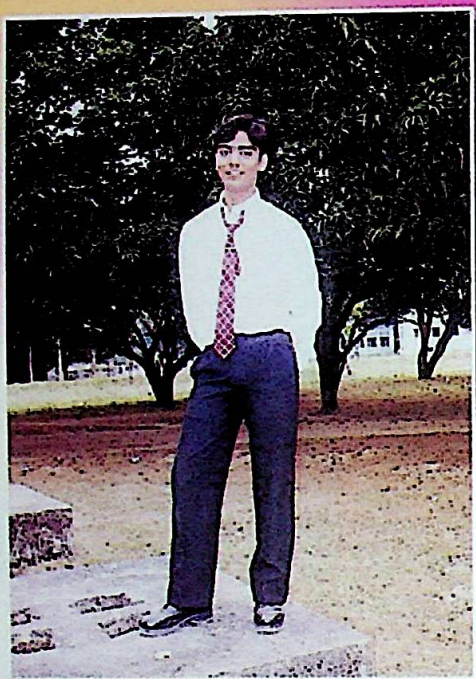
पात्र एक दुनियावी व्यापार का।
(मरचेन्ट ऑफ भेनिस)
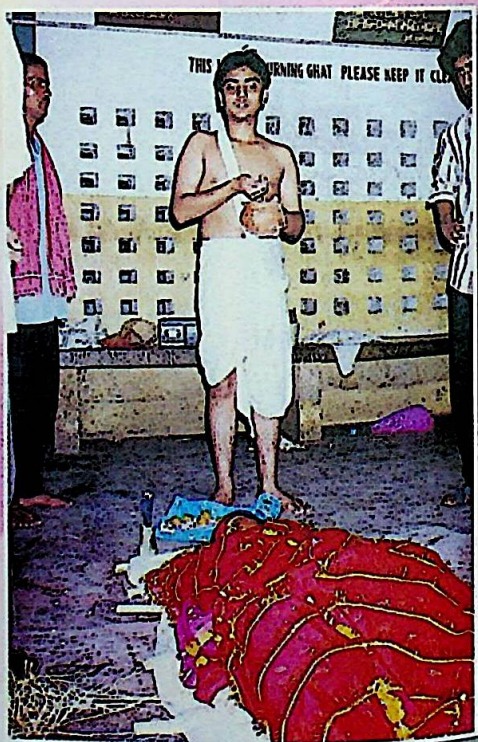
माँ की अंतिम यात्रा

'ॐ'

प्रस्तुति

मूल भारतीय दर्शन के मूर्तिमान रूप को माँ ने वेदों-उपनिषदों में देखा है। वे उस दर्शन को 'जीवन-दर्शन' का नाम देती हैं। 'शरीर-मन-प्राण' से युक्त और समन्वित उस जीवन-दर्शन का 'मानव-रूप' उनके लिये, वस्तुतः मूल भारतीय-दर्शन' का चरम अथवा परतम (summum) रूप लगता है। व्यक्ति को मानव-रूप में देखा जाना उसका लक्ष्य प्रतीत होता है। उनके अनुसार– यह 'लक्ष्य' ही भारतीय-दर्शन में 'धर्म' के रूप में लिया गया है। वह 'चेतयितृत्व' और 'कर्तृत्व' दोनों रूपों में दृष्ट माना गया है। चेतयितृत्व रूप में वह लोकधारक है, और 'धर्म' कहलाता है। वह चालक-शक्ति (Driving force) या प्रेरक शक्ति (motive force) है, और तब तक स्थितिज (Static) रूप में रहता है जब तक कि उसे कोई उत्तेजना (Stimuli) उत्तेजित और क्रियाशील नहीं करती। 'कर्तृत्व-रूप' में उत्तेजनाओं से उत्तेजित, 'धारक' अथवा 'चालक'-शक्ति क्रियाशील होती और 'कर्म' की दिशा में प्रभावित होती हुई 'कर्म' को कार्यरूप में परिणत करने में सहायक होती है।

उन्हें 'शरीर-मन-प्राण' के त्रिक् की आर्ष-अवधारणा 'सृष्टि' के 'त्रिविमिय-रूप' को समझने का साधन दीख पड़ता है। वैयक्तिक शरीर का यह त्रिविमिय रूप न केवल उन्हें समन्वित क्रियाशील 'व्यक्त' शरीर के लिए ही महत्त्वपूर्ण दीख पड़ता है, वरन् सम्पूर्ण 'ब्रह्माण्ड' की अभिव्यक्ति का भी साधन दीख पड़ता है। उनके अनुसार 'वेद' और उपनिषद् इस 'ब्रह्माण्ड' को 'ब्रह्म' का अभिव्यक्त-रूप मानते दीखते हैं। माँ ने इस ब्रह्म को ही 'वेदों-अपनिषदों' से समझने का प्रयास किया है।

माँ के लिये 'परब्रह्म' निर्गुण तो है, किन्तु वह पूर्णतः भौतिक है, भौतिकेतर तो बिल्कुल नहीं। 'वह' अदृष्ट है, क्योंकि वह 'कारण' है। 'कारण' अपने 'कार्यत्व' से 'दृष्ट' होता है, अन्यथा वह 'अदृष्ट' ही अनुभूतित होता है। यही कारण है कि उपनिषदों में 'सृष्टि' को तीन चरणों में सृष्ट कहा गया है– स्वयम्भू-रूप अति सूक्ष्म 'कारण-जगत', 'सूक्ष्म' कारण-जगत, और स्थूल-जगत, । स्वयम्भू सूक्ष्म का और 'सूक्ष्म' स्थूल का कारण है। 'कारण' कार्य की व्याख्या है, और 'कार्य', 'कारण' के अस्तित्व को व्याख्यापित करता है। दोनों ही शक्ति-रूप हैं।

'कारण' अकेला नहीं होता, वह 'कार्य' में निहित होता है । 'कारण-कार्य' की अनन्त शृंखला में वह अपने को 'स्वयम्भू' के रूप में व्याख्यापित देख सकता है । क्योंकि, सृष्टि 'अनवस्था-दोष की समाप्ति से ही व्याख्यापित हो पाती है । उपनिषद् उस 'अनवस्था-दोष से रहित' 'अदृष्ट सूक्ष्मतम् स्वयम्भू-रूप 'कार्य-कारण' की समन्विति को 'परब्रह्म' के रूप में देखती है ।

उपनिषद् या वेद का यह 'स्वयम्भू' भौतिक है, भौतिकेतर नहीं । अतिसूक्ष्म कारण-जगत, सूक्ष्म-जगत, और स्थूल-जगत के रूप में विकसित जागतिक-सृष्टि भौतिकतया भौतिकीय नियमों के अधीन ही विकसित होती है- यह उपनिषद् को कहीं भी अस्वीकार्य नहीं दीखता । उपनिषदों की 'सत्-असत्' और 'विद्या-अविद्या' की व्याख्या इसे ही सम्पुष्ट करती दीखती है ।

माँ विज्ञान की छात्रा और फिर अध्यापिका होती हुई भी दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत 'पीएचडी' के लिये निबन्धित शोध-छात्रा रही थीं । उनके शोध का विषय था 'मानववाद' (Humanism) । स्वभावतः भी वे मानववादी ही थीं । सम्प्रदायों से भी अधिक वे 'मानव' ओर 'मानवता' को महत्त्व देती रही थीं । उनके लिये 'सम्प्रदाय' जीवन-पद्धति थी । वे धर्म के रूप में 'मानव' को देखती थीं । 'मानव' अथवा 'मानवता' को ही वे 'धर्म' मानती रही थीं। उनकी मान्यता का 'ब्रह्म' या 'मानव' औपनिषदिक 'ब्रह्म' या मानव से अलग नहीं था ।

वे 'विज्ञान' और 'दर्शन' की अध्येता के साथ साहित्यिक अभिरुचि भी रखती थीं । अनकी एक कविता-संग्रह, सम्प्रति 'एकाकीपन मेरा', प्रकाशनाधीन है । उनकी कविताएँ उनके संवेदनशील व्यक्तित्व को उजागरित करती हैं । उनका मानवीय दृष्टिकोण उनकी कविताओं में स्पष्टतः दीखता है। समाज और राजकीय अथवा वैयक्तिक कार्यों में फैले भ्रष्ट आचरण के प्रति वे दुःखी हैं, वे 'वेद' और 'उपनिषदों' के प्रति विचारकों की उदासीनता को देखकर और भी क्षुब्ध हैं । उनका मानना है- 'सत्य' अद्वितीय होता है और 'मानव' या 'मानवता' के रूप में देखा जा सकता है । 'मानव' या 'सत्य' भावनाविहीन नहीं होता क्योंकि 'सत्य' ओर 'संवेग' की समन्विति ही 'सृष्टि' का 'कारण' है ओर वही 'ब्रह्म' है ।

मेरे पापा (पिता) अपने परिवार, अर्थात् मेरे और मेरी माँ के प्रति सदैव समर्पित रहे हैं। अपने माता-पिता के प्रति उनके उत्तरदायित्व-भाव को मेरी माँ ने ही जागरित किया था। वे पापा की प्रेरणा-स्रोत रही हैं, तब भी जब वे थीं, और आज भी जब वे नहीं हैं। शायद ही वे 'पापा' से किसी बात पर रुष्ट रही हों। हाँ, 'पापा' ने हमारी और अपने माता-पिता की इच्छाओं की पूर्ति को प्रधानता देकर, उसे अपना उत्तरदायित्व समझकर, जो कुछ भी किया उससे वे 'कर्ज' के नीचे दबते चले गये। यह 'कर्ज' था हमारे लिये, माँ के लिये, किन्तु पापा के लिये जैसे हमारी खुशियों के माध्यम से फर्ज बन गया था। सम्भवतः यही कारण था कि माँ ने मृत्यु-शय्या पर 'पापा' को पहचानने में भूल नहीं की और उन्हें 'भगवान' का पद दिया। सम्भव है– आज जो उन्हें 'दुष्ट' रूप में जानते या देखते हैं, अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में उन्हें 'भगवान' के रूप में याद करें। 'पापा' कभी अपने लिये नहीं जीवित रहे। शायद वे अपने औपकारिक स्वभाव के चलते अपने लिये कभी जीवित भी नहीं रह सकते थे।

माँ का चला जाना 'पापा' को उनके अन्तरतम से तोड़ चुका है। माँ ने मुझे अकेले में समझाया था– 'आप' 'पापा' को देखना। हम दोनों के बिना वे घुट-घुट कर मर जायेंगे।" मैं यह सब कुछ जानता हुआ भी अपने को माँ के अभाव में उनके दुःख को देख पाने में असमर्थ पाता हूँ। माँ की आकांक्षा थी– मैं विद्वान बनू, महान व्यक्ति बनूँ। कह नही सकता क्या होऊँगा मैं। परन्तु, आज मैं माँ की कही कुछ कहानियों को लिपिबद्ध करना चाहूँगा। फिलहाल इतना ही सही।

इन कहानियों की शुरुआत मेरी बाल सुलभ कहानी सुनने की ललक से हुई थी। पिता को अपनी प्रशासनिक नौकरी के चलते अन्यत्र रहना पड़ता था। माँ शिक्षिका थीं। उन्होंने अपने लिए स्थायी रूप में दरभंगा में रहने की व्यवस्था की थी। विदुषी माता ओर उत्तरदायित्व की प्रतिमूर्ति पिता, दोनों का साथ मुझे मात्र उनके अवकाश के दिनों में ही मिल पाया। शायद इस कमी को पूरी करने के लिये ही माँ ने कहानियों का रूप राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी से हटाकर 'मानव-केन्द्रित' कर दिया। 'मानव' उनका महानतम, परतम लक्ष्य था। वही उनका 'ब्रह्म' था, 'ईश्वर' था, 'धर्म' था। वे मुझे इसी रूप में ढालना चाहती थीं।

आज जब माँ नहीं, कुछ अजीब-सा, उचाट-सा लग रहा है। मन की उदासी बढ़ती जा रही है। 'पापा' (पिता) मेरा मुख जोहते, मम्मी के लेखन को सहेजते स्वयं अपने से भी बेगाने बने निरन्तर कर्मरत रहते हैं अथवा कर्मरत रहने का प्रयास करते हैं। एक अजीब-सा खालीपन और फिर उस खालीपने की दहशत हमारी जान लेती नजर आती है। हमारी वाचालता हमारा ही मुँह चिढ़ा जाती है। 'हमारी', अर्थात् हम दोनों पिता-पुत्र की।

सोचता हूँ क्यों ने खालीपने को माँ की यादों से भरूँ ! समय और अपना मन, दोनों उलझे तो रहेंगे ! फिर, 'अकबर' नाम की याद आती है। पापा मुझे 'अकबर' कहा करते। मुझे अंग्रेजी और हिन्दी दोनों के 'राइम्स' (Rhymes) कंठस्थ थे यद्यपि कि तब मैं पढ़ना सीख भी नहीं पाया था। 'पापा' के 'अकबर' को याद करने लगा हूँ।

भले ही मैं सम्राट 'अकबर' नहीं, किन्तु अपने पापा का 'अकबर सम्राट' तो हूँ ही। चलूँ स्वयं सम्राट 'अकबर' को स्मरण कर 'पापा' के 'अकबर' को कलम थमा दूँ और माँ से सुनी कहानियों को लिपिबद्ध करने का प्रयास करूँ। विदुषी माँ और प्रशासक पिता मेरी सहायता करें। जो कुछ अच्छाई है मेरी, उन्हीं की तो देन है ! बुराइयाँ मेरी अपनी हैं, जिन्हें मैंने समाज से उठा लिये हैं।

मैंने अपनी माँ को अपने ही सामने 'राम' नाम के स्मरण के साथ शान्त-भाव से परलोकगामी होते देखा है। वे अपनी उद्विग्निता, अपने कष्ट, यहाँ तक कि अपने आह्लाद तक को छिपा सकने में समर्थ रही थीं। आज मैं भी उन्हीं की शान्त-चित्तता और गहन मनन को अपनाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मेरी विदुषी माँ मेरी सहायता करें।

लेखनी ! तुझे मेरा नमन है। तू मेरी सहायता कर। मुझे मेरी विदुषी माँ के समक्ष लज्जित मत करना।

स्मृति ! तू मेरा साथ देना। 'अकबर' के रूप में मुझे मेरे 'पापा' के समक्ष लज्जित नहीं करना।

दिक्-काल ! सम्पूर्ण सृष्टि का आश्रय तू, मेरी स्मृति और मेरे विश्वास को निराश्रित मत करना।

हे विद्या की देवी ! तुम हर पल मेरे साथ रहना ।

मैं माँ की कही कहानियों को उन्हीं के कर-कमलों में समर्पित करने का आकांक्षी रहा हूँ । हे कहानियों ! तू उन्हीं को समर्पित होना ।

माँ ! मेरी तुच्छ भेंट तू जहाँ भी होना अवश्य स्वीकारना ।

पीयूष

'ॐ'

[एक]

एक थे प्रजापति। उनके तीन पुत्र थे– 'देव', 'मुनष्य' और 'असुर'। तीनों ही जिज्ञासु थे। बड़े होने पर तीनों ने पिता 'प्रजापति' से पढ़ने की इच्छा व्यक्त की और उनसे पढ़ाने का अनुरोध किया। अनुमति मिलने पर उन्होंने वहाँ 'ब्रह्मचर्यवास' किया।

'ब्रह्मचर्यवास' शब्द दुरूह न हो मेरे लिये, अथवा इस शब्द के प्रति मेरी जिज्ञासा को ध्यान में रखते हुए माँ ने समझाया–

"'ब्रह्मचर्य' कहते हैं 'शास्त्र' और आचार्य के उपदेश से ज्ञानार्जन की विधा को। इसके अपने नियम होते हैं। 'शास्त्र' को आप विज्ञान के अर्थ में ले सकते हैं। और, 'आचार्य' वे होते हैं जो शिष्य का यज्ञोपवीत कर उसे यज्ञविद्या एवं उपनिषद् सहित वेद का ज्ञान देते हैं। 'पिता', अगर अधिकारी हों तो, वे भी आचार्य हो सकते हैं। उन दिनों के श्रम-विभाजन में यह कार्य प्रायः ब्राह्मण वर्ण के लिये नियत था। शिक्षा ग्रहण करने के लिये तब आचार्य के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर शिष्य को शिक्षा ग्रहण करनी होती थी। शिक्षा ग्रहण कर चुकने पर आचार्य अपने शिष्यों को अन्तिम उपदेश देते थे। इस तरह आचार्य के पास ब्रह्मचर्यपूर्वक रहकर शिक्षा ग्रहण करने की अवधि को 'ब्रह्मचर्यवास' के नाम से जाना जाता था।"

माँ ने मुझ पर नजर डाली। शायद उन्हें मेरी समझ पर कुछ सन्देह रहा हो। मुझे निस्सन्देह देख वे सन्तुष्ट हुईं। आगे कहा–

कालान्तर में तीनों पुत्रों ने 'ब्रह्मचर्यवास' समाप्त किया और नियमानुसार आचार्य-पिता 'प्रजापति' से अन्तिम उपदेश देने का अनुरोध किया।

प्रजापति ने उन तीनों को 'द' अक्षर से उपदेशित, अर्थात् अनुशासित किया। उन्होंने उन्हें अपनी ओर से कोई शब्द नहीं दिये। शिष्यों को उनकी अपनी-अपनी मनोभावना के अनुरूप उपदेश ग्रहण करने का अवसर देना वे अपना कर्तव्य समझ रहे थे। फिर, इससे उन्हें उन शिष्यों की समझ का अन्दाजा भी लग सकता था। 'शिष्यों अथवा पुत्रों की दोष-निवृत्ति' शिक्षक अथवा पिता का पाहला दायित्व होता है। शिष्य-पुत्रों ने भी आचार्य-पिता, 'प्रजापति', को निराश नहीं किया।

'द' अक्षर से उपदेशित 'देव' ने कहा– "आपने 'द' से 'दम' या 'दमन' का उपदेश दिया है। मुझे अपनी भोग-प्रधान मनोवृत्ति पर अंकुश लगाना चाहिये। 'भोग' इन्द्रियों का विषय है, और इन्द्रियों के वशीभूत होना हमारी प्रकृति, अथवा हमारा स्वभाव नहीं होना चाहिये। स्वभावतः मुझ अजितेन्द्रिय को दमनशील होना चाहिये, ताकि मैं स्वयं इन्द्रियों के वशीभूत न होकर, इन्द्रियों को अपने वशीभूत रख सकूँ।" प्रजापति ने उनकी समझ को अपनी स्वीकृति दी।

'देव' की तरह ही 'मनुष्य' और 'असुर' ने भी अपनी-अपनी समझ का परिचय दिया और आचार्य-पिता 'प्रजापति' की स्वीकृति प्राप्त की।

'मनुष्य' ने 'द' अक्षर से 'दान' का अर्थ लिया था। वह अपनी 'संग्रह-प्रधान' मनोवृत्ति-दोष को जान गया था। 'संग्रह'-प्रधान मनोवृत्ति 'लोभ' को बढ़ाती है। लोभ का यह दोष 'दान' से ही दूर हो सकता है।

'असुर' ने 'द' अक्षर से 'दया' का अर्थ लिया था। 'क्रोध-हिंसा'-प्रधान उसकी मनोवृत्ति 'दया' से ही दूर हो सकती थी।

'मम्मी' ने 'दम-दान-दया' के उपर्युक्त उपदेश का अर्थ समझाया–

'दम' शब्द से 'दमन' करने की क्रिया या भाव का बोध होता है। शरीर की इन्द्रियों को वश में रखने और उन्हें अनुचित कामों या बातों में लगाने से रोकने की क्रिया को 'दम' या 'दमन' कहते हैं। परोपकार या सहायता के विचार से, अथवा दया-उदारता से प्रेरित होकर किसी जरूरतमन्द पात्र को कुछ देना, 'दान' कहलाता है। और, 'दया' वह सात्त्विक वृत्ति है जो दीन-दुःखियों के कष्ट दूर करने में किसी व्यक्ति को प्रवृत्त करती है।

माँ ने आगे कहा– वस्तुतः शिक्षा या ज्ञान-प्राप्ति का पहला और सर्व-प्रमुख उद्देश्य है– 'व्यक्ति को निर्दोष और निर्भय बनाना'। एक निर्भय और निर्दोष ज्ञानी व्यक्ति ही अपने संकल्प में दृढ़ होता है। अपनी ओर से निश्चिन्त वह व्यक्ति ही अपनी अनावश्यक आवश्यकताओं के प्रति पूर्णतः उदासीन रहकर परार्थ तथा परमार्थ के कामों में रमा रहता है। समाज ऐसे ही परमार्थी व्यक्तियों से संगठित और समादरित होता है।

माँ ने मेरी ओर देखा। मेरे मन की जिज्ञासा को समझते हुए उन्होंने आगे कहा–

'देव', 'मनुष्य अथवा 'असुर' कोई मनुष्येतर जीव नहीं होते। ये तीनों ही तीन प्रवृतियों के निरूपक हैं। हर व्यक्ति में ये तीनों ही वृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में एक साथ पायी जाती हैं। 'दैवी'-वृत्ति, अर्थात् भोगलिप्सा की प्रधानता में व्यक्ति भोगासक्त हो जाता है। इन्द्रिय-सुख में उस की लिप्तता उसे प्रमादी या आलसी बना देती है। 'मानुषी'-वृत्ति, अर्थात् लोभ का आधिक्य व्यक्ति को लोभी बना देता है और वह वस्तुओं के संग्रह की ओर प्रवृत्त हो जाता है। 'संग्रह' जहाँ व्यक्ति को 'भोग' की ओर प्रवृत्त करता है, वहाँ वह उपभोक्ता सामग्री का भी कृत्रिम अभाव उत्पन्न कर देता है। समाज की आर्थिक स्थिति असंतुलित हो जाती है। लोग आर्थिक विषमता में जीने को बाध्य होते हैं। अन्ततः यह स्थिति अनावश्यक वैमनस्य का कारण बनती ओर खून-खराबे को जन्म देती है। 'आसुरी'-वृत्ति 'क्रोध-हिंसा'-प्रधान होती है। उसकी प्रधानता में व्यक्ति अनावश्यक रूप से हिंसक बन जाता है। 'हिंसा' समाज के लिए अवनति का कारण बनती है, 'निर्माण' के बदले 'विनाश' को जन्म देती है।

प्रकारान्तर से इन तीनों वृत्तियों को आर्ष-विचारकों ने 'त्रिगुण' से निरूपति किया और सभी व्यक्तियों या वस्तुओं को त्रिगुणात्मक, अथवा त्रिगुणयुक्त माना है। त्रिगुण के ये तीनों गुण हैं– 'सतोगुण', 'रजोगुण', 'तमोगुण'।

आगे माँ ने गीता की चर्चा करते हुए कहा– गीता में हमे इन तीनों गुणों की विशेष चर्चा देखने को मिलती है। गीता ने 'जीवात्मा' को अविनाशी मानते हुए उसे इन तीन गुणों के कारण ही 'शरीरयुक्त' होने की बात कही है।[1] माँ ने कहा– गीता के अनुसार 'सत्त्वगुण' व्यक्ति को सुख में, 'रजोगुण' कर्म में, और 'तमोगुण' उसके ज्ञान को ढक कर प्रमाद में, लगा देता है।[2] [गीता- 14/5 2. गीता- 9]

माँ ने कहा अतिशयता किसी भी वृत्ति के लिये बुरी होती है। 'सत्त्वगुण' दैवी गुण है, किन्तु उसकी अतिशयता 'देव' को भोगप्रधान बनाकर उसमें प्रमाद और आलस्य भर देती है, जो 'तमोगुण' का प्रभाव है। उसी तरह, 'रजोगुण' मनुष्य को कर्म की ओर प्रेरित करता है। किन्तु, इसकी अतिशयता में व्यक्ति संग्रह की प्रवृत्ति अपना लेता और लोभी बन

जाता है । 'लोभ' क्रोध-हिंसा को जन्म देता है । क्रोध-हिंसा तमोगुण का प्रभाव माना जाता है ।

माँ ने कहा– सिद्धार्थ ने इसी 'अतिशयता' को समझकर 'बुद्ध', अर्थात् 'जागरित' व्यक्ति का पद प्राप्त किया था । अतिशयता से बचने के लिये उन्होंने 'सम्यक्' मार्ग की बात कही थी । 'सम्यक्', अर्थात् 'सन्तुलित'। इस सन्तुलन का ज्ञान व्यक्ति को शास्त्र के अध्ययन और आचार्य के उपदेश से प्राप्त होता है । इसे ही 'ज्ञानार्जन' कहते हैं ।

'ज्ञान' से विवेक जागरित होता है । 'विवेक' से 'सम्यकता' की पहचान होती है । ज्ञानार्जन से जहाँ 'तमोगुण' का 'दमन' होता है, वहाँ 'दया' और दान जैसी सतोगुणी भावना स्वतः उत्पन्न होती है ।

इन्द्रियाँ शारीरिक क्रियाशीलता की साधन हैं । इनके अपने-अपने विषय होते हैं । ज्ञान से उत्पन्न विवेक इन इन्द्रियों के कर्म को सन्तुलित रखता है । उन्हें सम्यकता से अतिशयता की ओर नहीं जाने देता और न ही इन्द्रियों को विषय के वशीभूत होने देता है ।

माँ ने मुझे देखा । मेरे मुख पर कुछ निश्चय का भाव देख वह मुझे अँकवार कर सो गईं । प्रातः उन्हें घर का कार्य निपटाकर ही विद्यालय जाना होता है ।

●

संदर्भ :-

1. गीता ; 14/5
   "सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
   निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।

2. गीता ; 14/9
   "सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
   ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।।

मुख्य कथानक वृहदारण्यक के पाँचवें अध्याय के दूसरे ब्राह्मण से है ।

'ॐ'

[दो]

माँ ने पूछा– इन्द्रियाँ कितनी हैं ?

मेरा उत्तर था– ग्यारह । पाँच ज्ञान की, पाँच कर्म की, और एक उन दोनों का समन्वयक 'मन' ।

माँ ने मेरी ओर देखा । उनकी आँखों में मेरे उत्तर के लिये सम्मान (Appreciation) था । माँ के इस भाव पर मन प्रफुल्लित हुआ । फिर भी मैं सोच रहा था– क्या आज कोई कहानी सुनने को नहीं मिलेगी ?

माँ ने जैसे मेरी भावना को समझ लिया हो, बोलीं– आज इन्हीं इन्द्रियों में से कुछ के बीच ज्येष्ठता और श्रेष्ठता को लेकर होने वाली प्रतिस्पर्द्धा के विषय में एक कहानी सुनाऊंगी ।

इन्द्रियों का देवों से कैसा सम्बन्ध ? –यह मेरी जिज्ञासा थी ।

'देव' या 'देवता' अपनी दिव्यता से निरूपित होते हैं । 'दिव्यता' वस्तुतः कार्यकारी शक्ति का निरूपण करती है । 'शक्ति' अपने मूल रूप में 'स्वयम्भू' है, 'निर्गुण' है । वह स्वयं में कारण भी है और कार्य भी । आर्ष–विचारक प्रकारान्तरसे उसे 'परब्रह्म' रूप में संज्ञापित करते दीखते हैं। उसे अविकृत शक्ति, या परम–शक्ति भी कहा जाता है । प्रकारान्तर से उसे आप आज की 'शक्ति'(energy) से तुलना कर सकते हैं । चुम्बकत्व, विद्युत, प्रकाश, ताप, ध्वनि, आदि भौतिकीय–शक्तियाँ रूपान्तरित शक्तियाँ हैं । वे परस्पर रूपान्तरण की भी क्षमता रखती हैं । ये शक्तियाँ कार्यकारी शक्तियाँ हैं । इनकी क्षमता तेजोमयी है । 'दिव्यता' से वस्तुतः तेज, प्रकाश, आकर्षण आदि का बोध होता है । 'द्रव्य' का तेजोमयी रूप उसके अव्याख्येय रहने तक ही अलौकिक माना जाता रहा है । उसकी व्याख्या आज के भौतिक विज्ञान का विषय है । सामान्य भौतिक विज्ञान (General Physics) का विषय ही 'द्रव्य' और 'शक्ति' के गुणों का वर्णन या व्याख्या करना है ।

आज शरीर के सम्पूर्ण कार्य भौतिकीय नियमों से व्याख्यापित होते दीखते हैं । संभवतः प्राचीन काल में ऐसा नहीं हो पाया था । फलतः 'शक्ति' की पहचान दिव्यता के रूप में की गई और उस 'दिव्यता' के 'अधिष्ठान' को 'देवता' कहा गया । इन्द्रियों की वैषयिक शक्ति को भी अन्य शक्तियों की तरह दिव्य माना गया और उन शक्तियों के अधिष्ठान को देव–रूप देखा गया ।

माँ ने कहानी के छोर को पकड़ने के प्रयास में 'ज्येष्ठ' और 'श्रेष्ठ' शब्दों की व्याख्या दी। 'ज्येष्ठ' शब्द 'आयु' से सम्बद्ध है, और 'श्रेष्ठ' शब्द 'गुण' से। 'आयु' में बड़ा व्यक्ति या बड़ी वस्तु ज्येष्ठ कही जाती है और गुणों में अधिक गुणों से युक्त को 'श्रेष्ठ' कहा जाता है।

शरीर के सभी कार्य समन्विति के निरूपक हैं। समन्विति में समानता, स्वतंत्रता और सौहार्द्रता का समन्वय रहता है। यहाँ 'ज्येष्ठता' और श्रेष्ठता का महत्त्व गौण हो जाता है, एवं समन्वय का महत्त्व प्राथमिक हो जाता है। समन्विति में ज्येष्ठता-श्रेष्ठता का प्रश्न सर्वनाश को आमन्त्रित करता है। समन्विति की आदर्श-स्थिति इन्द्रियों के साथ होती है। इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक करती हैं, किन्तु उन सभी के कार्य समन्वित रूप में शरीर को प्राणयुक्त तथा क्रियाशील रखते हैं।

'वाक्' महत्त्वपूर्ण है। वह 'वाणी' का साधन है। विचारों का आदान-प्रदान वाक् द्वारा ही सम्भव है। वाणी से व्यवहार को अभिव्यक्ति मिलती है। वाणी या वक्तृत्व की विश्वसनीयता से व्यक्ति विश्वसनीय और 'वशिष्ठ' होता है। 'वाक्' से जीवन प्राणमय प्रतीत होता है। यह वस्तुतः 'विद्यमानता' की ही अभिव्यक्ति है। 'वशिष्ठ' शब्द से 'वसनेवाले', 'आश्रय' देनेवाले अथवा 'ऐश्वर्यवान्' का बोध होता है। इन्द्रियों में 'वाक्' को 'वसिष्ठत्व' प्राप्त है।

'वाक्' की तरह ही 'चक्षु' को इन्द्रियों में 'प्रतिष्ठा' का स्थान प्राप्त है। 'चक्षु' को प्रतिष्ठा कहा गया है। 'चक्षु' से देखकर ही व्यक्ति 'सम' और 'विषम' प्रदेश में स्थित होता है।

'श्रोत्र' को 'सम्पद्' कहा गया है। 'श्रोत्र' ज्ञान प्राप्ति का साधन है। ज्ञानमय कर्म से ही व्यक्ति सफलता और उन्नति प्राप्त करता है; सुख प्राप्त करता है। सुख या भोग की प्राप्ति का साधन होने के कारण इन्द्रियों में 'श्रोत्र' को 'सम्पद्' कहा गया है।

इन्द्रियों में 'मन' को 'आयतन' या 'आश्रय' कहा गया है। 'मन' ज्ञान और कर्म का समन्वयक है। 'ज्ञान' और 'कर्म' दोनों ही 'मन' में आश्रय प्राप्त करते हैं। इस तरह 'मन' सभी इन्द्रिय-कर्मों का आश्रय होने से 'आयतन' कहा गया है।

वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन को एक बार अपने-अपने पद का घमण्ड हो

गया। वे परस्पर अपने-अपने श्रेष्ठत्व के लिये विवाद करने लगे। इन इन्द्रियों के साथ 'प्राण' भी सम्मिलित था। प्राण 'वाक्' आदि इन्द्रियों से आयु में अधिक होने के कारण ज्येष्ठ तो था ही, वह गुणों में भी अधिक था। फलतः श्रेष्ठ भी था।

प्राणवान शरीर में सभी क्रियाशील अवयव प्राण के ही प्रतीक हैं। सभी अपने को प्राण के नाम से ही जानते हैं।

अपने विवाद को परस्पर नहीं सुलझा पाने के कारण वे सभी पिता 'प्रजापति' के पास निराकरण के लिये गये। लोक-सृष्टि के आदि कारण के रूप में 'प्रजापति' सबों के पिता या स्वामी कहे गये हैं।

एक योग्य पिता की तरह ही प्रजापति ने अपना कोई निर्णय न देकर उनसे स्पष्ट किया-

तुममें से जिसके निकल जाने पर शरीर 'निष्क्रिय' हो जाय, 'शव' हो जाये वही श्रेष्ठ समझा जायेगा।

प्रजापति के समझाने पर सभी इन्द्रियाँ बारी-बारी अपने-अपने कर्मों से विरत होकर शरीर की स्थिति पर उसका प्रभाव देखने को उद्यत हुईं।

पहले 'वाक्' ने अपना कार्य बन्द किया। एक वर्ष तक अपने कार्य से विरत रहकर जब 'वाक्' लौटा तो शरीर यथावत् अपनी पूर्व स्थिति में कार्यरत था। इसी तरह चक्षु, श्रोत्र और मन ने भी बारी-बारी उत्क्रमण किया और वर्ष-वर्ष भर बाद लौटकर शरीर को यथावत् क्रियाशील देखा। उन्हें पता लगा- 'जिस तरह गूँगे, अन्धे, बहरे और बालक क्रमशः वाकेन्द्रिय, दृश्येन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और मन की क्रियाशीलता के अभाव में जीवित और क्रियाशील रहते हैं उसी तरह शरीर उपर्युक्त इन्द्रियों की निष्क्रियावस्था में भी यथावत् कर्म करता रहा था। सभी हतप्रभ हो अपने-अपने कर्म में लग गये।

अन्ततः मुख्य प्राण उत्क्रमण के लिये तैयार हुआ। 'प्राण' के उत्क्रमण की तैयारी के साथ ही वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सभी इन्द्रियाँ निष्क्रिय और निष्प्राण होने लगीं। शरीर शववत् होने लगा। इस स्थिति को देखकर सभी इन्द्रियों ने 'प्राण' की श्रेष्ठता को स्वीकार कर ली। सभी इन्द्रियों ने यह समझ ली कि प्राण के अभाव में शरीर का कोई भी भाग सक्रिय नहीं रहता। यह प्राण ही है जो वशिष्ठ है, प्रतिष्ठा है, सम्पद् है, आयतन है। वे उसी प्राण के अधीन हैं, उस प्राण के ही कर्म को, उसकी

ही शक्ति से वे निष्पादित करती हैं। वे अपने अज्ञान के कारण अपने को क्रमशः वशिष्ठ, प्रतिष्ठा, सम्पद् अथवा आयतन समझती रही हैं। वस्तुतः सभी इन्द्रियों की सक्रियता 'प्राण' में ही निहित है।

जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव है 'चेतना'। चेतनाविहीन शरीर 'शव' कहलाता है। कार्बनिक तत्त्वों से बना जैविक शरीर प्राणविहीन होने पर सड़नशील हो जाता है। प्राणवान शरीर में इन्द्रियाँ समन्वित रूप में कार्य करती हैं। शरीर का प्रत्येक जैविक कर्म एक समन्वित क्रियाशीलता द्वारा निष्पादित होता है। शारीरिक संगठन किसी भी संगठन का 'आदर्श' है। एक ऐसा 'आदर्श' जो अपने-आप में पूर्ण है। पूर्णत्व ही 'आदर्श' हो सकता है। आर्ष-विचारक व्यक्ति के लिये इसी पूर्णत्व की खोज ब्रह्म के अस्तित्व में करते दीखते हैं, जिसे वे कार्य-कारण के समन्वित रूप में स्वयम्भू, अनादि, अविनाशी और असीम मानते है।

जहाँ कारण के अभाव में 'कार्य' का न होना सिद्ध है, वहाँ 'कारण' की व्याख्या का न होना, 'अनवस्था'- दोष अथवा 'अनवस्था' की स्थिति को उत्पन्न कर देता है। आर्ष-विचारक 'कारण' की शून्यता को नहीं मानते। 'कारण' और 'कार्य' की समन्वित स्थिति में इस दोष का निराकरण उन्हें 'ब्रह्म' रूप शक्ति में स्वतः मिल जाता है। 'कारण' से उत्पन्न 'कार्य' का यह रूप अन्य कार्य के 'कारण' का रूप होता है, और तब कार्य-कारण की एक शृंखला तैयार होती दीखती है। आज की 'भौतिकी' 'शक्ति' (Energy) को 'आदि' कार्यरूप 'कारण' मानती है। यह 'शक्ति' अपने नियमों में ही आबद्ध रहकर रूपान्तरण के माध्यम से अन्य शक्ति-रूपों और 'द्रव्य' को जन्म देती है। आज की भौतिकी का कथन है– "शक्ति प्रतनु द्रव्य है, और द्रव्य संचित शक्ति" (energy is a tiny matter and matter is a storage of energy)।

समस्त शारीरिक क्रियाएँ मस्तिष्क द्वारा नियंत्रित मानी जाती हैं। 'शरीर' और 'मन' की क्रियाओं की प्राचीन अवधारणा आज मस्तिष्कीय कार्य में समन्वित समझी जाती है। 'मन' स्वयं मस्तिष्कीय क्रिया में समाहित है। 'चेतना', अथवा 'प्राण' को आज 'मनः शरीर', अर्थात् 'मस्तिष्क' (brain) के तन्तुओं में समाहित समझा जाता है। शरीर अथवा वस्तु की त्रिविमिय संरचना और दिक्-काल की 'एक-विमिय' संरचना सृष्टि का रूप ही निर्धारित नहीं करती, वरन् सृष्टि के रचनात्मक विकास को भी दिशा देती है।

माँ ने मेरी ओर देखा । उन्हें लगा– "मेरी विज्ञान की पढ़ाई निरर्थक नहीं गई ।" यह सच भी है । माँ के कथन में मुझे कहीं से भी अवैज्ञानिकता नजर नहीं आती । उनके कथानक के बीच मैं कभी 'अनमना' नहीं होता ।

अपने आप मुझे, 'अनमना' शब्द पर हँसी आ जाती है । मैं माँ से कहता हूँ– "सच, 'मन' ही आयतन' है । 'आयतन' ही धारक होता है । जो 'आयतन' नहीं, वह धारक नहीं । 'अन् मन', अर्थात् 'जहाँ मन नहीं' वह धारक भी नहीं होता ।"

माँ विँहस उठती हैं । उन्हें मुझ पर और भी प्यार हो आता है । वे बोलती हैं– 'मन' की एकाग्रता ही उसकी धारण–शक्ति है । यही 'एकाग्रता' स्मृति को जन्म देती है । 'स्मरण' से ही 'विवेक' क्रियाशील होता है, 'स्मरण' से ही सुने–अनसुने का ज्ञान होता है, स्मरण से ही मननशीलता, अर्थात् स्थिति का विवेचन होता है और अच्छा कौन, बुरा कौन का ज्ञान होता है, तभी 'विवेक' अच्छाई का चयन करता और बुराई को छोड़ता है ।"

माँ ने अपने कथानक का अन्त करते हुए कहा– शक्ति की क्रियात्मकता ही अपनी समन्विति में जैविकी की चेतना है, प्राण है, जीवन है । आर्ष–अवधारणा में 'प्राण' वस्तुतः 'वायु'–शक्ति का निरूपक माना गया है । आप जानते ही हैं कि 'प्राण' के पाँच रूप हैं ।

'हा',– मैंने कहा । ''वे पंच प्राण हैं– प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान'' ।

मेरे उत्तर पर माँ का उत्साह बढ़ा । वे आह्लादित हुईं । माँ ने कहा–हाँ। प्राणिक क्रियात्मक शक्तियों के समन्वयन से ही 'कर्म' कार्य–रूप में प्ररिणत होता है ; और, शरीर ही 'प्राणवान', अर्थात् 'शक्तिमान' कहलाता है । कार्य से ही 'ज्ञान' की सम्पुष्टि होती है । सम्पुष्ट 'ज्ञान' ही यथार्थ और परमार्थ का निरूपक होता है । परमार्थिक ज्ञान ही ज्ञाता को महान् और विद्वान बनाता है । और, बेटे । हम सभी प्राणवान् 'प्राण' से ही अनुप्राणित होते हैं। 'प्राण– में ही जीते और 'प्राण में ही मिल जाते है । 'प्राण' शक्ति है । और, हम सभी शक्ति के ही रूप हैं ।

मुझे लगा– जैसे कोई शक्ति मुझे अनुप्राणित कर रही है, और वह शक्ति मातृ–शक्ति ही तो थी !

●

संदर्भ :– छान्दोग्य उपनिषद् अ. 5/1

ॐ

[तीन]

भारतीय आर्ष-दर्शन पूर्णतः समन्वयात्मक है । उसके विचारण की समन्विति में 'मन' का मनन, 'वाक्' का वचन और कर्म की क्रियान्विति सम्मिलित रहती है । आर्ष-विचारण पूर्णतः विज्ञान-विधा का अनुगामी है । यही कारण है कि वह 'विज्ञान' को 'ध्यान' से श्रेष्ठ मानता है । उसके अनुसार 'विज्ञान' में ही 'ध्यान', 'चित्त', 'संकल्प', 'मन', 'वाक्' और 'नाम' आदि सभी अन्तर्भूत रहते हैं ।

'विज्ञान' विधा हैं । इसके दो भाग हैं– 'विचारात्मक या सैद्धान्तिक' तथा 'प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक' । 'मनन' और 'वचन' विज्ञान का सैद्धान्तिक अथवा विचारात्मक आधार तैयार करते हैं तथा 'कर्म' विज्ञान का प्रयोगात्मक आधार बनता है । विचारात्मक पक्ष में प्राक्-कल्पना (Hypothesis) तथा 'सिद्धान्त' (Theory) आते हैं एवं 'कर्म' भाग में प्रायोगिक क्रिया। विचारण में 'विचारों' का प्रयोग होता है और कर्म-पक्ष में भौतिकीय प्रयोग । विचारात्मक प्रयोग अगर सटीक और सही हों तो भौतिक प्रयोग निश्चय ही विचारण को सम्पुष्ट करते हैं । विचारण अगर कर्म की पूर्व-गामी और सटीक हो तो 'कर्म' की सफलता निश्चित होती है । ऐसा विचारण ही सार्वकालिक और सार्वभौमिक होता है ।

देश-काल-परिस्थिति से प्रभावित और सम्पुष्ट विचारण-निष्कर्ष सिद्धान्त कहलाता है तथा सार्वकालिक और सार्वभौमिक सिद्धान्त 'नियम' कहलाता है।

आर्ष-विचारण की सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता की सिद्धि इसी बात से होती दीखती है कि वह आज भी प्रासंगिक है । आज भी वेद-उपनिषद-आयुर्वेद के विचार यथावत अथवा प्रकारान्तरतः प्रासंगिक हैं, सत्य हैं ।

आर्ष-विचारण में विश्लेषण-संश्लेषण और निष्कर्ष की निष्पक्षता तथा सटीकता इतनी उन्नत है कि उसकी शृंखला कहीं से भी टूटती नहीं नजर आती । 'निष्पक्षता' ही सार्वकालिकता और सार्वभौमिकता की पहली शर्त

होती है। यही कारण है कि आज का विज्ञानवेत्ता जिस 'शक्ति' (energy) को 'आदि-कारण' अथवा 'कार्य-कारण' मानते हुए द्रव्यात्मक सृष्टि का मूल आधार मानता है, वहाँ आर्ष-विचारक हजारों वर्ष पूर्व पहुँचा हुआ दीखता है। आज का वैज्ञानिक भी 'शक्ति' को शाश्वत और अविनाशी मानता है। आज के इस तथ्य को आर्ष-विचारक हजारों वर्ष पूर्व उजागरित कर चुके हैं। 'एक' से 'अनेक' की उत्पत्ति का आर्ष-निष्कर्ष आज की भौतिकीय द्रव्य-शक्ति के विवेचन में स्पष्टतः दीखता है।

वस्तुततः भारतीय 'ऋषि' पुरातन वैज्ञानिक हैं। आज का वैज्ञानिक प्रयोग-प्रधान हो गया है, जब कि पुरातन वैज्ञानिक सिद्धान्त-प्रयोग के समन्वय पर विश्वास करता था। उसका मजबूत सिद्धान्त-पक्ष, कमजोर प्रयोग-पक्ष को सन्तुलित करता था। वह 'विद्या'-रूप 'ज्ञान' और अविद्या-रूप 'कर्म' के समन्वय से सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक निष्कर्षों पर पहुँचता था।

भौतिकीय सृष्टि का पुरातन निष्कर्ष आज भी प्रासंगिक है, क्योंकि वह 'निष्पक्ष' और 'परमार्थिक' है। इसी संदर्भ में मैं आज आपको वैयक्तिक शरीर की रचना की कहानी सुनाती हूँ।

मंत्रमुग्ध सा सुनता हुआ मैं अब तक माँ को, निर्निमेष देखता ही रह गया था। कहानी की पूर्वव्याख्या सुनकर लगा कहीं कहानी जटिलता की ओर तो नहीं जायेगी! किन्तु मुझे अपनी माँ पर विश्वास है। जटिल को भी वह सरल बना देती हैं।

माँ ने कहा– "तब जगत का निर्माण नहीं हुआ था। वहाँ मात्र एक सर्वशक्तिमान था जो अद्वितीय शक्ति का निरूपक था। एक वही था जो इच्छा कर सकता था, चेष्टा कर सकता था। वह स्वयं में कार्य-क्रारण की एक अद्भुत शृंखला का निरूपक था। वह स्वयम्भू था। वह असीम, अनन्त और अविनाशी था। वह सर्वत्र और सर्वव्यापी था। वह एकाकी था। वह सचेष्ट और क्रियाशील था।

एकाकी वह, अपनी क्रियाशीलता में, कुछ-न-कुछ तो करता ही। उसने लोक-रचना की इच्छा की, और रचना के लिये क्रियाशील हुआ। वह 'स्रष्टा', सृष्टि का कारण था।

आर्ष-विचारण ने 'इच्छा' (ईक्षण) को क्रियाशीलता अथवा रचनात्मकता

की पहली शर्त कहा है । यही कारण है वहाँ सृष्टि का आदि-कारण इच्छा, संकल्प अथवा महत्तत्त्व-रूप 'बुद्धि' को माना गया है ।

शक्ति-रूप सर्वत्र-सर्वव्याप्त-अनन्त-असीम अविनाशी स्वयम्भू और उसका 'ईक्षण', ये दो मूल अवधारणायें, सृष्टि के विकासात्मक रूप की व्याख्या देती हैं । 'कुछ के अस्तित्व से सारा अस्तित्व विकसित हुआ' और 'विकास एक नियमबद्ध प्रक्रिया है'– ये दो बातें आर्ष-विचारणा की निष्पक्ष देन हैं । यह 'ईश्वरवादी' कहीं से भी नहीं, वह पूर्णतः भौतिकवादी है । 'कार्य-कारण' सन्दर्भित नियम (Law of Causation) की सुस्पष्ट व्याख्या है।

माँ की व्याख्या में अलौकिकता का सर्वथा अभाव देखकर मुझे खुशी हुई । मुझे लगा-मेरी माँ स्वयं में निरपेक्षता की प्रतिमूर्ति हैं

माँ ने कहा– विभिन्न लोकों की रचना करने के बाद परमात्मा-रूप परम शक्ति' जब वैयक्तिक शरीर की रचना की ओर बढ़ा तो उसे उसका प्रारूप बनाने की आवश्यकता महसूस हुई । वह एक समन्वयक था । उसने पहले 'जल' आदि सूक्ष्म महाभूतों से एक मूर्तिमान पुरुष का निर्माण किया। वह हिरण्यगर्भ पुरुष था । फिर उस 'पुरुष को लक्ष्य कर उसने संकल्प-रूप तप किया । उस पुरुष से अण्डे की तरह फूटकर 'मुख', अर्थात् मुख-छिद्र की उत्पत्ति हुई । उस मुख-छिद्र से 'वाक्' इन्द्रिय और रस-इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई । वाकेन्द्रिय से 'अग्नि' देव की उत्पत्ति हुई ।

मुख के बाद 'नासिका', अर्थात् नाक; नाक के बाद आँखें; आँखों के बाद कान, 'कान' के बाद त्वचा, त्वचा के बाद हृदय, हृदय के बाद नाभि, और फिर शिश्न का विकास हुआ ।

माँ ने समझाया– इन्द्रियों का यह विकासक्रम शारीरिक क्रियाओं की प्राथमिकता के आधार पर निर्धारित हुआ प्रतीत होता है । फिर भी, यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आर्ष-विचारक जीवन से सम्बद्ध प्रायः सभी विषयों के विज्ञाता थे । शरीर-विज्ञान का ज्ञान उन्हें आयुर्वेद के ज्ञान से प्राप्त था । आयुर्वेदीय विज्ञान के अभाव में वे मानव-मनोविज्ञान को समझ सकने में असमर्थ ही होते । मातृ-गर्भ में शिशु-विकास की प्रक्रिया को आर्ष-विचारक आयुर्वेदीय विज्ञान से ही जान पाये होंगे– ऐसा सोचना भी गलत नहीं होगा । वस्तुतः, सृष्टि-विकास की इस अवधारणा और मातृ-गर्भ में शिशु-विकास की

अवधारणा में एक अद्‌भुत साम्य दीख पड़ता है । इस दृष्टिकोण से यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि आर्ष-विचारकों का विकासात्मक दृष्टिकोण, आयुर्वेदीय विज्ञान की देन रहा था । वे सही अर्थ में विज्ञाता थे। वे विश्लेषक थे; वे द्रष्टा थे; वे समन्वयक थे । यही कारण है कि वे सर्व-द्रष्टा और सर्वज्ञ थे।

मेरी जिज्ञासा-शान्ति के बाद कहानी की मुख्य धारा की ओर मुड़ती हुई माँ बोली–

मुख के बाद नासिका के दोनों छिद्र उत्पन्न हुए । इन नासिका-छिद्रों से 'प्राण' की उत्पत्ति हुई । 'प्राण' से 'वायु' देव की उत्पत्ति हुई ।

फिर, दोनों आँखों के छिद्र प्रकट हुए; इन छिद्रों में से 'नेत्र'-इन्द्रिय की उत्पत्ति हुई । 'नेत्र-इन्द्रिय से 'सूर्य' प्रकट हुआ ।

इसी तरह कान, कान से श्रोत्र-इन्द्रिय, और श्रोत्र इन्द्रिय से दिशाओं की उत्पत्ति हुई ।

फिर त्वचा, त्वचा से रोम, रोम से औषधि एवं वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई ।

त्वचा के बाद हृदय की उत्पत्ति हुई । 'हृदय' से मन, और 'मन' से 'चन्द्रमा' की उत्पत्ति हुई ।

फिर नाभि, नाभि से 'अपान' वायु, और 'अपान' वायु से 'मृत्यु' देव की उत्पत्ति हुई ।

फिर, 'शिश्न' प्रकट हुआ । शिश्न से वीर्य, और वीर्य से जल उत्पन्न हुआ ।

सूक्ष्म से 'स्थूल' और स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ती निर्माण-प्रक्रिया की व्याख्या आर्ष-विचारण के सूक्ष्म और निष्पक्ष होने का अद्‌भुत साक्ष्य है। उनके विचार में सूक्ष्म तत्त्वों के समन्वयन से स्थूल की निर्मित्ति होती है और 'स्थूल' की 'शक्ति' सूक्ष्म में निहित होती है । 'सूक्ष्म' कारण-तत्त्व, अर्थात् सूक्ष्म महत्-तत्त्व, से निर्मित शरीर अथवा शारीरिक अवयव की शक्ति का 'देव-रूप', अर्थात् सूक्ष्म शक्ति-तत्त्व, में निहित होना आर्ष-दृष्टि की अपनी विशेषता थी । तभी तो सम्पूर्ण विश्व ने भारत को ज्ञान-गुरु माना था। आज भी पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' विश्व का आदर्श और वैज्ञानिक आधार पर

व्याख्यायित 'व्याकरण' और 'बौद्ध-धर्म', विज्ञान पर आधारित 'धर्म' समझा जाता है। 'व्याकरण' और 'धर्म', जीवन-दर्शन के दो प्रमुखतम आधार-स्तम्भ हैं। 'ज्ञान' और 'कर्म' की 'शुद्धि और सूक्ष्मता', जीवन-दर्शन को व्यापक बनाती है।

मेरी जिज्ञासाओं को शान्त करती माँ ने आगे कहा—

सभी 'देव' इन्द्रियों के विषयाश्रित थे। विषय की भूख ने उन्हें हिरण्यगर्भ पुरुष से अलग कर संसार-समुद्र में ला गिराया। 'विषय' वास्तविक होते हैं। 'विषय' की भूख विषय के उपभोग से ही मिटती है। और उपभोग के लिये त्रिविमिय वास्तविक शरीर की आवश्यकता होती है। विषय का धारण इसके बिना सम्भव नहीं होता।

देवों को अपने-अपने आहार के लिये शरीर, अर्थात् वास्तविक रूप में आने की अनिवार्यता महसूस हुई। स्रष्टा महाशक्ति ने उसे 'गाय' और 'अश्व' की रूपाकृति दिखलायी। वे 'देव' समन्वय के प्रतीक हैं। अकेले-अकेले उनका शरीर-धारण उन सबों के लिये निरर्थक था। एक ही प्राणवान् शरीर में समन्वयपूर्वक रहना उनकी अनिवार्यता थी। 'चार पैरो वाले' शरीर में उनकी स्वच्छन्दता असुरक्षित और अप्राप्य थी। फलतः उनके समक्ष दो पैरों वाले मानव-शरीर के प्रारूप की प्रस्तुती उन्हें अत्यन्त रुचिकर और सन्तोषप्रद लगी। वे खुश हुए। उन्होंने उस शरीर में अपने-अपने स्थान ग्रहण कर लिये। भोग-प्रधान देवों से 'भूख-प्यास' भी जोड़ दी गई। 'शरीर' और 'भूख-प्यास' से युक्त वह पुरुष ही आर्ष-विचारकों का भोक्ता-पुरुष कहलाया। वह वास्तविक था। 'अन्न' उसका आहार था।

सभी इन्द्रियों ने अन्न को देखकर उसे अपना-अपना भक्ष्य समझा और बारी-बारी उसे भोजन रूप में ग्रहण करने का प्रयास किया।

अब मैं अपनी हँसी नहीं रोक सका। बोल उठा— मुख को छोड़कर, कितनी अजीब स्थिति हुई होगी उन सबों की।

मुझे हँसते देख माँ भी हँस पड़ीं। माँ ने आगे कहा— आपने ठीक समझा। यही स्थिति जैसा कि आपने कहा, उनकी हो भी गई थी। यही स्थिति हो भी जाती है जब हम अनजान और अनधिकृत अवस्था में कोई कार्य करने जाते हैं। अपने कार्य का जब हमें ज्ञान हो जाता है तभी हम

सब कुछ एक सिद्धहस्त के रूप में करने मे समर्थ हो पाते हैं ।

माँ ने कहा– कहानी का यह रूप वस्तुतः समन्वयन की व्याख्या है। शरीर और इन्द्रियाँ, शारीरिक और ऐन्द्रियक कार्य, शरीर और मन, इन सभी का समन्वित कार्य ही जीवन के अस्तित्व की पहली शर्त्त है ।

आधुनिक जीव-विज्ञान के विकासवाद की रूप-रेखा को आर्ष-विचारणा में देखा जा सकता है । जल से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति, 'कमल-नाल' से ब्रह्मा की उत्पत्ति, अथवा जल के आश्रय में रहनेवाले 'नारायण' की अवधारणा आदि, वस्तुतः आर्ष-विचारण को विकासवादी ही सिद्ध करता है।

माँ ने कहा– हमें आर्ष-विचारण को 'विज्ञान' के दृष्टिकोण से, 'विज्ञान' के रूप में देखना होगा । उनकी विवेचना प्रायः त्रुटिहीन हैं । उनके विचारों को आज के शब्द व्याख्यापित नहीं कर सकते । उनके विचारों को समझने के लिये उनके ही शब्दों को समझना होगा ।

'ऋषि' वैज्ञानिक थे । जीवन-सन्दर्भित प्रायः सभी विषयों के विज्ञाता थे । प्रकृति उनकी प्रयोगशाला थी, प्राकृतिक वस्तुएँ 'उपादान', और प्राकृतिक जीवन 'प्रयोग' का विषय । उनकी सूक्ष्म दृष्टि ही 'प्रयोगविधि' थी और 'निष्कर्ष' था 'जीवन' की सार्वकालिक व्याख्या ।

'जीवन' के अस्तित्व के लिये उन्होंने ज्ञानमय कर्म को सर्वोच्चता दी थी । उन्होंने 'ज्ञान' और 'कर्म' को, अथवा 'बुद्धि' और 'अनुभव' को अलग-अलग रहने की स्वतन्त्रता कभी नहीं दी । स्पष्ट है– वे 'जीवन-दर्शन' के प्रणेता थे, और 'जीवन' को ही सृष्टि की जीवन्तता का कारण भी मानते थे । यही कारण है कि वे आयुर्वेद के विज्ञाता थे– औषधियों, वनस्पतियों के वे उन्नायक थे । उनका हर ज्ञान 'यज्ञ' के विज्ञान से प्रारम्भ होता दीखता है । उनके यज्ञों का पुरोहित 'अग्नि था । 'अग्नि' के वे विज्ञाता थे । अपने गुणों से 'अग्नि' वाक् की अधिष्ठितृ देव-शक्ति है ।

'वाक्' नाद से उत्पन्न होता है और 'आकाश' में अवस्थित होता है। 'आकाश' दिक्काल और सम्पूर्ण सृष्टि का अंश है । 'वाक्' का 'परा-रूप' मूलभूत शक्ति का प्रतीक है और 'पश्यन्ती' आत्मरूप सूक्ष्म सृष्टि का । 'परा' निर्विकल्प और 'पश्यन्ती' सविकल्प समाधि में ज्ञातव्य कहा गया है। ऋषि सर्वज्ञ हैं, सर्वद्रष्टा हैं, क्योंकि वे 'परा' और 'पश्यन्ती' के ज्ञाता हैं ।

इन्हें, विचारणा की दो, अर्थात् निर्विकल्प और सविकल्प, स्थितियों में देखा जा सकता है । मध्यमा में आकर वाक् विवेचित होकर अर्थ प्रदान करता है । 'वैखरी' वाक् श्रोतव्य है । जन-सामान्य विवेचित ज्ञान को जानता है- मूल से उसका कोई मतलब नहीं रहता । 'बैखरी' वाक् वस्तुतः वह ध्वन्यात्मक वाणी है जिसे हम सुनते हैं और जो मध्यमा में अर्थ पाकर हमें वस्तु को पहचानने तथा समझने का अवसर देता है ।

आयुर्वेद, वेद और उपनिषदों के समन्वित ज्ञान की दृष्टि से देखें तो भारतीय आर्ष का जीवन-दर्शन स्पष्ट दीख पड़ता है । उसके अनुसार 'जीवन' एकांगी नहीं । वह बहुलता का समन्वय है । आर्ष-विचारकों का 'ब्रह्म' भी उसी समन्विति का परतम (Summum) रूप है । वह अपनी समन्विति के 'परतम'-रूप में 'ब्रह्म' है, 'अद्वैत' है; और विश्लेषित रूप में 'व्यक्ति' है । 'व्यक्ति' स्वतंत्रता का परिचायक है; और 'ब्रह्म', समानता और सौहार्द्रता के आधार पर समन्वित सभी 'स्वतन्त्रों' के समन्वित रूप का । यही कारण है कि आर्ष-विचारक सम्पूर्ण 'ब्रह्माण्ड' या सम्पूर्ण सृष्टि को एक मानवाकृति के रूप में देखता है, और मानवीय गुणों को उसमें आरोपित करता है ।

भारतीय आर्ष का यह व्यापक मानवीय गुण, जो 'ब्रह्म' में आरोपित होता है, 'ब्रह्म' का अंग होने के कारण अनिवाशी है, अपरिवर्तनीय है । आज के वैयक्तिक स्वातंत्र्य के दृष्टिकोण को महत्त्व देकर 'समानता' और 'सौहार्द्रता' को भूलनेवाले हम, स्वयं के साथ-साथ, सम्पूर्ण सृष्टि को सर्वनाश की ओर ही तो ले जा रहे हैं ! कर्म के लिये स्वतन्त्र हम अपनी असीम शक्ति को तो पहचान गये हैं, किन्तु अपनी अदूरदर्शिता में 'जीवन' के समन्वय, 'उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य', की सीमा को भूल गये हैं । हम अपने दायित्व और कर्तव्य को भूल सकते हैं, प्रकृति नहीं भूलती । वह हर हमेशा अपनी नियमबद्धता में रहती है । नियम टूटने से उसे विखराते भी देर नहीं लगती ।

माँ गम्भीर थीं । किन्तु, मेरे सारे संशय जैसे काफूर हो चुके थे । मैं माँ के गले लग, सोने का उपक्रम करने लगा । ऐसी महान और विदुषी माँ का पुत्र होना मेरे लिये गौरव की बात है ।

●

संदर्भ : ऐतरेय उपनिषद्: प्रथम अध्याय

'ॐ'

[चार]

उपनिषद्-काल की बात है। 'ब्रह्म' और आत्मा के सन्दर्भ में विचार करते हुए पाँच महागृहस्थ, जो महाश्रोत्रिय भी थे, एकत्रित हुए। उनके नाम थे– 'प्राचीनशाल', 'सत्ययज्ञ', 'इन्द्रद्युम्न', 'जन', और बुडिल।

माँ ने समझाया– 'महागृहस्थ' या 'महाशाल' शब्द से 'बड़े' एवं धनी ओर 'महाश्रोत्रिय' शब्द से 'शास्त्रों के विज्ञाता' तथा 'सदाचार से सम्पन्न व्यक्ति' का बोध होता है।" फिर बोलीं–

"सन्दर्भित विषय पर विचार करते हुए वे परस्पर एकमत नहीं हो सके। उन्होंने निश्चय किया कि सन्दर्भित विषय का ज्ञान उसके अध्येता, 'उद्दालक' से प्राप्त किया जाय। निश्चय के अनुसार वे पाँचों ऋषि 'उद्दालक' के पास पहुँचे।"

ऋषि 'उद्दालक' स्वयं को सन्दर्भित विषय की व्याख्या करने में असमर्थ देख रहे थे। उन्होंने निश्चय किया कि वे सभी इस विषय के विशेषज्ञ कैकेयराज 'अश्वपति' से जानकारी लेंगे। वे सभी कैकेयराज के पास पहुँचे।"

माँ ने कहा– "एक ओर ऋषि 'उद्दालक' समेत छहों व्यक्ति ब्राह्मण-ऋषि थे और दूसरी ओर कैकेयराज 'अश्वपति' क्षत्रिय। किन्तु, तब ज्ञान के क्षेत्र में न तो वर्ण का कोई महत्त्व था और न ही पद का। ज्ञानार्थी को जहाँ गुरु चुनने की स्वतन्त्रता थी, वहाँ गुरु को पात्रता के आधार पर ज्ञान देने का अधिकार भी होता था। यह वह समय था जब ज्ञान की भूख-प्यास जहाँ भी मिट सकती थी, उसका भूखा-प्यासा बिना ऊँच-नीच का ख्याल किये, वहाँ जाकर ज्ञानार्जन के लिये अपने को प्रस्तुत करता, और गुरु उसकी पात्रता देखकर सन्दर्भित ज्ञान देते थे।

माँ ने मेरी जिज्ञासा शान्त की और कहानी की कड़ी को पकड़ते हुए कहा–

"राजा अश्वपति के लिये वे सभी ऋषि आदरणीय थे। उन्होंने उन सभी ऋषियों का आदर-सत्कार किया और उन्हें धन का याची समझकर

धन-ग्रहण करने का अनुरोध किया । माँ ने जानकारी दी-उन दिनों ऋषि अपने गुरुकुल और अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं के लिये किसी भी योग्य गृहस्थ अथवा राजा से धन की याचना कर सकते थे ।"

फिर बोलीं- अर्पित धन का ग्रहण न कर ऋषियों ने राजा को दुविधा में डाल दिया । राजा सोचने लगे-

"कहीं मेरे सदाचार में, अथवा मेरे राज्य में फैली सदाचारिता में किसी कमी को देखकर तो ये ऋषि धन ग्रहण करने से मना नहीं कर रहे हैं ! मेरे राज्य में तो कोई कदाचार दीखता नहीं । यहाँ न तो कोई चोर है और ना ही कुछ कदर्थ । न ही कोई मद्यपायी ब्राह्मण है और ना ही कोई पात्रता-प्राप्त व्यक्ति अविद्वान । यहाँ कोई दुराचारी या दुराचारिणी भी तो नहीं है ! फिर ऐसा क्या है जो ये ऋषि धन ग्रहण नहीं कर रहे ?"

राजा 'अश्वपति' ने ऋषियों से अपने मन की बात कही । राजा ने यह भी अनुरोध किया कि वे अगर चाहें तो 'यज्ञ' के अवसर पर ही धन-ग्रहण करें । राजा ऋषियों का यथेष्ट आदर करने को विकल थे । ऋषियों को खुश करना राजा का धर्म था ।

राजा की विकलता देख ऋषियों ने स्पष्ट किया- उन ऋषियों का आगमन धन के लिये नहीं, वरन् ज्ञान के लिये था । उन ऋषियों की ओर से ऋषि उद्दालक ने कहा- "आप वैश्वानर आत्मा के गहन ज्ञाता हैं । आपसे हम उसी ज्ञान के याचक हैं ।

माँ ने समझाया- "जहाँ कहीं, अथवा जिस किसी के यहाँ भी हम किसी प्रयोजन से जाते हैं, हमें अपने आगमन का प्रयोजन वहाँ जाकर स्पष्ट कर देना चाहिये । प्रयोजन स्पष्ट हो जाने से दोनों पक्षों के बीच की आनुमानिक दुविधा समाप्त हो जाती है; प्रयोजन पर काम करना आसान हो जाता है; और समय की बचत होती है ।"

ऋषियों के आगमन का प्रयोजन जानकर राजा अश्वपति विचलित हुए। 'वैश्वानर आत्मा' का ज्ञान क्षत्रिय गृहस्थ के ही अधीन रहा था । ब्राह्मण इसे नहीं जानते थे । 'उद्दालक' और उनके साथी ऋषि ऐसे पहले ब्राह्मण थे जिन्हें यह ज्ञान दिया जाने वाला था ।

ज्ञान के याचक ऋषियों को राजा बिना ज्ञान-दान दिये नहीं लौटा सकते थे। इससे राजा की मर्यादा पर आँच आती। माँ ने कहा- राजा को अब एक आचार्य के रूप में व्यवस्थित होना था। उन्होंने ऋषियों को दूसरे दिन अपने पास आने का निर्देश दिया।

ऋषि दूसरे दिन शिष्य रूप में, अपने-अपने हाथों में समिधा लिये, राजा के पास निर्धारित समय पर पहुँचे। वे योग्य पात्र तो थे ही, साथ ही द्विज भी थे। राजा ने उनका उपनयन करने की आवश्यकता नहीं समझी। राजा अश्वपति ने उन ऋषियों को 'वैश्वानर आत्मा' का ज्ञान दिया।

माँ ने समझाया- 'ऋषिगण' ब्राह्मण कुल के तथा आचार्य के पद पर थे। फिर भी उनका छात्ररूप में ज्ञान के लिये प्रस्तुत होना, न केवल उनकी विनम्रता को दर्शाता है, वरन् गुरु-शिष्य परम्परा और उसके नियम अनुपालन की दृढ़ता को भी दर्शाता है। ब्राह्मणों का, एक क्षत्रिय के सम्मुख, शिष्य रूप में प्रस्तुत होना गुरु-पद की गरिमा को स्पष्ट करता है। आचार्य निम्न कुल का हो, अथवा बालक, अर्थात उम्र या पद में छोटा, शिष्य का पूज्य और पितृतुल्य ही होता है।"

माँ ने गुरु-शिष्य सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा- इस सन्दर्भ में मैं आपको मनुस्मृति में उद्धृत एक छाटी-सी कहानी सुनाती हूँ-

"'अंगिरा' के विद्वान बालक पुत्र ने अपने चाचा आदि को पढ़ाया। उसने उन चाचा आदि को, जो उनसे पद और आयु दोनों में बड़े थे, आचार्य रूप में ज्ञान दिया था। वे उसके शिष्य थे। बालक-आचार्य ने अपने शिष्यों को 'पुत्र' शब्द से सम्बोधित किया। 'पुत्र'-सम्बोधन, उन चाचा आदि को बुरा लगा और वे क्रुद्ध भी हुए। उन्होंने देवताओं, अर्थात् अधिक विद्वानों से इसका स्पष्टिकरण चाहा। देवताओं ने एकमत हो उनसे स्पष्ट किया- "बालक अज्ञ अर्थात् ज्ञानरहित होता है। दूसरे शब्दों में जो 'अज्ञ' है, वह 'बालक' के समान है। मन्त्रदाता पितृ-तुल्य होता है। इस तरह 'मन्त्र-दाता' अज्ञ व्यक्ति को 'पुत्र' कहने का अधिकारी होता है।"

माँ ने आगे कहा- "कोई आयु से बड़ा नहीं होता और ना ही पद से बड़ा होता है। बड़ा वही होता है जो ज्ञान में बड़ा होता है, ज्ञान देने में समर्थ होता है। व्यक्ति आयु से 'वृद्ध', अर्थात् 'बढा हुआ' नहीं होता, ज्ञान से वृद्ध

होता है ।" [मनुस्मृति 2/151-156]

माँ ने कहा- " हमें सीखने के लिये विनम्र होना पड़ेगा; अनुशासित होना पड़ेगा; शिक्षक के प्रति आदर और निष्ठा रखनी होगी ।

शिक्षक को भी चाहिये कि वे अपने शिष्यों को शिक्षा देते समय उनकी सन्तुष्टि को देखें, मात्र अपने कथन को ही मान्य न समझें । शिक्षक का कर्तव्य है- वे शिष्यों की हर शंका का समाधान करें ।"

माँ स्वयं लोकप्रिय शिक्षिका हैं । शिक्षा के महत्त्व को वे अच्छी तरह जानती हैं । यही कारण है- वे मुझे 'डाक्टर-इंजिनीयर' बने देखने के बदले महान् और विद्वान् बना देखना चाहती हैं ।

मुझे अपनी माँ पर गर्व है ।

●

संदर्भ :- छान्दोग्य अध्याय- 5, खण्ड- 11

'ॐ'

[पाँच]

माँ ने कहा– हम पढ़ते-पढ़ाते हैं। यह हमारा उत्तरदायित्व भी है और कर्तव्य भी। पठन-पाठन, उत्तरदायित्व-कर्तव्य, परस्पर के वैयक्तिक सम्बन्धों को जन्म देते हैं। व्यक्ति परस्पर के सम्बन्धों को समझकर ही संगठन का निर्माण करता है। संगठन का आदर्श-रूप शरीर है और आदर्श-इकाई 'परिवार'।

माँ ने समझाया– परस्पर का सम्बन्ध समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व भावना पर आधारित होता है। 'भातृत्व' वस्तुतः 'सदभाव-स्नेह-दया' की समष्टि, और 'सौहार्द्रता' का पर्याय है। 'सौहार्द्रता' मित्रता को जन्म देती है। 'मित्रता' परस्पर के सम्बन्ध की व्याख्या है। इसमें हर सम्बद्ध परस्पर एक दूसरे से समादरित होता है। 'समादर' स्वतन्त्रता और समानता की व्याख्या करता है। एक स्वतन्त्र दूसरे स्वतन्त्र को समान आदर की दृष्टि से देखता और स्वतन्त्र रूप में ग्रहण करता है। 'व्यक्ति' हो या 'देश', जब परस्पर साथ-साथ रहने और संघटन तैयार करने को तत्पर होते हैं, तब उनमें से कोई छोटा हो या बड़ा, कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे परस्पर समान, स्वतन्त्र और भ्रातृ-भाव के साथ-साथ रहते हैं। 'बड़े' छोटे को, और छोटे बड़े को स्नेह तथा आदर देते हैं। वहाँ बड़े-छोटों में मालिक-गुलाम का सम्बन्ध नहीं होता। फिर, माँ ने आगे कहा- परस्पर का सम्बन्ध कर्म-विशेष पर आधारित होता है। 'कर्म' के प्रति सम्बद्धों की 'निष्ठा' सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाती है। 'कर्म' के प्रति हमारी 'निष्ठा' ही हमारे कार्य को सफल बनाती और हमें लक्ष्य तक पहुँचाती है।"

"'कार्य', अर्थात् 'लक्ष्य' को सफलता-पूर्वक सम्पन्न या प्राप्त करने के लिये 'लक्ष्य' का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। 'ज्ञान' के अभाव में 'कर्म' के प्रति 'निष्ठा' नहीं होती। और 'कर्म' के प्रति 'निष्ठा' की कमी 'लक्ष्य' या उद्देश्य, या प्रयोजन को प्राप्त करने में बाधक होती है। 'निष्ठा' व्यक्ति में स्थितिज शक्ति-रूप है, जो इच्छा-शक्ति से क्रियाशील होती है। 'इच्छा' क्रियात्मक शक्ति है जो दिशा-विशेष की ओर कार्य करती है। व्यक्ति की रचनात्मकता इसी क्रियात्मक शक्ति की देन है। 'उद्देश्य' या 'प्रयोजन' से 'सम्बन्ध' बनते हैं।"

'शिक्षक' और 'शिक्षार्थी' के बीच का सम्बन्ध 'शिक्षा' के प्रयोजन से बनता है । इस 'सम्बन्ध' की प्रगाढ़ता 'शिक्षा-रूप' 'प्रयोजन' के प्रति दोनों, अर्थात् 'शिक्षक' और 'शिक्षार्थी', की निष्ठा पर निर्भर करती है । दोनों की निष्ठा तब तक 'शिक्षा' में, अर्थात् प्रयोजन में, नहीं होती, जब तक कि वे अपेक्षित शिक्षा के लक्ष्य का ज्ञान नहीं रखते, उसके प्रयोजन को नहीं जानते। 'शिक्षार्थी' अगर अपेक्षित शिक्षा के लिये परिपक्व नहीं हुआ हो; 'शिक्षक', अगर 'शिक्षा' के प्रति 'शिक्षार्थी' के मन में रुझान पैदा नहीं कर सके तो स्वयं 'शिक्षा' का प्रयोजन असफल हो जाता है ।"

'ज्ञेय' के प्रति 'जिज्ञासु' का भाव वस्तुतः 'आवश्यकताजनित विश्वास' का होता है । विश्वास की सफलता से ही श्रद्धा और निष्ठा का उद्‌भव होता है । विश्वास, श्रद्धा, और निष्ठा के अभाव में 'जिज्ञासु' जिज्ञासु बन ही नहीं पाता। 'भक्ति' का आधार यही 'जिज्ञासा' और 'विश्वास' है । 'भक्ति' वस्तुतः विश्वासमय जिज्ञासा है । जानने की इच्छा, प्राप्त करने की इच्छा, उसमें लीन हो जाने की इच्छा एक साथ 'जिज्ञासु में नहीं आतीं । 'जानने की इच्छा' से 'प्राप्त करने या साक्षात प्रत्यक्ष करने की इच्छा' उत्पन्न होती है। फिर, प्रत्यक्ष करने के बाद उसमें मिल जाने की इच्छा होती है। ज्ञान का विकास और लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि 'साधक', 'साधन' और 'प्रयोजन' के बीच का सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण हो; स्वतन्त्र होते हुए भी समानता पर टिका हो; स्वतन्त्र और समान होते हुए भी अनुशासनात्मक हो।

'अनुशासन' वस्तुतः मालिक-गुलाम के सम्बन्ध का द्योतक नहीं, और ना ही वह 'दण्ड' का अभिप्राय रखता है । 'अनुशासन', वस्तुतः 'क्रमबद्धता' का बोधक है । 'जानकारी' जब क्रमबद्ध होती है, 'ज्ञान' को जन्म देती है; 'ज्ञान' जब विषय-विशेष से सम्बद्ध होता है 'विज्ञान' को जन्म देता है । 'अनुशासन' वस्तुतः शृंखला-निर्माण का नाम है ।

आर्ष-विचारक जब सत्त्व, रज और तम जैसे तीन गुणों की अवधारणा देते हैं, अथवा सृष्टि के त्रिगुणात्म होने की बात करते हैं, तो वे वस्तुतः सृष्टि को उस शृंखला-रूप में अनुशासित देखते हैं, जो तीन रस्सियों की क्रमिक 'ऐंठन' या मिलन से बनती है । यह 'ऐंठन' दण्ड का निरूपक नहीं होती, वरन् 'रज्जु' या रस्सी में उनके 'यथास्थान रखे जाने की क्रमिकता एवं घनिष्टता का प्रदर्शन है । यही कारण है कि उपदेश को 'अनुशासन' अथवा

'उप-आदेश' भी कहा जाता है। त्रिगुणात्मकता, त्रिविमियता, त्रिकालिकता, त्रिलोकत्व, त्रिवृत्तता, आदि सारी आर्ष-अवधारणाएँ एक क्रमिक एवं शृंखलाबद्ध मौलिक अवस्थिति का निरूपण करती दीखती हैं। शिक्षा के प्रयोजन की सिद्धि के लिये अनिवार्य है कि निष्ठा-श्रद्धा-विश्वास की रस्सी से 'शिक्षार्थी-शिक्षक-शिक्षा' के प्रयोजन को बाँधा जाय । 'उपदेश' शब्द का अर्थ भी यह ही है।

जिस तरह हम अपनी इच्छित और प्रिय वस्तु को अपने अथक परिश्रम से भी प्राप्त कर लेना चाहते हैं, उसे सहेजकर रखते और सावधानी से औरों के सामने उसका प्रदर्शन करते हैं, उसी तरह हमें हमारा प्रयोजन भी प्रिय होता है। उसे प्राप्त करने के लिये हम अथक परिश्रम करते हैं। शिक्षार्थी के लिये शिक्षा अगर प्रिय है तो वह अपने अथक परिश्रम से उसे प्राप्त करता है, जगत में स्वयं प्रसिद्ध होता है, और शिक्षा तथा शिक्षक को भी विख्यात करता है।

कोई भी 'प्रयोजन' अपनी सफलता में ही लाभप्रद सिद्ध होता है। 'प्रयोजन' की असफलता वैयक्तिक असफलता होती है। असफलता व्यक्ति को तोड़ भी सकती है, उसे दृढ़तर भी बना सकती है।

माँ ने कहा– "वे, जो दृढ़व्रती होते हैं, सफलता उन्हीं के कदम चूमती है। सफलता से व्यक्ति के आत्मविश्वास में वृद्धि होती है। आत्मविश्वास की वृद्धि से व्यक्ति का 'व्यक्तित्व' निखरता है। व्यक्तित्व के निखार का अर्थ है 'अज्ञानता से मुक्ति'।" 'शिक्षा', 'शिक्षार्थी' और 'शिक्षक' का भी प्रयोजन यही है। 'अज्ञानता' की तुलना आर्ष-विचारकों ने अन्धकार से की है। जिस तरह 'अन्धकार' में हमें कुछ दिखाई नहीं पड़ता उसी तरह 'अज्ञानता' में हमारा सारा प्रयोजन निष्फल हो ज्ञाता है। आर्ष-विचारकों की अवधारणा के अनुसार 'ज्ञान' और 'कर्म' का समन्वित रूप 'प्रज्ञानघन' है, जो अपने अद्वैत रूप में उनका 'आत्मा', 'परमात्मा' या 'ब्रह्म-परब्रह्म' है।

वस्तुतः 'ज्ञानमय कर्म' जीवन का, विशेषतः वैयक्तिक जीवन का, व्यवस्थापक अवयव है। वैयक्तिक जीवन की सान्तता के समक्ष 'ज्ञान' की सीमा 'अनन्त' सिद्ध होती है। वैयक्तिक जीवन की आधी अवधि 'ज्ञान को

समझने में ही व्यतीत हो जाती है । शेष आधी अवधि में से अधिक अथवा पूर्ण, जीविकोपार्जन और ऐन्द्रियिक सुख-भोग में ही चली जाती है । यही कारण है कि आर्ष जीवन-दर्शन प्रारम्भ से ही वैयक्तिक उत्थान का हिमायती है । 'संस्कारों' के बीच पलता शिशु, किशोरवय तक आते-आते संयमित हो जाता है । वयस्कता उसे धर्मयुक्त आजीविका ग्रहण करने को प्रेरित करती है । इस अवधि में वह पितर-ऋण से मुक्त होता है । वृद्धावस्था उसे ऋषि-ऋण से मुक्ति का अवसर देती है, जब वह ज्ञान-दान की ओर अभिप्रेरित होता है । आयु से वृद्ध व्यक्ति 'वृद्ध' नहीं होता, व्यक्ति 'वृद्ध' होता है ज्ञान से।

आज दुनियाँ छोटी हो गयी है । सारा विश्व औद्योगिक क्रान्ति के महाजाल में ज्ञानमय कर्म के पाठ को भूल-सा गया है । आज वह मात्र 'धन' की अपेक्षा रखता है, 'ज्ञान' की नहीं । आज वह 'धन' से धर्म खरीदता है, 'धर्म' से धन अर्जित करने में कतराता है ।

आज व्यक्ति अपने भौतिक अस्तित्व को महत्त्व देता हुआ मात्र ऐन्द्रियक सुख को ही महत्त्व देता दीखता है । शरीर-भोग को, अर्थात् विषय-भोग को ही महत्त्व देता हुआ वह जीवन में 'विवेक'-तत्त्व को गौण कर देता है ।

आज की भौतिकवादी सभ्यता अपने आत्मिक अर्थात् प्रज्ञानात्मक सुख, जहाँ समष्टि का विशेष महत्त्व है, को भूल-सी गई है । बौद्ध-धर्म के अष्टाङ्ग मार्ग की 'सम्यक् आजीव', अर्थात् 'यथार्थ कर्म से उचित जीविका' सम्बन्धी अवधारणा आज गौण हो गयी है । 'यथार्थ कर्म का अर्थ होता है कर्तव्य-कर्म । 'कर्तव्य-कर्म' वस्तुतः 'ज्ञानमय कर्म' का पर्याय है ।

आर्ष-विचारक सम्पूर्ण सृष्टि को प्राणवान् 'मानव' के रूप में देखते हैं। उनका यह 'मानव', शुद्ध 'प्रज्ञानघन', शुद्ध विवेक और कर्तव्य-कर्म का निर्धारक है । दूसरे शब्दों में ज्ञानमय कर्म से ही प्रयोजन सिद्ध होते हैं; जीवन उन्नत होता है; समानता, स्वतंत्रता और सौहार्द्रता का विकास होता है । 'व्यक्ति' वैयक्तिक अस्तित्व से ऊपर उठकर आद्वैतिक-अस्तित्व की ओर अग्रसर होता है । आद्वैतिक-अस्तित्व की अवधरणा पारस्परिक सौहार्द्रता की देन और नैतिकता का आधार है ।

अन्ततः माँ ने कहा– "हमें अपने प्रयोजनों को जानना चाहिये, उसके दर्शन (Philosophy) को समझना चाहिये ।"

"प्रयोजन की समझ उसके कार्यान्वयन को आसान बनाती है । प्रयोजन की सफलता के लिये ज्ञानमय कर्म का ज्ञान अनिवार्य होता है ।

"ज्ञान और कर्म का समन्वय ही प्रयोजन की सफलता की कुंजी है ।"

माँ ने मेरी ओर देखा । फिर मुझे अपने आप में अभिभूत देखकर अपने सीने से लगा सोने, का उपक्रम करने लगीं । मैं अपनी माँ के द्वारा दी गई व्याख्या से अभिभूत था । मुझे लगा– मेरी माँ व्यक्ति नहीं, पूर्ण 'मानव' है– मननशील, विवेकशील, ज्ञानमय कर्म की प्रतिमूर्ति ।

●

संदर्भ :- वृहदारण्यक, अध्याय- 4, ब्राह्मण- 5

'ॐ'

[छः]

'भृगु' वरुण के पुत्र थे। उन्हें 'ब्रह्म' की जिज्ञासा हुई। वे पिता वरुण से उपदेश सुनने को तत्पर हुए।

वरुण ने कहा– "अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी ये सभी 'ब्रह्म' की उपलब्धि के साधन हैं।" फिर कहा– "ये प्रत्यक्ष दीखनेवाले 'प्राणी' जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसके सहारे जीवन व्यतीत करते हैं, और अन्ततः जिसमें विलीन हो जाते हैं, वस्तुतः वही 'ब्रह्म' है।"

माँ ने समझाया– 'हम अगर अपने नेत्रों, कानों, वाणी और मन को 'सजग- रखें तो, 'काल' या 'समय' का हर पल हमें कुछ नया सीखने को अवसर देता है। 'सजगता' प्राण या चेतना का कार्य है। 'ब्रह्म' को वस्तुतः कारण–शक्ति माना गया है। आर्ष–विचारों में कारण–शक्ति के रूप में 'ब्रह्म' को ही ज्ञेय माना गया है। वरुण ने अपने पुत्र–शिष्य को उसी 'ब्रह्म' को जानने की प्रेरणा दी।

भृगु 'ब्रह्म' को जानने के लिये तपस्या में लीन हुए। 'तपस्या' वस्तुतः पूर्वाग्रहरहित, निष्पक्ष, शुद्ध मनन–चिन्तन का निरूपक है।

भृगु ने प्रथम–दृष्ट्वा 'अन्न' को 'ब्रह्म' माना। उन्होंने सोचा– 'अन्न से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्न से ही जीते हैं, और अन्त में अन्न के कारक–तत्त्व में ही समाहित हो जाते हैं।"

भृगु ने अपनी यह विशिष्ट जानकारी अपने पिता–आचार्य को दी। पिता ने उसे अमान्य कहकर पुनः 'तप' का निदेश दिया।

इस बार भृगु ने 'प्राण' को 'ब्रह्म' के रूप में जाना। पिता ने इसे भी अमान्य कहा। भृगु फिर तपस्या में लीन हुए। इस तरह बारी–बारी तपस्या कर उन्होंने प्राण के बाद, 'मन', 'मन' के बाद 'विज्ञान' को 'ब्रह्म–रूप' में जाना। हर बार आचार्य–पिता ने उनके विचार को अमान्य माना। अन्ततः भृगु ने 'आनन्द' के रूप को 'ब्रह्म' समझा।

'अन्न' से लेकर 'आनन्द' तक 'भृगु' की ज्ञानार्जन–यात्रा में 'वरुण' को उनके ज्ञान को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ने का आभास मिलता

है । 'अन्न' स्थूल है । अन्न से सूक्ष्म 'प्राण' है । 'प्राण' से सूक्ष्म 'मन' और 'मन' से सूक्ष्म 'विज्ञान' है । 'विज्ञान' से सूक्ष्म है– 'आनन्द' ।

'अन्न' स्थूल-जड़तत्त्व को निरूपित करता है । 'प्राण और मन' सूक्ष्म जडतत्त्वों के निरूपक है ।'जीवात्मा' विज्ञान द्वारा निरूपित होकर 'विज्ञानस्वरूप' कहलाता है । 'जीवात्मा' चेतन है । 'आनन्द' इनसे भिन्न और अतिसूक्ष्म है । वह सर्वत्र और सर्वव्यापक है ।

भृगु को लगा– 'आनन्द' से सभी प्राणी उत्पन्न होते, आनन्द से ही जीते और इस लोक से प्रयाण करते हुए अन्ततः आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं ।"

'ब्रह्म' या 'परमात्मा' आनन्दमय है, आनन्दघन है । आनन्दमय परमात्मा ही सभी वस्तुओं, सभी प्राणियों की अन्तरात्मा है । आनन्द में ही, और आनन्द के लिये ही, सभी प्राणियों की सारी चेष्टाएँ होती हैं ।

माँ ने आगे कहा– 'आनन्द' सत्-शक्ति और चिद्-शक्ति का विषय है । सत् और चेतन का संयुक्त रूप ही आनन्द का आश्रय बनता है । यही कारण है कि 'ईश्वर' को 'सत् चित आनन्द घन' अथवा 'सच्चिदानन्दघन' कहा जाता है । स्पष्ट है कि 'ईश्वर' 'चेतन सत्य' अथवा 'सत्य-चेतना' से भिन्न नहीं । जड-चेतन के अभेद का ज्ञान ही 'ब्रह्म-ज्ञान' है । 'जड-चेतन' की संयुक्त एकात्मकता ही 'ब्रह्म' अथवा 'चरम-सत्ता' है । वह नित्य है । वह व्यक्तित्व है । सत्य निरपेक्ष होता है । देश-काल-परिस्थिति से प्रभावित 'सत्य' का कारण भी वह निरपेक्ष सत्य ही होता है । 'न्युटन का गति-नियम' दो सौ वर्षों तक 'सत्य' रहा, आइंस्टाइन के सिद्धान्तों ने उसे पृथ्वी की परिधि तक सीमित कर अन्तरिक्ष के सत्य से अलग कर दिया; अब अन्तरिक्ष का सत्य भी ग्रहों और आकाश-गंगाओं के सत्य से अलग हो जाये तो आश्चर्य नहीं होगा । किन्तु, इन सच्चाइयों में भी एक ही सच्चाई होगी और वह गणनात्मक होगी । क्योंकि इनका यह दिक्-कालिक भेद भी किसी विशिष्ट स्थिति में ही देखी जाती है । आज हमें उस 'निरपेक्ष सत्य' का ज्ञान नहीं, परन्तु आनेवाला समय हमें उसकी व्याख्या अवश्य देगा ।

●

संदर्भ :- तैत्तरीय उपनिषद, भृगुवल्ली अनुवाक्- 1 से 6

'ॐ'

[सात]

'देव' और 'दानव' अथवा 'सुर' और 'असुर' प्रायः विरोधात्मक समझे जाते हैं। 'देव' या 'सुर' भोग-प्रधान होते हुए भी सर्वकल्याण के हिमायती हैं, जब कि 'दानव' या 'असुर' क्रोध-हिंसा प्रधान होने के कारण सर्वकल्याण से अलग स्व-कल्याण के समर्थक। 'देव' अमर्त्य हैं, और 'दानव' मरण-धर्मा। सर्वकल्याण की 'शक्ति' में 'सार्व' का सहयोग सम्मिलित रहता है, और 'स्व-कल्याण' में उसका अभाव। फलतः अधिसंख्य और शक्तिसम्पन्न होते हुए भी 'असुर' या 'दानव' देवों से हार जाते हैं। 'सार्व' का प्रतीक 'परब्रह्म' अथवा 'ब्रह्म' देवों का पक्षधर है; दानवों के विरुद्ध उसके संग्राम में वह देवों के पक्ष में होता है।

एक बार देव-दानव की लड़ाई में 'ब्रह्म' ने देवताओं को अपरोक्ष रूप से सहायता की। देवों को असुरों पर विजय मिली। देवों को अपने बल पर घमण्ड हो आया। 'ब्रह्म' ने यह देखकर, और 'घमण्ड' को विनाश का कारण जानकर देवों को सावधान करने की इच्छा की।

'घमण्ड' वस्तुतः अपनी क्षमता को अधिक आँकने का प्रतिफल है। 'घमण्ड' स्वयं प्रमाद का कारण है। क्षमता को अधिक आँकना और आलस्य में पड़ जाना, व्यक्ति को अपने कर्तव्य-कर्म से विरत करता है। 'कर्तव्य-कर्म से विरत, भोग में लिप्त देव, अपनी शक्ति को क्षीण होता हुआ देख सकते थे, असुरों के हाथों परास्त हो सकते थे। असुरों का वर्चस्व इससे अत्यधिक बढ़ सकता था। तब, संसार रहने के लायक नहीं भी रह जा सकता था।' 'परब्रह्म', अर्थात् 'सार्व-अस्तित्व' के लिये यह चिन्ता का विषय बन गया था।

'ब्रह्म' ने देवों को उनकी वास्तविक क्षमता का ज्ञान दिलाने के अभिप्राय से अपने को 'यक्ष' के रूप में उनके समक्ष प्रकट किया। देवगण यक्ष की वास्तविकता नहीं जान पाये थे। उन्हें उस 'यक्ष' को जानने की प्रबल इच्छा हुई। 'देव' जिज्ञासा की प्रतिमूर्ति हैं।

देवराज 'इन्द्र' ने 'अग्नि' को 'यक्ष' की जानकारी के लिये भेजा।

'अग्नि' को परम तेजस्वी, वेदज्ञ, समस्त जात-पदार्थों का ज्ञान रखनेवाले 'जातवेदा' के रूप जाना जाता है। 'जातवेदा' के रूप में अग्नि को 'सर्वज्ञ' माना जाता है। इस रूप में 'अग्नि' को अपनी बौद्धिक क्षमता पर घमण्ड था।

'यक्ष' के पास पहुँचकर अग्नि ने अपना परिचय पूछे जाने पर घमण्डपूर्वक कहा– 'मैं अग्नि हूँ। मैं ही 'जातवेदा' नाम से प्रसिद्ध हूँ। यदि मैं चाहूँ तो इस सारे भू-मण्डल में जो कुछ भी देखा जाता है, सबको जलाकर इस क्षण ही राख कर सकता हूँ।"

'अग्नि' की गर्वोक्ति सुनकर 'यक्ष-रूप' परब्रह्म ने अग्नि को उनकी दाहक-शक्ति देनी बन्द कर दी, और एक तिनका उनके समक्ष रखकर उसे जला डालने का अनुरोध किया। 'अग्नि' को अपनी दाहक-शक्ति छिन जाने का ज्ञान नहीं था। तिनके को जलाने का उनका सारा प्रयास विफल हुआ। 'यक्ष' के समक्ष अपनी असफलता से लज्जित अग्नि उनका परिचय प्राप्त नहीं कर सके और देवों के पास लौट गये। वे 'यक्ष' के परिचय के लिये रुके भी नहीं उनमें धैर्य का अभाव था। वे परिचय के लिये नहीं रुक सके थे।

'अग्नि' के बाद 'वायु' देव-दूत बनकर यक्ष का परिचय प्राप्त करने आये। 'वायु' अन्तरिक्ष में बिना आधार के ही विचरण कर सकने में समर्थ हैं। इस रूप में वे 'मातरिश्वा' कहे जाते हैं। 'यक्ष' के पूछने पर उन्होंने भी घमण्ड में ही अपना परिचय दिया, और अपनी शक्ति का परिचय दिया। उनका मानना था कि वे संसार की हर वस्तु को आकाश में उड़ा सकने की क्षमता रखते हैं।

यक्ष-रूप परब्रह्म ने वायु को उनकी उड़ाने की क्षमता देनी बन्द कर दी, साथ ही उनके सामने एक तिनका रखकर उसे उड़ा देने का आग्रह किया। वे उसे उड़ा नहीं सके। वे भी यक्ष के समक्ष लज्जित थे। उनमें भी अधैर्य था। वे सोच नहीं सके यक्ष के आगे वे असक्त कैसे हो गये?

'वायु' के भी निराश लौटने पर देवराज 'इन्द्र' स्वयं 'यक्ष' का परिचय प्राप्त करने पहुँचे। देवराज इन्द्र को आता देख 'यक्ष' अदृश्य हो गये। उनकी (परब्रह्म के) अदृष्टता ने उन्हे (इन्द्र को) अचम्भित कर दिया। वे

हतप्रभ हुए । माँ ने कहा– उनमें धैर्य था । किन्तु, उनमें अग्नि-वायु आदि देवताओं से अधिक घमण्ड भी था । यह घमण्ड का ही आधिक्य था कि परब्रह्म ने 'इन्द्र' को अपना दर्शन नहीं दिया ।

'यक्ष' के अदृश्य होने से हतप्रभ देवराज इन्द्र फिर भी अपनी जिज्ञासा शान्त किये बिना लौटने को तैयार नहीं थे । वे यथार्थता को जानने के अधिकारी थे।

माँ ने कहा– 'अज्ञान' जहाँ हमारी अपेक्षा नहीं, वहाँ 'अधूरी जानकारी' ज्ञान के लिये उपेक्षित सिद्ध होती है । हम ज्ञानमय कर्म में उन्नत जीवन को देखते और ज्ञानमय कर्म से ही उस उन्नत जीवन को प्राप्त करने के लिये कृतसंकल्प होते हैं ।"

माँ ने स्पष्ट किया– इन्द्रियों में 'चक्षु' जहाँ 'तेज' या 'ज्योति' से सम्बद्ध होने के कारण अग्नि से सम्बद्ध सिद्ध होता है, वहाँ 'वायु' प्राण-शक्ति से सम्बद्ध होने के कारण त्वक् (त्वचा) तथा स्पर्श से सम्बद्ध दीख पड़ता है । "

"'मन', 'प्राण', और 'संकल्प' चिद्-शक्ति के अधीन है । 'चिद्-शक्ति' के अभाव में 'संकल्प', 'प्राण' और 'मन' तीनों ही निष्क्रिय सिद्ध होते हैं।

माँ ने कहा– 'परब्रह्म' से 'चिद्-शक्ति' का ज्ञान होता है; 'इन्द्र' से 'मनः-शक्ति' का, 'अग्नि' से संकल्प-शक्ति का और 'वायु' से प्राण-शक्ति का बोध होता है । 'ब्रह्म' कारण-स्वरूप होने से सूक्ष्म है । वह दृष्ट नहीं । मन, बुद्धि और प्राण ऐन्द्रियक होने के कारण स्थूल होते हैं । इन्हें अदृष्ट 'ब्रह्म' का भान तब तक नहीं होता जब तक कि वे अपने-अपने शक्ति के घमण्ड से बाहर नहीं निकलते । 'चिद्-शक्ति' के उत्क्रमण से सारी ऐन्द्रियक शक्तियाँ निष्क्रिय हो जाती है ।

'संकल्प' और 'प्राण' चेतना को तब तक नहीं जान पाते जब तक कि 'मन' सम्पूर्ण ऐन्द्रियक कर्मों और क्रियाओं का समन्वयन नहीं करता । 'मन' की समन्वयन-शक्ति चिद्-शक्ति के अभाव में क्रियाशील नहीं होती । 'चिद्-शक्ति' मनः शक्ति को उत्त्प्रेरित करती है और मनःशक्ति 'चिद्-शक्ति' की निश्चयात्मिका-शक्ति, बुद्धि के लिये कार्य करते हुए शारीरिक-शक्ति को कार्य की दिशा में अभिप्रेरित करती है ।

'इन्द्र', 'अग्नि', 'वायु' आदि क्रियात्मक शक्तियाँ हैं और 'परब्रह्म' कारण और नियंत्रक-शक्ति । क्रियात्मक भौतिक जगत को व्याख्यापित करती इस आख्यायिका से यह स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ जहाँ 'मन' के लिये कार्य करती हैं, वहाँ 'मन' वस्तुतः बुद्धि के लिए और 'बुद्धि' स्वयं 'आत्मा' या आत्म-शक्ति के लिये कार्य करती है । –माँ ने अपना कथन समाप्त कर मुझे गौर से देखा ।

मुझे लगा जैसे मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व मातृमय हो रहा हो । अपने रोम-रोम को माँ की प्रतिमूर्ति रूप में देखता हुआ मैं माँ के सीने से लग सोने का उपक्रम करने लग गया ।

●

संदर्भ :- केन उपनिषद् तृतीय खण्ड

'ॐ'

[आठ]

माँ ने कहा– 'ज्ञानार्जन' के लिये जहाँ ज्ञान अनन्त है, वहाँ ज्ञानार्जन के लिये न तो क्षमता की कमी है, और न ही आयु-सीमा या अवधि निर्धारित है। व्यक्ति अपने जीवन पर्यन्त ज्ञानार्जन में लगा रह सकता है। बस, चाहिये उसमें जिज्ञासा और जिज्ञासा-शान्ति की लगन।

माँ ने कहा– जिज्ञासा, संशय, प्रयोग, सूक्ष्म निरीक्षण और संशयरहित निष्कर्ष, ये सभी 'शोध या अन्वेषण' के मूल आधार हैं। ज्ञानेच्छा से प्रेरित व्यक्ति 'क्या, क्यों, कैसे, किसलिए, कैसा, आदि असंख्य विवेचनात्मक प्रश्नों को जन्म देकर जिस संशयरहित निष्कर्ष पर पहुँचता है, वही 'ज्ञान' है। 'ज्ञानार्जन' वस्तुतः ज्ञान-सन्दर्भित अन्वेषण है। 'ज्ञान-प्राप्ति की विधा' और 'ज्ञान' दोनों रूपों में विशिष्ट होने के कारण वह 'विज्ञान' है। एक ज्ञान-अन्वेषक ही 'विज्ञानी' और 'विज्ञाता' हो सकता है। 'विज्ञान' वस्तुतः 'ज्ञान' और 'कर्म' का विशेष 'योग' है। 'योगी' की योग-सिद्धि ज्ञान-कर्म की समन्वित संसिद्धि में निहित होती है। 'ज्ञान' अव्यावहारिक अथवा अनाचरणीय नहीं होता, और न ही 'कर्म' ज्ञानरहित होता है। अव्यावहारिक अथवा अनाचरणीय 'ज्ञान' ज्ञान न होकर कोरी कल्पना मात्र होती है और 'ज्ञानरहित कर्म' निष्फल रहता है।

'योगी' निर्विकल्पता से सविकल्पता की ओर आकर ही सामाजिक बन पाता है। 'बुद्ध' ने भी सम्यक्, अर्थात् यथार्थता के आधार पर ही अपनी 'निरोधगामिनी प्रतिपदा', अर्थात् 'अष्टाङ्ग मार्ग', का प्रतिपादन किया है। उनका यह अष्टाङ्ग मार्ग 'सम्यक् दृष्टि', अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' से प्रारम्भ होकर सम्यक् कर्म होता हुआ 'सम्यक् समाधि' तक जाता है। योगी की योगसिद्धि वस्तुतः 'ज्ञानमय कर्म' की व्यावहारिकता में निहित है। 'ज्ञानमय कर्म' ही 'कर्तव्य कर्म' और, क्रियात्मक 'धर्म' है।

'जीवन', वस्तुतः, शरीर, मन, प्राण का समन्वित रूप है। 'शरीर' स्थूल क्रियाशीलता का साधन है; 'मन' सूक्ष्म बौद्धिक क्रियाशीलता का और 'प्राण' चेतयितृत्व, अर्थात् चेतनात्मक क्रियाशीलता का निरूपक है। 'चेतना' वस्तुतः 'शरीर-रूपी' यान्त्रिक संस्थान का स्वचालन-तन्त्र (automation) है।

प्राणवान्, अर्थात् चेतना प्रधान 'मनः शरीर' सूक्ष्म, सात्त्विक, दिव्य-ज्योति या दिव्य-शक्ति सम्पन्न एक व्यापक अस्तित्व होता है, जो अपनी दिव्यता और दातृ एवं ज्ञातृ गुणों के आधार पर देवता कहलाता है । यही शक्ति जब स्थूल चेतन-शरीर में होती है तो वह देवतुल्य होती है ।

'शरीर', अर्थात् इन्द्रिय-प्रधान मनःशरीर तामसी होने के कारण प्रमा-आलस्य के घेरे में घिरा अज्ञानमय अन्धकार का निवासी होता है । अज्ञानता उसे इन्द्रियभोग तक सीमित कर देती है; वह 'लोभ-क्रोध'-प्रधान हो जाता है । वही 'असुर' कहलाता है । स्थूल शरीर को वह असुर-तुल्य बना देता है ।

मनः प्रधान सूक्ष्म चेतन शरीर मननशीलता के कारण विवेकशील, ज्ञानमय कर्म का ज्ञाता, रजः-प्रधान 'मानव' कहलाता है । स्थूल शरीर में वह व्यक्त इकाई के रूप में व्यक्ति कहलाता है ।

स्थूल और व्यक्त इकाई के रूप में प्राणवान स्थूल शरीर, अपनी त्रिगुणात्मक साम्यावस्था में सहज वैयक्तिक मानवीय जीवन को जीता है । 'बुद्ध' ने इसे 'सम्यक्', अथवा आदर्श जीवन कहा है, और लाओत्से ने इसे 'सहज मानवीय जीवन' । 'सहजता' अथवा 'सम्यकता' में द्वन्द्वात्मकता नहीं होती । 'द्वन्द्वात्मकता' के अभाव का यह अर्थ नहीं कि जीवन में प्रगतिशीलता का अभाव हो जाय । द्वन्द्वात्मकता के अभाव का अर्थ होता है गलत प्रतिस्पर्धा का अभाव । 'द्वन्द्वात्मकता के अभाव' में स्वस्थ स्पर्धा का बाहुल्य होता है और बौद्धिकता का उपयोग निर्माणकारी योजनाओं में होता है, विध्वंसक अथवा विनाशकारी योजनाओं में नहीं । यही कारण है कि 'ज्ञान' के लिये आर्ष-विचारकों ने 'पात्रता' पर विशेष बल दिया है और विद्यादान अथवा ज्ञानदान के लिये 'अनुबन्ध-चतुष्ट्य' अथवा 'साधन-चतुष्टय' की बात कही है । इस चतुष्टय में वस्तुतः 'अधिकारी', 'विषय', 'सम्बन्ध' और 'प्रयोजन' पर विचार करते हुए पात्रों का चयन किया जाता है । 'सुपात्र', प्राप्त 'विद्या' अथवा 'ज्ञान' का सदुपयोग करता है; 'कुपात्र' उसी विद्या का 'दुरुपयोग' करता है ।"

माँ का इस तरह समझाना मुझे अच्छा लग रहा था और मैं उनकी बातों को ध्यान से सुन रहा था क्योंकि कहानी के पूर्व की यह व्याख्या

चारित्रिक व्याख्या थी । कहानी के चरित्रों को समझने के लिये इसकी आवश्यकता थी । देव, असुर और मानव की चारित्रिक विशेषता, और वैयक्तिक व्यवहार में इन चरित्रों का प्रतीकात्मक प्रभाव निस्सन्देह मेरे लिये एक अनुपम व्याख्या थी ।

माँ ने कहा– 'देव' ओर 'असुर' प्रजापति के पुत्र होने के नाते परस्पर भाई हैं । किन्तु, विषम प्रकृतियों के कारण उनमें परस्पर वैमनस्य भी है । भोग की प्रधानता को अगर देवों के स्वभाव से हटा दिया जाय और क्रोध-हिंसा की प्रधानता अगर असुरों से निकाल दिया जाय तो दोनों ही अच्छे हो जायेंगे । दोनों ही ज्ञानी हैं । ज्ञान के प्रति दोनों में ही आकर्षण है।

माँ ने कहा– 'देव' और 'असुर' को 'आत्मा' के सन्दर्भ में जानने की इच्छा हुई । उन्होंने पिता प्रजापति से सुन रखा था कि "एक आत्मा को जान लेने-भर से व्यक्ति सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है।"

देवों के राजा 'इन्द्र' और असुरो के राजा 'विरोचन' दोनों ही अपने-अपने पक्षों के प्रतिनिधि बनकर पिता प्रजापति के पास 'आत्मा' को जानने की गरज से शिष्यवत् हाथों में समिधाएँ लेकर पहुँचे ।

माँ ने समझाया– "'विद्यार्थी' न तो राजा होता है और न ही 'रंक' । वह जब शिष्यत्व ग्रहण करता है तो मात्र विद्यार्थी या शिष्य ही होता है । गुरु के समीप सम्पूर्ण शिक्षा-अवधि में शिष्य ब्रह्मचर्यवास करता है । उसमें परस्पर विद्वेष का सर्वथा अभाव होता है । प्रजापति के पास ब्रह्मचर्यवास करनेवाले देवों और असुरों के राजा, 'राजा' न होकर मात्र छात्र थे । उनके परस्पर का वैमनस्य गुरु-आश्रम में भुला दिया गया था । गुरु-आश्रम वैमनस्य की जगह नहीं, वरन् सौमनस्य की जगह होती है । छात्र वैमनस्य में नहीं सौमनस्य में जीते हैं । 'विद्या' को त्रैलोक्य के राज्य से भी महान माना गया है ।

माँ ने कहा– 'इन्द्र' और 'विरोचन' ने आचार्य के यहाँ बत्तीस वर्षों तक ब्रह्मयर्चवास किया, और अपने ज्ञानार्जन का संदर्भ बतलाया । आचार्य ने उन्हें उपदेशित किया । 'आत्मा' के संदर्भ में आचार्य ने कहा–

"यह जो 'पुरुष' नेत्रों में दिखायी देता है, वह आत्मा है । 'आत्मा' अमृत है, अभय है । 'आत्मा' ब्रह्म है ।"

'इन्द्र' और 'विरोचन' 'प्रजापति' के कथन में छिपे सूक्ष्म भाव को नहीं समझ सके । उन्होंने 'नेत्रों में दिखायी देनेवाले पुरुष'– वाक्य-अंश से 'छाया-रूप पुरुष' का अर्थ लिया । वस्तुतः यह 'छाया-रूप पुरुष' 'दृश्य' का अर्थ देता है । 'प्रजापति' का 'नेत्रों में दीख पड़नेवाला पुरुष' वस्तुतः छायारूप पुरुष' अर्थात् 'दृश्य' न होकर 'द्रष्टा' था, जिसे 'इन्द्र' और 'विरोचन' नहीं समझ सके । उन्होंने अपने विचारों की पुष्टि में जल, दर्पण, तलवार, जैसी वस्तुओं में दीख पड़नेवाली 'पुरुष -छाया' को भी 'आत्मा' के रूप में लिया । प्रजापति ने उनके अभिप्राय को समझा । उन्होंने उन्हें समझाने का प्रयास किया– 'जल, दर्पण, तलवार आदि चमकनेवाले सभी पदार्थों में दिखायी देनेवाला पुरुष नेत्रों में दीख पड़नेवाले 'पुरुष' से भिन्न नहीं ।'

शंकर ने 'छान्दोग्य' के अपने भाष्य [अ० 8; खण्ड-7; मन्त्र-4] में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'बृद्धतम', अर्थात् 'चरम' अथवा 'परतम' (Summun) के रूप में लिया है । "अत एवाभयमत एव ब्रह्म वृद्धतममिति", अर्थात् इसलिये अभय है और इसी से 'ब्रह्म', अर्थात् 'वृद्धतम' है ।

'इन्द्र' और 'विरोचन' ने 'ब्रह्म' या आत्मा को 'दृश्य' के रूप में देखा, 'द्रष्टा' के रूप में नहीं । फलतः, वे 'शरीर' को ही आत्मा समझ कर सन्तुष्ट हो गये । आचार्य ने उनकी अज्ञानता, अर्थात् अबोधशीलता अथवा अविवेकशीलता को देखा, और उसे उनके 'पराभव' होने का कारण जाना ।

'विरोचन' ने असुरों के बीच जाकर उन्हें समझाया– "इस संसार में शरीर या देह ही आत्मा है, वही पूजनीय और सेवनीय है । इस शरीर रूपी आत्मा की ही पूजा और परिचर्या करनेवाला व्यक्ति इहलोक और परलोक को प्राप्त कर लेता है ।"

'विरोचन' अपने ज्ञान में संशयरहित था । किन्तु 'इन्द्र' संशयी थे । इन्द्र रास्ते मे ही थे जब उन्हें यह संशय हुआ– "'शरीर' को अगर हटा लिया जाय तो आत्मा का अस्तित्व नहीं रह जाता ।" फिर आत्मा का 'अमृतत्व' असत्य हो जाता है ।" इन्द्र का यह संशय उन्हें पुनः आचार्य के पास लौटा लाता है । आचार्य के निर्देश पर वे पुनः बत्तीश वर्षों का ब्रह्मचर्यवास करते हैं । उनके इस ब्रह्मचर्यवास की समाप्ति पर प्रजापति ने

उन्हें उपदेश दिया–

"जो स्वप्न में पूजित होता हुआ विचरता है, वह आत्मा है । वह अमृत है, अभय है, और वही ब्रह्म है ।"

इन्द्र ने इस बार 'स्थूल' शरीर की तुलना में 'स्वप्न-शरीर' को निरापद देखा । उन्हें स्थूलता से आगे सूक्ष्मता का बोध तो हुआ, किन्तु वे इस सूक्ष्मता को 'अभयता' प्रदान नहीं कर सके । स्थूल शरीर नष्ट हो सकता है । माना कि स्थूल-शरीर के नष्ट होने पर भी सूक्ष्म 'स्वप्नशरीर' नष्ट नहीं होता, किन्तु वह भयग्रस्त अथवा दुःखी तो हो ही सकता है; 'राग-द्वेष' से ग्रस्त तो हो ही सकता है । फिर तो यह आत्मा के अभय, अपाप् आदि गुणों से वँचित हो जायगा । यह आत्मा नहीं हो सकता । इन्द्र को उनके इस संशय ने उन्हें पुनः आचार्य के आश्रम में ला खड़ा किया । वे पुनः बत्तीस वर्षों के ब्रह्मचर्यवास में चले गये । उनकी इस ब्रह्मचर्यवास की समाप्ति पर आचार्य ने उन्हें उपदेश दिया–

"जो 'पुरुष' सुसुप्तावस्था में 'दर्शनवृत्ति' और सम्यक् रूप से आनन्दित अवस्था में स्वप्न का अनुभव नहीं करता वह आत्मा है ।"

माँ ने समझाया–निद्रावस्था में आयी स्वप्नावस्था को 'दर्शनवृत्ति' कहा गया है और गाढ़ सुषुप्ति को 'अदर्शवृत्ति' । पहली स्थिति में स्वप्न आते हैं, किन्तु दूसरी में नहीं । माँ ने कहा– 'इन्द्र' इस बार भी संशयरहित नहीं हुए और प्रजापति के पास लौटकर उनके आचार्यत्व में उनसे ही निर्देशित होकर पाँच वर्षों के ब्रह्मयर्चवास में रहे । इस ब्रह्मचर्यवास की समाप्ति पर आचार्य द्वारा उपदेशित 'इन्द्र' सत्‌चित्‌आनन्दघन आत्मा को 'द्रष्टा' के रूप में समझ सके ।

माँ ने कहा– जब हम व्यापकतम अथवा वृहत्तम की कल्पना करते हैं तो वह 'स्थूल' नहीं होकर 'सूक्ष्मतम' होता है; शरीरयुक्त न होकर अशरीरी विवरण होता है; सत् का अस्तित्व न होकर 'असत्' की क्रियात्मक-शक्ति का रूप होता है ।

वह शुद्धतः सात्विक होता है, शुद्धतः गुण-रूप होता है । वह क्रियात्मक गुणों से 'निर्गुण' किन्तु 'सत्त्व गुण' से सगुण होता है । वह शुद्धतम्, सूक्ष्मतम और वृहत्तम है ।

माँ ने कहा– इन्द्र ने प्रजापति के यहाँ आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये 'एक सौ एक' वर्ष का ब्रह्मयर्चवास किया था । आप जानते हैं– इन्द्र में अभिमान या घमण्ड अधिक है, 'इन्द्र' भोगप्रधान देवों के राजा होने के नाते ऐन्द्रियक सुख-भोगों में लिप्त रहनेवाले हैं, फिर भी वे ज्ञान के प्रेमी हैं । उन्होनें 'एक सौ एक' वर्षों तक अपने को न केवल भोगलिप्सा से दूर रखा, वरन् रागद्वेष, मोह एवं ईर्ष्यादि दोषों से भी अपने को दूर रखा । 'ब्रह्मचर्य' को ज्ञान का प्रमुखतम सहकारी कारण कहा गया है । [छन्दोग्य अ० 8, खण्ड-5, मंत्र 3, भाष्य]

माँ ने स्पष्ट किया– हमारी एकाग्रचित्तता ही हमें द्रष्टा की दृष्टि देती है। हम सूक्ष्मतम और अदृष्ट को भी देख सकने में समर्थ होते हैं । विज्ञान अपने पहले चरण में परिकल्पना (hypothesis) को जन्म देता है और अन्तिम चरण में परिणाम, अर्थात् नियम को । प्रायोगिक प्रतिक्रियाएँ रासायनिक समीकरणों के अनुरूप होती हुई भी परिणाम देने तक प्रायः अदृष्ट ही रहती हैं ।

अदृष्ट आत्मा अस्तित्वविहीन नहीं, क्योंकि वह 'व्यक्ति' के व्यक्तित्व की व्याख्या है । वह व्यक्ति के शरीर में निर्लिप्त 'भाव'-रूप सत्त्वगामी-स्थिति में रहता है, और शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता । वह शुद्ध 'भावात्मक' होने के कारण पापशून्य, रोगरहित, मृत्युरहित, सुधा-पिपासारहित, विशोक, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है । वह पूर्णतः ज्ञानात्मक है । ज्ञानात्मकता उसे अशरीरता का स्वरूप देती है । वह देहाभिमान से अलग है । वह 'नाम' है ।

माँ ने कहा– वह, जिसे 'सर्वात्म-दृष्टि' प्राप्त है, किसी भी विरोध-भाव से ग्रस्त नहीं होता । वह मात्र सर्वकल्याण के लिये कार्य करता है ।

माँ को लगा– मैं कहीं अन्यमनस्क तो नहीं हो रहा ! मुझे जाग्रत देख वे सन्तुष्ट हुई । मुझे दुलराया और मुझे 'मातृ देवो भव' की जागरित दुनियाँ में लिये सो गई ।

●

संदर्भ :- छान्दोग्य उपनिषद् अ० 8; खण्ड- 7-11

'ॐ'

[नौ]

माँ आर्ष-विचारकों को सत्य-द्रष्टा, 'यथार्थ-द्रष्टा' की श्रेणी में रखती हैं। 'यर्थाथता' सम्पूर्णता का पर्याय है । आर्ष-विचारकों के विचार का विषय 'सम्पूर्ण जीवन' है । 'सम्पूर्ण जीवन' पर विचार करते हुए वे सम्पूर्ण सृष्टि को अपने विचाराकाश की परिधि में रखते देखे जा सकते हैं । विचारण की उनकी विधा में जहाँ स्पष्ट वैज्ञानिकता है, वहाँ उनका दृष्टिकोण 'वृद्धतम' और 'वृहत्तम', अर्थात् सार्वभौमिक, सार्वलौकिक और सर्वत्रता का दृष्टिकोण है।

विचारण की निष्पक्षता आर्ष विचारकों को मूलभूत विचारों तक ले जाती है; और वे सम्पूर्ण सृष्टि को एक पूर्णत्व में देख पाते हैं । वही 'पूर्ण', उनके द्वारा 'ब्रह्म' या 'आत्मा' या 'परमात्मा' रूप में संज्ञापित होता है । वह शुद्ध 'चेतना' है । इसलिये वह 'पापशून्य', जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है ।

'शुद्ध चेतना' अथवा 'चेतना' भौतिकेतर नहीं । वह शुद्ध 'शक्ति' का पर्याय है, जो सृष्टि की हर वस्तु में स्थितिज अथवा गतिज रूप में उपस्थित है । सृष्टि की रचना का कारण भौतिकीय शक्ति है । फलतः, सिद्धान्ततः जिस निष्कर्ष पर आर्ष विचारक हजारों वर्ष पूर्व पहुँच चुके हैं, वहाँ पाश्चात्य अथवा पाश्चात्य प्रभाव में घिरे अर्वाचीन प्राच्य विचारक आज पहुँच पा रहे दीखते हैं । इसका मुख्य कारण है तब और अब की विचारण-विधा का अन्तर, अथवा काल-देश से प्रभावित होने वाला शब्द-ज्ञान, और इनसे भी अधिक, विचारण-निरीक्षण में निष्पक्षता का भारी अन्तर ।

प्राचीन 'ऋषि' तब के वैज्ञानिक ही थे । वे 'जीवन' को उसकी पूर्णता में देखते थे । उसका कारण था परमार्थिक रूप में उसकी उपयोगिता को देखने का लक्ष्य । तब के 'ऋषि-वैज्ञानिक' 'पूर्ण' का पहले विश्लेषण करते, फिर यथार्थ जानकर उसको संश्लेषित करते, फिर उसका यथार्थ समझते-समझाते। यही कारण है कि शब्दों का निर्माण भी वे यथार्थता के आधार पर कर पाये थे । संस्कृत शब्दों और इसी तरह प्राचीन भाषाओं में शब्दों की निर्मिति यथार्थता के आधार पर हुई देखी जा सकती है । विश्व की प्राचीन भाषाओं में सबसे उन्नत और परिष्कृत भाषा 'संस्कृत' मानी जाती है, क्योंकि उसका

व्याकरण पूर्णतः वैज्ञानिक है । आज 'कम्प्यूटर-वैज्ञानिक' भी मात्र पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' को ही कम्प्यूटरीकृत कर सकने में अपने को समर्थ पाते हैं, अन्य किसी भी भाषा के व्याकरण को नहीं ।

प्राचीन विचारकों का परमार्थिक दृष्टिकोण, जहाँ उनके परीक्षण-निरीक्षण-निष्कर्ष को निष्पक्षता प्रदान करता था, वहाँ उनके निष्कर्ष का रूप सार्वभौमिक और सार्वकालिक होने के साथ-साथ सर्वत्र की व्यापकता भी ग्रहण कर पाने में समर्थ होता था । शब्द-निर्मिति की सटीकता हो, अथवा निष्कर्षित विचारों की सार्वभौमिकता या सार्वकालिकता, आर्ष-विचारक इस स्थिति में अवश्य थे कि वे उन्हें 'ब्रह्म' (शब्द-ब्रह्म) और 'अपौरुषेय' (अपौरुषेय 'वेद'), एवं अपने को 'द्रष्टा' कह सकते थे, अथवा ऐसा कह सकने में समर्थ थे । निश्चय ही यह आर्ष-विचारणा की पूर्णता ही थी कि वह विनाशशील संसार में अविनाशी तत्त्व को खोज कर एक एकीभूत ब्रह्माण्डीय समाज की अवधारणा दे सकी और सभी जड़-चेतन को एकीभाव से देख सकी थी ।

वह विज्ञाता-विज्ञानी की पूर्णता ही तो थी जिसने विकास की एक ऐसी रूप-रेखा खींची थी, जिसमें विकास- न्यूनतम से व्यापकतम की ओर जाता है । असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, और मृत्यु से अमृत की ओर बढ़ती विकास की रेखा निश्चय ही आर्ष-वैज्ञानिकों की सूझ की पूर्णता का ही दिग्दर्शन हमें कराती है । 'अन्धकार' अथवा 'मृत्यु' अन्य कुछ नहीं, वरन् अज्ञानमय क्रियात्मकता के निरूपक हैं, तथा 'सत्', 'प्रकाश' और 'अमृत' निरपेक्ष, सगुण सत्त्व का निरूपण करते हैं । जड से चेतन का प्रादुर्भाव आधुनिक अवधारणा है । निम्न एककोशीय ज़ीव से बहुकोशीय आवयविक जीव का विकास भी आधुनिक अवधारणा है । प्रकारान्तर से यही अवधारणा आर्ष-विचारकों के विचारों में सिद्धान्ततः दृष्टिगोचर होता है ।

'आर्षविज्ञान-विधा' विश्लेषण-संश्लेशण-निष्कर्ष या परिणम की अनवरत कड़ी है । इसे 'कारण-कार्य-कारण' की अटूट शृंखला के रूप में भी देखा जा सकता है । 'कार्य' में ही 'कारण' निहित होता है, हर 'कार्य' आगे के 'कार्य' का 'कारण' होता है । ज्ञानरूप 'कारण' अपनी क्रियात्मकता में संकल्पित 'कर्म' को परिणाम रूप 'कार्य' में परिणत करता है । 'ज्ञानमय

कर्म' परमार्थिक फल या परिणाम देता है । दूसरी ओर, 'ज्ञानहीन कर्म' निष्फल जाता है । 'ज्ञान' और 'कर्म' दोनों को ही अपनी सफलता के लिये 'निष्ठा' का आधार चाहिए । 'निष्ठा' के अभाव में 'ज्ञानमय कर्म' भी निष्फल जाता है । निष्ठायुक्त ज्ञानमय-कर्म को ही आर्षविज्ञानी 'यज्ञ' कहते हैं । 'यज्ञ' की तुलना आधुनिक वैज्ञानिक 'प्रयोग' से की जा सकती है ।

'ज्ञान' और 'निष्ठा' का समन्वित रूप ही 'योग' है । इस 'योगरूप' समन्विति में ही 'कर्म' और 'ज्ञान' योग-रूप धारण कर क्रमशः कर्मयोग और 'ज्ञानयोग का रूप ले पाते हैं । निष्ठा के अभाव में वे, 'कर्म अथवा 'ज्ञान', योग का रूप नहीं ले पाते । 'निष्ठा' ही जब विह्वलता से युक्त होती है, 'भक्ति' शब्द द्वारा संज्ञापित होती है । 'निष्ठा' वस्तुतः ज्ञानमय-कर्म के प्रति व्यक्ति की एकाग्रता और श्रद्धा या विश्वास है, अन्धविश्वास या अन्धानुकरण नहीं ।

'ज्ञान', 'कर्म' और 'विह्वलतायुक्त निष्ठा' का योग आर्ष विचारणा को प्राणवान जीवन्त सृष्टि की अवधारणा देता है । यही कारण है कि वहाँ 'सृष्टि' की उत्पत्ति 'यज्ञ' से हुई कही गई है । 'यज्ञ' वस्तुतः 'ज्ञानयोग', 'कर्मयोग' और 'भक्तियोग' की समन्वित योग-साधना की देन है ।

'यज्ञ' कुशलतापूर्वक किया हुआ अनुष्ठान है । ('यज्ञः कर्मसु कौशलम'- भारद्वाज) । (पुन भारद्वाज की ही एक उक्ति है) 'यागपरः पुरुषधर्मः', अर्थात् 'यज्ञ' मानव जाति का विशेष धर्म है ।"

महर्षि भारद्वाज के उपर्युक्त दोनों उक्तियाँ 'यज्ञ' को 'मनन' और 'कुशलता', अर्थात् 'ज्ञान-कर्म-निष्ठा' से जोड़ती हुई मननशील मानव का 'कर्तव्यकर्म', अर्थात् 'धर्म' घोषित करती हैं ।

वेद 'मानव' को 'पुरुष' कहते हैं । 'पुरुष', 'बुद्धि-युक्त' है । आर्ष-अवधारणा में क्रियाशील 'पुरुष' शरीर और बुद्धि की समन्वित इकाई है । 'शरीर' सभी कर्मों ओर कर्म-साधनों का आश्रय है ।

'पुरुष' वह है जो 'पुरी' में अवस्थित है । 'पुरी' नगर, शहर या गढ़ को कहते हैं । शरीर की तुलना 'नगर' या 'गढ़' से की जाती है । वह सुरक्षित आश्रय और 'कर्म-स्थल' का पर्याय है ।

'मानव' मनु-सन्दर्भित शब्द है (मनोरपत्यम्) और स्वयं 'मनु' शब्द मनः सन्दर्भित । 'मन' 'शरीर' का अन्तःकरण है । साथ ही वह वाह्य ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों के कर्मों की समन्वयक-शक्ति भी है । समन्वयक-शक्ति होने के कारण यह आवयविक नहीं तात्त्विक है । 'शक्ति' क्रियात्मक होती है । उसका कारण भी 'शक्ति' ही है । 'कर्म' का साधन ऐन्द्रियक अवयव होते हैं । 'विचार' बनने की क्रिया, वस्तुतः उत्तेजना (stimuli) और मस्तिष्क की 'ग्रहण' करने एवं उसकी प्रतिक्रियात्मक-शक्ति पर निर्भर होती है ।

शरीर का वाह्य भाग सुरक्षात्मक तथा वाह्य वातावरण में किये जाने वाले कर्मों के अनुरूप विकसित है । अन्तःभाग स्वचालित जीवन की अनिवार्यताओं, अर्थात् वाह्य भाग को नियन्त्रित रखने, एवं उत्तेजनाओं के प्रति प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति के संसाधनों से सज्जित है । आर्ष-विचारकों ने, अपने विश्लेषण के आधार पर, इस सम्पूर्णता को 'शरीर, मन प्राण' की समन्विति के रूप में देखा है । 'शरीर' कर्मशील, 'मन' मननशील, और 'प्राण' चेतनशील है । चेतना ही जैविक क्रियाशीलता का कारण है । यही चेतना आवयविक क्रियाओं का कारण तथा उनके कर्मों का समन्वयक भी है ।

'चेतना' चेतन-जीवों में चेतन-'शक्ति' का रूप है । यह ऐन्द्रियक उत्तेजनाओं से क्रियाशील होती है, और अपनी शृंखलाबद्ध क्रियाओं द्वारा अपेक्षित कार्यों को अंजाम देती है । इसी तरह हर भौतिक पदार्थ 'शक्ति' का रूप है । उनकी क्रियाएँ अनुकूल शक्ति द्वारा उद्दीप्त होने पर प्रारम्भ होती हैं । प्रकाश, ताप, ध्वनि, आकर्षण-विकर्षण, वैद्युतिक प्रवाह आदि सभी शक्ति के ही अन्य रूप हैं । मूल शक्ति के ये विभिन्न रूप आर्ष-विचारकों की नजर में 'शक्ति' के सगुण रूप हैं । स्वयं 'शक्ति' इनसे अभिन्न, किन्तु क्रियात्मक है । यही कारण है कि वह 'सगुण' नहीं, निर्गुण है; सीमित नहीं, असीमित है; सान्त नहीं, अनन्त है; नाशवान नहीं, अविनाशी है; अनित्य नहीं, नित्य है । वह आदि-कारण अपनी निष्क्रियता में शान्त होता है, सुषुप्त रहता है । 'कार्य' जब तक निष्क्रिय होता है, वह 'कारण' नहीं बनता । उससे संदर्भित दूसरे कार्य की अनिवार्यता ही उसके लिए उद्दीपक सिद्ध होती है और वह कारण-रूप में सक्रिय होता है; अपेक्षित नये कार्य को जन्म देता है ।

माँ ने कहा- उपनिषद का ज्ञान हमें जीवन-समस्या को समझने के

लियें उसके व्यापकतम रूप में ले जाकर मूलभूत कारण तक ले जाता है और समस्या का समाधान स्वतः निकल आता दीखता है ।

माँ ने आगे कहा– जानते हैं, 'बौआ' ! मनुस्मृति की रचना मात्र एक जिज्ञासा की शान्ति का परिणाम है ।

मेरी जिज्ञासा भरी उत्सुक निगाहें माँ से छिपी नहीं रह सकीं– उन्होंने मेरी ओर देखते हुए कहा– "वह जिज्ञासा थी ऋषियों की, जो सभी वर्णों और जातियों के ठीक-ठीक धर्मों को आदि से अन्त तक जानना चाहते थे।"

मनु ने उन्हें उस धर्म की व्याख्या के लिये सृष्टि की प्रलयकालीन स्थिति से लेकर सम्पूर्ण वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक संगठनों और उनके कर्त्तव्य-कर्मों की व्याख्या कर दी । तत्कालीन स्थिति के अनुरूप तब का धर्म या कर्तव्य-कर्म उसमें पूर्णतः व्याख्यापित है । बाद के समय में विभिन्न स्मृतिंयों ने बदलते सांगठनिक आधार पर उसके अनुरूप ही अपना संशोधित रूप धारण किया ।

माँ ने सृष्टि-रचना के आदि-कारण की चर्चा की ओर मुड़ते हुए कहा–

'शक्ति' का मूल रूप अपनी क्रियात्मकता में निश्चिततः 'निर्गुण' और निर्विकार है । अपनी सक्रियता में वह स्वतः रूपान्तरित होता है । 'उद्दीपन' के अनुसार रूपान्तरित होता हुआ वह 'मूल'-रूप शक्ति नये-नये परिणाम देता चला जाता है । कारण-कार्य की शृंखला सृष्टि के रूप में सामने आती है । उपनिषद् का कथन, अगर देखें तो, वहाँ इस यथार्थ के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं दीखता । उपनिषद के कथन को देखें–

"ब्रह्म तपस्या से वृद्धि को प्राप्त होता है । उससे अन्न उत्पन्न होता है । अन्न से क्रमशः प्राण, मन, कार्यरूप आकाशादि पाँच महाभूत, सभी लोक और कर्म, तथा कर्मों से अवश्यम्भावी 'सुख-दुख'-रूप फल उत्पन्न होता है ।" **[मुण्डक उपनिषद, प्रथम मुण्डक, प्रथम खण्ड, श्लोक-8]**

'ब्रह्म' अगर शुद्ध शक्ति (Energy) है, और 'अन्न' रूप में वह अगले 'कार्य' की उत्पत्ति का 'कारण', तो कार्य-कारण की स्थिति स्वतः व्याख्यापित हो जाती है ।

माँ ने कहा– वेद-उपनिषद् 'जीवन' को उसकी सम्पूर्णता में देखते हैं, और एक से बने अनेक की सृष्टि को वे देखते ही नहीं, वरण उसकी सम्पूर्णता की व्याख्या भी करते हैं। उनके लिए यह सम्पूर्णता उन अनेकों की ही समन्विति में निहित है। निश्चिततः, उस समन्विति के लिए उस समन्विति के सारे आवयविक तत्त्वों की बीच परस्पर समानता, स्वतंत्रता और सौहार्द्रता का होना अनिवार्य है। परस्पर समानता, स्वतन्त्रता और सौहार्द्रता का होना विह्वलतापूर्ण निष्ठा को जन्म देता है। यही विह्वलतापूर्ण निष्ठा सृष्टि का मानवीय माप-दण्ड बनता है। वस्तुतः वेद-उपनिषद् का 'पुरुष'-तत्त्व ही अपनी 'सौहार्द्रता' के साथ 'मानव' कहलाता है, जहाँ कठोरता के साथ निर्मल दया, दमन और दान की भावना प्रतिष्ठित रहती है।

"तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम ॥

(मुण्डक उपनिष्द्; प्रथम मुण्डक; खण्ड-1; मंत्र-8)

●

संदर्भ :- मुण्डक उपनिषद ।

'ॐ'

[दस]

माँ ने कहा– 'समन्वय' सृष्टि का नियम है और 'विश्लेषण' उस समन्विति की 'व्याख्या' का साधन । 'व्याख्या' विश्लेषित होती है, और 'यथास्थिति', अर्थात् 'सत्', या 'अस्तित्व', या 'सत्ता' को अर्थ देती है । यह 'अर्थ' ही 'यथास्थिति' के साथ मिलकर 'यर्थाथ' का ज्ञान देता है । 'अर्थ' का प्रकाशन वाक्, वाणी या ध्वनि के द्वारा होता है ।

'वाक्' अपने 'परा', 'पश्यन्ती', और 'मध्यमा' रूपों में अध्वन्यात्मक होता है । मात्र 'बैखरी' रूप में ही वह ध्वन्यात्मक हो पाता है, जब वह ओठों से बाहर आता है । 'परा' और 'पश्यन्ती'–वाक् 'योगी–प्रत्यक्ष' कहे गये हैं । 'मध्यमा' में 'वाक्' और 'अर्थ' का तादात्म्य होता है । 'बैखरी' में निकली ध्वनि का 'अर्थ' भी 'मध्यमा' में ही बोधित होता है । 'मध्यमा–वाक्' के माध्यम से ही बालक, मूक, बधिर आदि को शब्दार्थ का बोध कराया जाता है ।[1]

'परावाक्' को 'आत्मस्वरूप' या 'ब्रह्मस्वरूप' कहा गया है । इसका 'साक्षात्कार', योगियों की निर्विकल्प समाधि का विषय है ।[2]

'पश्यन्ती–वाक्' योगियों की 'सविकल्प समाधि' का विषय है । पश्यन्ती वाक् का साक्षात्कार करनेवाले योगियों की दृष्टि त्रिकालदर्शी होती है ।[3] 'पश्यन्ती–वाक्' के साक्षात्कर्ता योगी की दृष्टि को ही 'आर्ष–चक्षु' या 'दिव्य दृष्टि' कहते हैं । पश्यन्ती–द्रष्टा के लिए अतीन्द्रियता अथवा असंवेद्यता का कोई अवरोध नहीं होता । वह 'पूर्ण' का द्रष्टा होता है । 'पूर्णता', जो समन्विति है, स्वयं विश्लेषित–संश्लेषित होकर उसके समक्ष सारा भेद खोल जाती है । वेदों और उपनिषदों के ऋषि ऐसे ही मन्त्र-द्रष्टा' हैं । वे 'परा' और पश्यन्ती के ज्ञाता हैं ।

वैदिक ऋषियों की दृष्टि 'जीवन' की सम्पूर्णता को देखती हैं । वे उसकी एकांगिकता को उसकी ही पूर्णता में देखते हैं । 'पूर्णता के ज्ञान से ही सभी कुछ जान लेने की प्रेरणा वे सतत् लेते और देते देखे जा सकते हैं। 'एक' से ही बहुत है, और एक को जान लेने से ही सभी कुछ जान लेने

की प्रवृत्ति ने उनकी दृष्टि को सूक्ष्मतम, अर्थात् व्यापकतम बना दिया है। वे 'परम अर्थ' के ज्ञाता और 'परम अस्तित्व' के द्रष्टा हैं। वे परम-अस्तित्व के यथार्थ को देखने तथा समझने वाले हैं। वे 'परमार्थ' में 'यथार्थ' को, और 'यथार्थ' में ही 'परमार्थ' को देखते हैं। यही है उन ऋषियों की 'आर्ष-दृष्टि, जिससे वे पूर्ण को पूर्ण के लिये पूर्ण में ही देखते हैं।

'पूर्णता' की व्याख्या करते हुए आर्ष-विचारक की, 'कारण-जगत' और कार्यजगत' के सन्दर्भ में, एक स्पष्ट उक्ति है– 'वह' भी पूर्ण है, 'यह' भी पूर्ण है। 'उस' पूर्ण से ही 'यह' पूर्ण है, 'यह' भी पूर्ण है। 'उस' पूर्ण से ही 'यह' पूर्ण उत्पन्न है। 'पूर्ण' के 'पूर्ण' को निकाल लेने पर भी 'पूर्ण' ही बचा रहता है।"[4]

माँ ने 'जीवन' को उसकी पूर्णता में देखनेवाले आर्ष-विचारकों, आर्ष-द्रष्टओं की चर्चा करने के बाद 'परब्रह्म' की निर्गुणता-निरपेक्षता-नित्यता को आधुनिक भौतिक विज्ञान की ओर मोड़ते हुए कहा–

आर्ष-विचारकों की विचार-दृष्टि में 'परब्रह्म', 'स्वयम्भू', अर्थात् 'जो अपना कारण आप' ही है, 'अनादि' है, अर्थात् वह 'परतम' कारण-कार्य समन्विति है, 'प्रथम' है। वह तब भी था, जब वहाँ कुछ भी नहीं था। वह अद्वितीय सत् था।'[5] 'कारण-कार्य' की अवधारणा आर्ष विचार-विज्ञान का मूलाधार है।

माँ ने कहा– 'कारण-कार्य' भौतिक विज्ञान के आधारभूत नियमों में है। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने स्पष्टतः सिद्ध कर दिया है कि यह सम्पूर्ण सृष्टि 'शक्ति-रूप' (energy-form) है। सृष्टि के सभी 'पदार्थ' (matter) 'शक्ति' के ही रूप हैं। उसका कथन है– 'शक्ति प्रतनु द्रव्य है और द्रव्य संचित शक्ति।" (Energy is a tiny matter and matter is a storage of energy)।

माँ ने कहा– 'शक्ति' नित्य है, वह अपना कारण आप है। वह रूपान्तरित होता है, समाप्त नहीं होता। 'कारण-रूप' शक्ति और 'कार्य-रूप' शक्ति दोनों एक हैं। 'कारण-कार्य' की अभिन्नता सम्पूर्ण सृष्टि को एकता के सूत्र में बाँधती है।

आधुनिक भौतिकविदों ने जिस प्रकृति या सृष्टि को आज शक्ति का

एक रूप माना है, उस निर्णय पर 'ब्रह्म रूप' शक्ति की एकता के निष्कर्ष पर आर्ष-विचारक हजारों वर्ष पूर्व पहुँच चुके दीखते हैं। कल का 'ब्रह्म', आज की 'शक्ति' का समतुल्य ही नहीं, श्रेष्ठतर सिद्ध होता दीखता है।

आर्ष-विचारकों का 'परब्रह्म' इच्छा-संकल्प और 'तप' के माध्यम से सृजन करता कहा गया है, जब कि आधुनिक भौतिक रसायनविद् का सृजन रासायनिक प्रतिक्रिया के माध्यम से होता कहा जाता है। इसके लिये दोनों ने ही देश-काल-परिस्थिति' को सृजन का अवयव कहा है। 'देश-काल-परिस्थिति' के अन्तर्गत् 'प्रयोग-क्रिया' निहित कही जाती है। यथा- 'सामान्य तापमान एवं दबाव' (Normal temperature and pressure), 'प्रतिक्रिया की जगह' या 'माध्यम', तथा 'प्रतिक्रिया के 'कारक-तत्त्व' (reactants), परस्पर का उनका 'सम्बन्ध और सम्पर्क'।

आर्ष विचारकों नें जिन सूक्ष्म उपादानों और प्रक्रियाओं से सृष्टि-रचना को व्याख्यापित किया है वह उनके शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। सूक्ष्म कारण-जगत से सूक्ष्म कार्य-जगत, और उस आधार पर स्थूल कार्य-जगत के निर्माण की प्रक्रिया स्पष्टतः आज के रासायनिक प्रतिक्रिया की परमाण्विक व्याख्या के समतुल्य दीख पड़ती है।

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय 'विज्ञानमय' ज्ञान का परिचायक है। यह ज्ञान मात्र 'ज्ञान के लिये ज्ञान' जैसा नहीं। उनके लिये यह मुक्ति-मार्ग का साधन भी है। 'न्याय' का तो यह मूलाधार है। यही कारण है कि 'ज्ञान' स्वयं न तो विषय है और न ही विषयी। उसे 'आत्मा की ज्योति' कहा गया है।

आर्ष-विचारकों की दृष्टि में 'ज्ञान' बुद्धि-प्रधान होते हुए भी 'भावना और 'संकल्प' से युक्त है। वह सम्पूर्ण अन्तर्जगत की 'चेता' या चेतना है। वह सृजनशील है। फलतः वह संश्लेषणात्मक है। वह उनके लिये 'बुद्धि' (cognition) का भी अर्थ रखता है और 'उपलब्धि' (Apprehension) तथा 'अनुभव' (experience) का भी। 'उपलब्धि' और 'अनुभव' आर्ष-ज्ञान को स्वतः आज के प्रायोगिक विज्ञान का रूप दे देते हैं, मात्र आनुमानिक 'तर्क' नहीं रहने देते।

आर्ष-ज्ञान में 'भावना'-तत्त्व का समावेश उसे सर्वकल्याण की ओर ले जाता है, जो उसे परमार्थी, अथवा यथार्थवादी अथवा सर्वतोमुखी बनाते हुए चेतन-जीवन से जोड़ता है।

आर्ष-विचारक 'यथार्थ' ज्ञान (valid knowledge) के सम्पोषक हैं। इस ज्ञान में संशय (doubt), त्रुटि (error) तथा तर्क (reasoning) नहीं होता। इसके चार तत्त्व इसे सार्वलौकिक, सार्वकालिक और सर्वत्र सिद्ध करते हैं। वे चार तत्त्व हैं- 'अनुभव', 'अनुभव के अनुरूप वस्तु-स्थिति का होना', ज्ञाता को अपने ज्ञान की निश्चितता पर विश्वास', तथा 'उस यथार्थ ज्ञान या 'प्रमा' (valid knowledge) की व्यावहारिक सफलता' (Pragmatic Sucess)।

आर्ष विचारकों ने 'प्रमा' के तीन अवयव माने हैं। वे है 'प्रमाता' (thinker), 'प्रमेय' (object) तथा 'प्रमाण' (means)। 'प्रमाता' ज्ञाता है, जिसके अभाव में ज्ञान की कल्पना संभव नहीं। 'प्रमेय' प्रमाता का विषय (object) है। आत्मा शरीर आदि-प्रमेय है। 'प्रमाण' यथार्थ ज्ञान का साधन है। माँ ने कहा- आर्ष-विचारक की दृष्टि में प्रमाण के मुख्यतः चार रूप हैं- प्रत्यक्ष (perception), अनुमान (inference), उपमान (comparison) एवं शब्द (testimony)। वैसे 'अर्थापत्ति', 'अनुपलब्धि', 'सम्भव' और 'ऐतिह्य' भी ज्ञान-प्राप्ति के साधन हैं।

'इन्द्रिय' एवं 'वस्तु' के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाला 'ज्ञान' निश्चयात्मक, अर्थात् 'प्रत्यक्ष' होता है। आर्ष विचारकों के अनुसार 'वस्तु' का सम्पर्क प्रथम 'इन्द्रियों से होता है। फिर, इन्द्रियों का सम्पर्क 'मन' से और तब मन का सम्पर्क 'आत्मा' से होता है। मन 'बुद्धि' के लिये और 'बुद्धि' सीधे आत्मा के लिये कार्य करती है।

प्रत्यक्ष 'ज्ञान' के दो रूप कहे गये हैं- 'अव्यपदेश्य' (Inexpressible) और व्यवसायात्मक (Expressible)। इन्हें क्रमशः 'निर्विकल्प' (Indeterminate) एवं 'सविकल्प' (Determinate) प्रत्यक्ष भी कहा गया है। 'निर्विकल्प' प्रत्यक्ष 'परावाक्' की स्थिति होती है, जहाँ से 'ज्ञान' क्रियाशील होता है। ज्ञान का वह 'आरम्भ बिन्दु' है। इसे समाधि की स्थिति कही गयी है। यह स्वयं ज्ञान नहीं, 'ज्ञान' के आरम्भ का बिन्दु (Point of departure) है। यहाँ शब्द-संकेत नहीं मिलता। इसे चेतना की वह स्थिति मानी गयी है जिसमें तुलना, समानता, भेद, विश्लेषण, संश्लेषण आदि का सर्वथा अभाव होता है। इस स्थिति में वस्तु की जाति, नाम, गुण, क्रिया तथा उसका अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्धों का वर्णन सम्भव नहीं होता। यहाँ वस्तु के अस्तित्व का आभास मिलता है। यह प्रमाता की अव्यक्त स्थिति होती है।

सविकल्प को लौकिक चेतन-प्रत्यक्ष कहा गया है । इसमें तुलना, समानता, भेद, विश्लेषण, संश्लेषण आदि की सम्भावना के साथ वस्तु की जाति, नाम, गुण क्रिया आदि का ज्ञान तथा उस वस्तु का अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध की स्थापना भी सम्भव हो पाती है । 'सविकल्प' प्रत्यक्ष को तार्किक-प्रत्यक्ष कहा गया है । यह भ्रमपूर्ण और असत्य, अथवा अनुभूतिजन्य और सत्य भी हो सकता है ।

'प्रत्यक्षण' मनःक्रिया से सम्बद्ध होने के कारण मनोविज्ञान-सम्बद्ध होता है । आर्षविचारक मनोविज्ञान के आधुनिक सिद्धान्तों के नाम से भले ही परिचित न रहें हों, किन्तु मानव-मनोविज्ञान और प्राकृतिक हलचलों के गम्भीर निरीक्षक तथा अध्येता रहे हैं । उनके सार्वभौमिक और सार्वकालिक निर्णय आज भी सत्य सिद्ध होते देखे जा सकते हैं । वे निश्चिततः यथार्थ-द्रष्टा हैं । 'यथार्थ' के प्रति अपनी व्यापक दृष्टि के कारण ही वे 'सर्वज्ञ' माने जाते रहे हैं ।

'सर्वज्ञता', वस्तुतः समन्वयात्मक है । आर्ष विचारकों की दृष्टि में 'वस्तु' वस्तुतः 'नाम', 'रूप' और आत्मा का समन्वय है । आकाश रूप 'आत्मा' इन दोनों अर्थात् 'नाम' और 'रूप' का निर्वाह करनेवाला है ।[6] 'आत्मा' आकाश के समान सूक्ष्म, व्यापक और अशरीर (शरीर हीन) है । 'आत्मा' सम्पूर्ण जीवों में चेतना का कारण है और स्वयं-संवेद्य है । वह अपने परमात्म अर्थात् 'परतम-रूप' में 'परब्रह्म' है । 'ब्रह्म' सर्वगत आत्मा है । वह, अपनी सर्वत्रता या 'प्रज्ञा की अधिष्ठातृ शक्ति' के कारण, 'सर्वज्ञ' है । उससे कुछ छिपा नहीं । आर्ष-विचारकों की दृष्टि में वही एकमात्र 'ज्ञाता' है। ऋषि उस 'सर्वज्ञ' को देख सकने में सक्षम है, इसलिये वह 'द्रष्टा' है। वह 'परब्रह्म' अस्तित्ववान् अथवा सत्तावान् होते हुए भी निर्गुण है, क्योंकि गुण में वह लिप्त नहीं रहता है, वह 'कार्य' में कारण-रूप सन्निहित रहता हुआ भी कार्य में लिप्त नहीं रहता । वह द्रष्टा है । वह निर्विकार भाव से कारक-तत्त्व को कार्य करता हुआ स्वयं देख पाने में भी समर्थ होता है ।"

माँ ने आगे कहा— यह स्थिति हमारी भी हो सकती है अगर हम अपने आत्म-निरिक्षण में अभ्यस्त हों । यह अव्यावहारिक नहीं । निष्पक्षता इसकी पहली शर्त है । निष्पक्षता की पहली शर्त होती है— 'सम्पूर्णता को जानना'।

माँ की यह बात मुझे 'पापा'[7] द्वारा कहे गए एक 'स्वप्न' की याद दिला जाती है ।" 'पापा' कुछ असामान्य स्वप्न पर, प्रतीकात्मक रूप में, विश्वास करते हैं, और उन्हें भविष्य में होनेवाली घटना की सूचना भी मानते हैं । अपने उस स्वप्नविशेष के सन्दर्भ में उन्होंने मेरे समक्ष माँ से कहा था–

"वे, ('पापा' स्वयं) स्वप्न में किसी हिंसक व्यक्ति के द्वारा खदेड़े जा रहे हैं । वह व्यक्ति उन्हें मार डालना चाहता है । वे अपने आस-पास किसी भी बचानेवाले को देख नहीं रहे । पापा अपने को स्वप्न-द्रष्टा के रूप में सजग पाते हैं, किन्तु स्वप्न-दृश्य से अलग नहीं हो पाते । वे अपना ही दूसरा रूप भी वहाँ देखते है । वह रूप स्वप्न का सारा दृश्य देख रहा होता है । स्वप्न-द्रष्टा 'पापा' उसे देखते हुए सोचते हैं– 'वह 'देखनेवाला' रूप मारे जानेवाले रूप को मारा जाता हुआ देखता हुआ भी निर्विकार है, बचाने नहीं आता । स्वप्न-द्रष्टा 'पापा' चिन्तित हैं । स्वप्न का 'द्रष्टा-रूप' पापा 'निर्विकार-द्रष्टा' है, वह उद्वेलित नहीं होता; और पापा का एक रूप हिंसा का शिकार होकर मार दिया जाता है ।" वहाँ पापा के तीन रूप हैं– 'द्रष्टा', 'मारा जाने वाला भयभीत', और 'निर्विकार द्रष्टा' ।

माँ ने सम्भवतः इसी घटना को याद करके अपना उपर्युक्त स्पष्टीकरण दिया था । माँ अपनी भावनाओं को अनुभवों-अनुभूतियों एवं वैज्ञानिक तथ्यों अथवा विज्ञान-विधा पर आधारित विचारणा पर प्राप्त अपने निष्कर्ष को तौलती हैं और तभी सामान्य निर्णय पर पहुँचती हैं । पापा भी अपनी विचारणा में इस विधा से अलग नहीं ।

माँ के साथ मैं भी गम्भीर था । फिर भी माँ ने अपनी कथनी का अन्त किया– उस 'निर्विकार-निगुर्ण द्रष्टा को आर्ष-विचारकों ने 'ऊँ' के रूप निरूपित किया है । 'ऊँ' 'नाम' और 'नामी' अर्थात् 'स्थूल' एवं 'सूक्ष्म' का, एकीकृत अथवा समन्वित रूप है । दूसरे शब्दों में, जो 'नाम' है, वही 'नामी' भी है, और जो 'नामी' है, वही नाम भी; दोनों में कोई अन्तर नहीं ।[8] 'ऊँ' को 'प्रणव' अर्थात् पवित्र अक्षर के रूप में लिया जाता है ।

●

सन्दर्भ

1. 'स्फोट दर्शन': प्रस्तावना; पं० रङ्गनाथ पाठक; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना; 1967 ।
2. वही
3. वही
4. "ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

   पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

   [वृहदारण्यक उपनिषद, अध्याय-5, ब्राह्मण-1, मन्त्र-1]
5. "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।"—छान्दोग्य उपनिषद अध्याय-6, खण्ड-2; मन्त्र-1
6. "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा..." [छान्दोग्य; अ० 8; खण्ड-14]
7. मैं अपने पिता को 'पापा' सम्बोधन से बुलाता हूँ ।
8. माण्डूक्य उपनिषद्; मन्त्र-1

'ॐ'

[ग्यारह]

माँ ने पूछा– 'अक्षर' क्या है ?

मैने उत्तर दिया– जिसका क्षरण न हो । 'क्षरण' का अर्थ नाश होना है । 'अक्षर' शब्द का अर्थ होगा 'अविनाशी' ।

माँ ने कहा– बहुत ठीक । आर्ष-विचारकों ने 'परब्रह्म' को 'अक्षर' कहा और उसे 'प्रणव', अर्थात् पवित्र अक्षर 'ऊँ' द्वारा निरूपित किया है । इस 'अक्षर' को ही वे परब्रह्म का रूप मानते हैं । स्वयं 'परब्रह्म' रूपहीन, अर्थात् 'निराकार' निर्गुण और नित्य है ।

'ऊँ' या 'ओङ्कार' निर्गुण-सगुण अथवा निराकार-साकार, नामी-नाम एवं अमात्रा-मात्रा का समन्वित रूप है । यही कारण है कि आर्ष-विचारकों ने 'भूत', 'भवत्' और 'भविष्यत्' के साथ-साथ 'विकालातीत' उस परब्रह्म को 'ऊँ'-रूप या ओङ्कार-रूप कहा है ।

माँ ने समझाते हुए मेरी जिज्ञासा शान्त की 'भूत' वह जो अस्तित्ववान् रह चुका है; 'भवत्' वह है, जो वर्तमान में अस्तित्ववान् है; और 'भविष्यत्' वह जो आगे होनेवाला है । 'विकालातीत' वह है जो उपर्युक्त तीनों काल से परे का है ।[1]

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों ने समन्वित सृष्टि में जिस 'परब्रह्म' को अनादि, अनन्त, असीम, स्वयम्भू कहा है, उसे उन्होंने 'अमात्र', अर्थात् 'मात्रारहित' माना है । 'मात्रा' सगुणता का परिचायक है । आगे माँ ने समझाया–

'निर्गुण'-परब्रह्म सर्वजनसंवेद्य नहीं । फलतः 'निर्गुण'-परब्रह्म 'निर्विकल्प' (Indeterminate) अथवा 'अव्यपदेश्य' (Inexpressible) ज्ञान का विषय होकर योगीजनों की 'निर्विकल्प' समाधि का विषय होता है । योगीजन उसका आभास अपनी निर्विकल्प समाधि में प्राप्त करते, तथा 'सविकल्प' समाधि में उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं । इसे ही वे 'परावाक्' और 'पश्यन्ती' वाक् के रूप में जानते-समझते हैं ।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानों मैं माँ के कथन को स्पष्टतः देख रहा होऊँ। मात्रायुक्त और मात्रारहित अव्यक्त 'ओम' जैसे मेरे समक्ष समान्वित होकर मुझे माँ के 'बैखरी'-वाक् तथा मेरे अपने 'मध्यमा'-वाक् के माध्यम से 'पश्यन्ती' और 'परा' वाक् तक की ज्ञान-यात्रा कराने निकल पड़े हों।

माँ ने जैसे मेरी स्थिति भाँप ली हो, वे बोलीं– 'परा' और 'पश्यन्ती' के द्रष्टा 'अमात्र ओम' एवं 'मात्रायुक्त' ओम् की समन्वित एकात्मकता को सद्यः देख पाने में समर्थ होते हैं। भौतिकतया ये दोनों ही जहाँ अभौतिक या 'अलौकिक' नहीं होते, वहाँ 'परा' और 'पश्यन्ती' भी चिन्तन-शक्ति की परम गहराई के ही द्योतक होते हैं।

माँ ने आगे कहा– मात्रायुक्त 'ओम्' की तीन मात्राएँ अ, उ, और 'म्' होती हैं। ये 'अक्षर' अथवा 'मात्राएँ' वर्णमाला के अङ्ग हैं। इन्हें मात्रायुक्त 'ओम' के तीन 'पाद' कहे गये हैं। ये तीन 'पाद' उसकी व्यापकता की व्याख्या करते दिखते हैं।

माँ ने समझाते हुए कहा– 'अ' वर्णमाला का 'आदि' अर्थात् पहला अक्षर है। यह वर्णमाला के सभी अक्षरों में व्याप्त है। इस तरह, अक्षरों से निर्मित सभी शब्दों में 'अ' सर्वत्र विद्यमान रहता है। इसकी तुलना 'विष्णु' से की गई है।[2] 'विष्णु' वस्तुतः 'संयोजन', 'धारण', 'केन्द्रीकरण' एवं 'संरक्षण' की शक्ति हैं। व्युत्पत्यार्थक रूप में 'विष्णु' शब्द 'व्यापकता' का का पर्याय है। 'विष्णु' को निरूपित करनेवाला अक्षर 'अ' वस्तुतः 'संयोजक' 'धारक' 'व्यापक और 'ऐक्य-संस्थापक' सिद्ध होता है। इसकी तुलना विश्वात्मा या वैश्वानर आत्मा से की गई है, जो विश्व में सर्वत्रव्याप्त कहा गया है।[3]

'उ' को महेश्वर या शिवरूप कहा गया है और शिव को 'कल्याण', निश्चल 'ज्ञान', और 'तेज' का रूप समझा जाता है। शिव 'योगीराज', अर्थात् 'योग' के साधक, एवं अन्तर्दृष्टि तथा ज्ञान के स्रोत हैं। शिव प्रलयङ्कर भी हैं। 'प्रलय' नव-सृष्टि के आगमन का सूचक है।

'उ' अक्षर ओम् के तीन अक्षरों (अ,उ,म) के मध्य में अवस्थित है। इस तरह 'उ', 'अ' और 'म्' के योग, अर्थात् जोड़ने का साधन है। 'म्' प्राज्ञ का द्योतक है। वैश्वानर 'अ' और प्राज्ञ 'म्' के बीच तैजस 'उ'

उभय-भाव का द्योतक और अन्तर्दृष्ट प्रकाश है, जिससे 'अ' और 'म्' प्रकाशित होते हैं ।

'उ' तेज-स्वरूप है । इस तरह परब्रह्म जहाँ सर्वव्यापक है वहाँ वह तेजोमय भी है ।

'ओम' की तीसरी मात्रा अथवा तीसरा अक्षर 'म्' है । यह वर्णमाला का ओष्ठ्य वर्ण है । वर्णमाला के सभी वर्ण कण्ठ से निकलकर ओष्ठ तक में सीमित रहते हैं । 'अ' कण्ठ्य वर्ण है ।

'म्' से 'ब्रह्मा' का निरूपण कहा गया है । कार्य, कारण, और चल-अचल सभी को 'ब्रह्मा' के ही अन्तर्गत् कहा गया है ।[4]

'म्' की व्युत्पत्ति 'मा' धातु से हुई है । 'मा' धातु का अर्थ होता है 'माप' या 'मान दण्ड' । यह प्रज्ञा की विशेषता है । 'प्रज्ञा' से ही सभी कुछ का ज्ञान सम्भव होता है । इस तरह 'अ' की सर्वव्यापकता और 'उ' का तेज या प्रकाश सब कुछ इस प्रज्ञान-रूप 'म्' में समाहित हो जाता है ।

'अ' स्थूल जगत, 'उ' सूक्ष्म जगत और 'म्' कारण जगत को निरूपित करते हैं । 'सर्वज्ञता' वस्तुतः 'प्राज्ञ' का विषय है । 'स्थूल-सूक्ष्म-कारण' तीनों का सम्यक् ज्ञान ही सर्वज्ञता है । 'कारण' से ही 'सूक्ष्म' और स्थूल का जन्म होता हैं और उसमें ही उनका विलयन । 'प्राज्ञ' और 'म्' एक हैं, समतुल्य हैं ।

इस तरह हिन्दू धर्म के त्रिदेव 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश' अथवा 'ब्रह्म', अन्य कुछ नहीं, मात्र सृष्टि, भौतिक सृष्टि की व्याख्या के साधन हैं । वे 'प्रज्ञानघन' कहे गये हैं । स्पष्ट है कि 'प्रज्ञानघन' सर्वात्मा या परमात्मा का द्योतक है ।

मात्रायुक्त 'ओम्' अकेले तीन पैरों पर स्थिर नहीं होता । उसकी स्थिरता का कारण चौथा पैर अनिवार्य है । और इसी की व्याख्या के लिए 'अमात्र' ओम की अवधारणा है । 'अमात्र' ओम अर्थात् मात्रारहित 'ओम्' । 'परब्रह्म' की अवधारणा इसी अमात्र 'ओम्' के समतुल्य है ।[5]

यह रूप रहित अमात्र 'ओम' या परब्रह्म सर्वजनसंवेद्य नहीं है । यह सबका कारण है, स्वयं इसका कोई कारण नहीं । यह विशुद्ध है । अपने इस

अर्थ में यह आज की भौतिकी के ज्ञान से एक 'डग' (step) आगे है । आज की 'भौतिकी' जहाँ 'शक्ति' और 'द्रव्य' को एक मानती है, वहाँ आर्ष-विचारकों की अवधारणा में स्थूल जगत की व्यावहारिक एवं आनुभविक शक्तियाँ भी 'द्रव्य' की तरह ही मात्र रूपान्तरित शक्तियाँ हैं । उनके अनुसार इनकी उत्पत्ति का कारण तो वह विशुद्ध शक्ति है जिसका अपना कोई कारण नहीं, वह अपना आप ही कारण है । प्रकाश, ताप, ध्वनि, यान्त्रिक, चुम्बकीय, विद्युत आदि सभी शक्तियाँ जहाँ व्यावहारिक हैं, वहाँ वे परस्पर रूपान्तरित भी होती हैं या हो सकती हैं । आर्ष-विचारकों की दृष्टि में यह रूपान्तरण अकारण सम्भव नहीं। व्यावहारिक शक्ति वस्तुतः अव्यवहार्य, अपरूप किन्तु कल्याणमय और अद्वितीय विशुद्ध कारण शक्ति की उपज है।

आर्ष-विचारक इसी अमात्र-रूप 'ओम्' को 'नामी', शरीरी या देही की संज्ञा देते नजर आते हैं । नाम, शरीर या देह को वे मात्रायुक्त 'ओम्' के रूप में देखते है । उनका स्पष्ट कथन है– बिना 'अमात्र ओम्' के मात्रायुक्त ओम् की स्थिति नहीं बन सकती, वह उच्चरित नहीं हो सकता । निर्गुण और निराकार शक्ति ही सभी व्यावहारिक शक्तियों और द्रव्यों का कारण है । यही परब्रह्म का चौथा पैर है ।[6]

माँ का कहना समाप्त हुआ । मैं माँ के सीने से लगा अपने को एक स्पष्ट-दृष्टा की सन्तान देख धन्य हो रहा था ।

●

सन्दर्भ

1. माण्डूक्य उपनिषद्; मन्त्र-1
2. शब्द- 'ओम्'
   हिन्दू धर्म कोश, डॉ० राजवली पाण्डेय; पृष्ट- 147
   "अकार से विष्णु, उकार से महेश्वर, मकार से ब्रह्मा का बोध होता है ।"
3. माण्डूक्य उपनिषद्; मन्त्र-9
4. हिन्दू धर्म कोशः डॉ० राजबली पाण्डेय; पृष्ट-458
5. माण्डूक्य उपनिषद्; मन्त्र-12
6. माण्डूक्य उपनिषद्; मन्त्र-12

'ॐ'

[बारह]

माँ ने कहा– बहुत पहले इस देश में 'उद्दालक' नाम के एक ऋषि रहते थे। उनके एक पुत्र थे– 'नचिकेता'। 'उद्दालक' के पिता महर्षि अरुण थे।[1]

उन दिनों समाज में 'यज्ञ' की प्रधानता थी। 'यज्ञ' वस्तुतः एक सामूहिक कर्म है, जिसमें 'यजन', 'पूजन', 'सम्मिलित विचारण' तथा 'वस्तुओं का वितरण' आदि कर्म सम्मिलित होते हैं। इसे वैदिक विधानों में प्रधान धार्मिक कार्य माना गया है।[2] इसे एक ऐसा व्यक्तित्व भी कहा गया है, जिसमें सारे मानवीय गुण होते हैं।[3]

'यज्ञ' सम्बन्धी मेरी जिज्ञासा संक्षेप में ही शान्त करने के बाद माँ कहानी की ओर मुड़ीं–

ऋषि 'उद्दालक' ने 'विश्वजित्' नामक यज्ञ किया था। इस यज्ञ में 'यजमान' को अपना सारा धन दान कर देना पड़ता था। सम्भव है, सर्वस्व दान देने के लिये ही यह यज्ञ किया जाता रहा हो। 'दान' मनुष्य का कर्तव्य-कर्म है। 'संग्रह-प्रधान' मनुष्य धन में पूर्णतः लिप्त न हो जाये इसके लिये प्रजापति ने उसे 'दान' का उपदेश दिया था। वैसे भी संग्रहित धन के भोग का यथेष्ट समय मनुष्य के पास नहीं होता। वह मरणधर्मा है और उसका क्रियाशील जीवन 'सान्तता' में आकलित होता है, 'अनन्ता' में नहीं। भोग-शक्ति भी अक्षुण्ण नहीं होती। फिर, एक के संग्रह' से दूसरों का अधिकार भी छिनता है। एक का संग्रह, दूसरे जरूरतमन्दों के यहाँ कमी को जन्म देता है। इससे असन्तोष और आक्रोश बढ़ता है। संगठन, ऐसे हालातों में, विघटन की ओर बढ़ने लगता है।

उद्दालक उस समय गौओं का दान कर रहे थे, जब 'नचिकेता', उनका पुत्र, उनके साथ था। उद्दालक को सर्वस्व दान करना था। गो-धन में अनेक गौएँ ऐसी थीं, जो जराजीर्ण अर्थात् रोगग्रस्त थीं। वे भी दान में दी जा रही थीं। 'नचिकेता' को जराजीर्ण गौओं का दान न्यायोचित नहीं लगा।

मेधावी 'नचिकेता' धर्म के मर्मज्ञ थे। उनकी नजर में दान उसी वस्तु का होना चाहिये, जो अपने को सुख देनेवाली हो, प्रिय हो, उपयोगी हो।

उपयोगी वस्तु के दान से ही याचक को लाभ हो सकता है । अनुपयोगी वस्तु का दान 'याचक' को दुखी बना देता है और इसका बुरा परिणाम 'दाता' को भोगना पड़ता है ।

'नचिकेता' अपने को भी 'पुत्र-धन' के रूप में पिता के सर्वस्व में गिनते हुए सोचते हैं– पिता ने मुझे किसी को दानस्वरूप दिया नहीं ? पिता का कल्याण चाहनेवाले 'नचिकेता' ने पिता को सावधान करने के लिये उनका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हुए प्रश्न किया– आप मुझे किसे दान देंगे ? पिता के दो बार अनुसुना कर देने पर भी जब 'नचिकेता' ने तीसरी बार वही प्रश्न किया तो पिता क्रुद्ध हो बैठे । क्रोध के आवेश में ही पिता ने कहा– "मैं तुझे 'मृत्यु को देता हूँ ।"

यज्ञीय वातावरण में उत्साहित बालक नचिकेता को पिता का यह क्रोध अनर्गल-सा लगा । फिर भी, पिता में उनके विश्वास ने उन्हें शान्त किया। वे समझे– "संभव है इसमें पिता का कुछ विशेष प्रयोजन हो, अथवा, 'मृत्यु' देवता का ही कोई अभीष्ट मुझसे सधने वाला हो ।"

माँ ने मेरी ओर मुड़ते हुए कहा– बालक 'नचिकेता' आप जैसे ही जिज्ञासु थे । उन्हें सदाचरण का बहुत ध्यान रहता था । कर्म की तत्परता उनमें इतनी अधिक थी कि वे गुरु अथवा पिता का मनोरथ जानकर ही उनकी अपेक्षाओं को पूरा कर देते, अथवा उनसे आदेश पाते ही वह कार्य पूरा कर देते । ऐसा कभी नहीं हुआ कि 'गुरु' अथवा 'पिता' ने आदेश दिया हो, अथवा अपनी इच्छा व्यक्त की हो, और 'नचिकेता' ने उसे पूरा न किया हो ।

इस बार भी नचिकेता मृत्यु के पास जाने को तत्पर थे । किन्तु, पिता की स्थिति भिन्न थी । क्रोध-आवेश में अपने कहे वचन से पिता अपने आप दुःखी थे । वे पश्चात्ताप कर रहे थे ।

नचिकेता ने पश्चात्ताप कर रहे अपने पिता को सान्त्वना देते हुए कहा– "मनुष्य मरण-धर्मा है । वह असत्य से अजर-अमर नहीं हो सकता। हमारे पूर्वजों ने कभी असत्य भाषण नहीं किया । आपके ही वचन क्यों असत्य हों ? मन में कुछ भी अन्यथा न लाते हुए शोकरहित हो, मुझे 'मृत्यु' के पास जाने की अनुमति अवश्य दें ।"

सदाचारी और सत्यपरायण नचिकेता के अनुरोध को पिता टाल नहीं सके। 'नचिकेता' पिता की स्वीकृति लेकर मृत्यु-देव से मिलने चल पड़े।

"कहानी कहती है", माँ ने कहा- "नचिकेता जब मृत्यु देवता 'यमराज' के घर पहुँचे तब मृत्युदेव बाहर गये हुए थे। नचिकेता बिना खाये-पीये तीन दिनों तक यमराज की प्रतीक्षा में उनके दरवाजे पर बैठे रहे।

तीन दिनों बाद लौटे पति को यम-पत्नी ने नचिकेता के आगमन और बिना अन्न-जल ग्रहण किये उनके प्रतीक्षारत रहने की जानकारी देते हुए कहा- "हम गृहस्थ हैं। गृहस्थ के घर कोई अतिथि, और वह भी ब्राह्मण-कुमार, भूखा-प्यासा तीन-तीन दिनों तक पड़ा रहे, तो निश्चय ही उस गृहस्थ के लिये अनर्थकारी सिद्ध होता है। आप स्वयम् उस बालक अतिथि की सेवा करें तो उसकी शान्ति हो, एवं उसकी शान्ति से हमारा कल्याण हो।"

माँ ने कहा- आप जानते हैं कि व्यक्ति के क्रियात्मक जीवन में चार अवस्थाएँ होती हैं- ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ और संन्यास। इनमें 'गार्हस्थ्य' सबसे महत्त्वपूर्ण है। सच तो यह है कि ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास, तीनों ही आश्रमों का भरण-पोषण 'गृहस्थाश्रम' पर ही निर्भर होता है। प्राचीन सामाजिक एवं धर्मिक व्यवस्था में 'गृहस्थ' का कर्तव्य था कि वह अतिथि, भिक्षुओं और पशु-पक्षियों की भूख मिटानो के लिये भी व्यवस्था रखे।

माँ ने कहा- 'पञ्च महायज्ञ' गृहस्थों के धार्मिक एवं सामाजिक कर्तव्यों के निस्तार का ही साधन है। ये पाँच महायज्ञ हैं- ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूत-यज्ञ, और 'नृ-यज्ञ'। 'ब्रह्मयज्ञ' अध्यापन कर्म से, 'पितृयज्ञ तर्पण-कर्म से, 'देवयज्ञ' होम-कर्म से, भूतयज्ञ पशु-पक्षियों को अन्नादि दान से तथा 'नृयज्ञ अतिथि-सेवा से पूर्ण होता है।[5]

चार आश्रमों और पञ्च महायज्ञ की मेरी जिज्ञासा को शान्त करने के बाद माँ ने पुनः कहानी की ओर मुड़कर कहा- पत्नी की बात सुनकर यमराज स्वयम् नचिकेता के पास पहुँचे, और उनकी अभ्यर्थना की। फिर, तीन दिनों की उनकी प्रतीक्षा के लिये उन्हें तीन वरदान माँगने का 'वर' अर्थात् 'वचन' भी दिया।

माँ ने कहा 'वचन' देना इस बात का सूचक है कि व्यक्ति

मन-वचन-कर्म से एक है । वह वैसे ही 'वचन' नहीं देता । जब तक कि वह मन से संकल्पित न हो, वचन से यथार्थ का सम्प्रेषण न कर सके और 'कर्म' से अपने कहे को पूरा न कर सके, वह वचन देने का अधिकारी नहीं।

माँ ने कहा– यमराज अपने 'वचन' का मूल्य जानते थे । वे संकल्पित थे । उन्हें नचिकेता की पात्रता का स्पष्ट ज्ञान था । 'नचिकेता' ने 'यमराज' से तीन वरदान माँगे । उनमें से पहला था– अवसादित पिता की सन्तुष्टि और उनका अपने प्रति स्नेह-बार्द्धक्य; दूसरा वरदान था– स्वर्ग-प्राप्ति का साधनरूप 'अग्निविद्या' का दान; और तीसरा वरदान था– 'आत्म तत्त्व'-सम्बन्धी स्वयम् धर्मराज-यमराज का अनुभवजन्य निर्णयाश्रित ज्ञान ।

माँ ने कहा– नचिकेता के पहले दो वरदान यमराज ने तो तुरन्त पूरे कर दिये, किन्तु तीसरे वरदान की पूर्ति में दृढ़व्रती नचिकेता की पात्रता की सद्यः परीक्षा ली । अनेक लौकिक और अलौकिक प्राप्तियों का उन्हें लोभ दिया, किन्तु दृढव्रती 'नचिकेता' अपनी विनम्रता से सभी टाल गये और एक शिष्य की भाँति उनमें अपनी पूरी आस्था जतायी ।

'नचिकेता' ज्ञान के भूखे थे । उन्होंने यमराज से स्पष्ट किया– 'आपके दर्शनमात्र से मुझे सारी लौकिक-अलौकिक शक्तियाँ, सुविधाएँ मिल जायेंगी। किन्तु, आपके आचार्यत्व के बिना 'आत्मज्ञान' प्राप्त नहीं हो सकेगा । मुझे आप में और आपके ज्ञान में पूर्ण श्रद्धा है । आप मुझे मेरा अपेक्षित वरदान देते हुए 'आत्मज्ञान' देने की कृपा करें ।

माँ ने कहा– यमराज 'नचिकेता' की जिज्ञासा और दृढ़ता के समक्ष झुके । उन्होंने नचिकेता को खुशी-खुशी 'आत्मज्ञान' दिया । योग्य 'गुरु' को योग्य 'शिष्य' की ही तो तलाश रहती है !

माँ ने मुझसे कहा– "आप भी तो हमारे नचिकेता हो । हमारे प्राणाधार हो । आपकी सारी इच्छाएँ पूरी हों ।"

माँ जब भी 'हमारे' शब्द का उपयोग करती हैं उसमें वे अपने साथ 'पापा' को भी सम्मिमलित करती हैं । वे जानती हैं, 'पापा' का प्राण हर पल मुझमें ही अटका रहता है । वे मेरी खुशी को सर्वोच्च स्थान देते हैं ।

माँ ने अपनी कहानी का अन्त करते हुए कहा– "अगर आप इसे सूक्ष्मतः देखें तो आप 'पिता' उद्दालक, 'पुत्र' नचिकेता और 'जीवन के परम सत्य देवरूप' 'मृत्यु' आदि के रूप में तीन वैयक्तिक मनोविज्ञान को अपने समक्ष पाते हैं। 'पिता' मोहग्रस्त हैं। वे जहाँ फल की कामना से यज्ञ करते हैं, वहाँ सर्वस्व दान के अन्तर्गत् गौ-दान के अवसर पर पुत्र के नाम पर अच्छी, दूध देनेवाली गौओं को दान नहीं करते। वे पुत्र की जिज्ञासा पर क्रुद्ध हो जाते हैं और अपने मनोवैज्ञानिक दबाव के आगे टूट जाते हैं। उन्हें अपना 'प्रेय' पुत्र के कारण छूटता नजर आता है। वे क्रोध में आकर उसे 'मृत्यु' को दे देने की बात कर बैठते हैं। पुत्र नचिकेता 'सत्य' के प्रति समर्पित हैं। वे 'फल' या परिणाम के प्रति अनासक्त हैं। उनका 'प्रेय' सांसारिकता, अर्थात् इन्द्रिय सुख नहीं। वे आत्मिक सुख के जिज्ञासु हैं। आत्मा को जानकर ही परमात्मा को जाना जा सकता हे। 'मनुष्य' मरण-धर्मा है। उसे मृत्यु से कैसा भय ? उसे अपने प्राणों के मोह में न पड़कर, कर्तव्य-कर्म को दृढ़तापूर्वक करना चाहिये। जो कर्तव्यपरायण होते हैं, उन्हें मृत्यु से भय नहीं होता और वे 'मृत्यु' से ही 'अमृतत्व' की शिक्षा ग्रहण करते हैं। 'मृत्यु' देवता, 'यमराज', कर्तव्यनिष्ठ हैं। वे आत्मज्ञ हैं, क्योंकि वे सत्य का मर्म जानते हैं। स्वयं वे अपना कर्तव्य नहीं भूलते। 'आत्मा' तेजःरूप है। 'तेज' पार्थिव दृष्टिकोण से 'अग्नि' रूप में निरूपित होता है। मानवीय जीवन में यह 'तेज' 'बुद्धि'-स्वरूप है। 'बुद्धि' व्यक्ति की निश्चयात्मिका वृत्ति है। इसका मुख्य कार्य 'निश्चय' या 'निर्धारण' है। यह सत्वगुण से उद्भूत होता है। 'सत्य' इसका आधार है। 'बुद्धि' चैतन्य आत्मा का गुण है। यह सीधे आत्मा के लिये कार्य करती है। 'बुद्धि' के अतिरिक्त अहंकार और मनस् भी महत् तत्त्व के अंग हैं। अहंकार, मन और इन्द्रियाँ बुद्धि के लिये कार्य करती हैं और स्वयं बुद्धि आत्मा के लिये कार्य करती है। स्मृति और संस्कार बुद्धि में स्थित होते हैं। इस तरह 'बुद्धि' निश्चयन एवं निर्धारण, अर्थात् 'एषणा' के माध्यम से हर कार्य का कारण है। 'एषणा' परब्रह्म का गुण हैं।

माँ ने आगे स्पष्ट किया– 'व्यक्ति' क्रियात्मक और स्थूल, अर्थात् नाम-रूपात्मक है। क्रियाशील का प्रमुखतम गुण है उसकी रचनात्मकता। 'रचनात्मकता' कुछ कर सकने की क्षमता है। कुछ कर सकने का

वैयक्तिक भाव, ही 'अहंकार' कहलाता है। 'अहंकार' कुछ कर सकने की क्षमता का भावमय प्रदर्शन है। इस भाव के निष्पक्ष प्रदर्शन में सर्वकल्याण निहित होता है और मात्र अपने मन तथा इन्द्रियों के वशीभूत होकर रहने में वह सार्व के अकल्याण का कारण बन जाता है। जब मन अहंकार के इस रूप में अपनी प्रमुखता स्थापित कर इन्द्रियाभिमुख हो जाता है, तब वह स्वार्थमय होकर मात्र शरीर के लिऐ कार्य करता है। यहाँ बुद्धि पूर्वाग्रहग्रस्त (Prejudiced) होती है। यह बुद्धि 'व्यक्ति' को अपने-आप से बाहर सार्व की तरफ जाने नहीं देती। 'व्यक्ति' वही देखता है, जो वह देखना चाहता है; वह वही सोचता है जो वह सोचना चाहता है; वह वही करता है जो उसकी इन्द्रियों को सुखकर लगता है। जन सामान्य की बौद्धिक स्थिति ऐसी ही होती है।

माँ ने कहा– ऐसी ही स्थिति में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो पाता। अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। आर्ष-चिारकों ने इसे ही देखा और समझा था, तथा सम्पूर्ण सृष्टि को 'पुरुष', अर्थात् मानव-रूप में देखा था। वह पुरुष शरीर नहीं, वरन् सूक्ष्म शरीर था। उसकी दृष्टि, सोच या उसका कार्य अकेले तक सीमित न रहकर सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता के साथ सर्वत्रता-सर्वव्यापकता से सम्बद्ध थी। 'वह' एक के लिए नही, 'सार्व' के लिये था। वह 'अनेक' का 'परतम' (Summum) रूप था। यही कारण था कि वह 'बहुस्यामः', अर्थात् 'अनेक' अथवा 'असंख्य' था।

'मृत्यु'-देव 'अग्नि-शक्ति' और 'आत्मिक-शक्ति' के ज्ञाता हैं और 'नचिकेता' सार्व को देखने-जानने के इच्छुक। 'सार्व' को जाननेवाला 'मृत्यु'-भय से दूर रहता है और स्वयं 'मृत्यु' भी उसे 'अभयता' प्रदान करती है।

माँ ने आगे कहा– 'अग्नि, 'शक्ति-रूप' 'बौद्धिक तेज', ही 'आत्म-शक्ति' को बढ़ाती है, और यही वृद्ध-आत्मशक्ति व्यक्ति को 'सार्व', अर्थात् परतम आत्मा या परमात्मा से परिचित कराती है। 'व्यक्ति' 'सार्व' का होकर ही वैयक्तिकता के पूर्वाग्रह से अलग हो सकता है। 'समग्रता में वैयक्तिकता की समाविष्टि' आर्ष-विचारकों का अभीष्ट है। इसे ही उन्होंने 'श्रेय', या 'श्रेष्ठतर' कहा है, तथा वैयक्तिकता के आग्रह को 'प्रेय' कहकर

उससे तुलना की है। 'प्रेय' से ही 'श्रेय' की प्राप्ति सम्भव नहीं। इसलिए आर्ष-विचारक श्रेष्ठ की नहीं, श्रेष्ठतर, अर्थात् श्रेय की आकांक्षा रखते हैं और 'श्रेष्ठ को श्रेष्ठतर की प्राप्ति का साधन बताते हैं।

माँ ने आगे कहा– सम्पूर्ण सृष्टि को अगर हम एक व्यक्ति के रूप में देखें तो 'वह' एक व्यक्ति की तरह ही कार्य करता दीखता है। उस व्यक्ति के भी सारे अंग वैयक्तिक अंगों की तरह ही कार्य करते दीखते हैं। 'वह' अवास्तविक नहीं, पूर्णतः वास्तविक है। 'शुद्ध' और रूपान्तरित शक्तियों का वास्तविक रूप। तब वह जागतिक 'नाम-रूप' नहीं रहता, वरन् परमार्थिक नाम-रूप हो जाता है। जागतिक विविधताओं की परतम एकात्मक अनुभूति से ही र्साव का ज्ञान सम्भव है।

मैं माँ को देख रहा था। माँ ने मेरी आँखों में झाँककर मन की सन्तुष्टि को माप लिय होगा। वे सन्तुष्ट हुईं। मुझे दुलराया और सो गयीं।

●

सन्दर्भ

1. कठोपनिषद्; अध्याय-1; वल्ली-1; मन्त्र-1
2. हिन्दू धर्म कोश; 'यज्ञ' शब्द
3. वही।
4. संस्कृत-हिन्दी कोशः वामन शिवराम आप्टे; 'आश्रम' शब्द
5. हिन्दू धर्म कोश : डॉ० राजबली पाण्डेय; 'महायज्ञ' शब्द, पृष्ठ-506

[कठोपनिषद]

'ॐ'

[तेरह]

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों के देव-गण वस्तुतः विभिन्न शक्तियों अथवा दिव्यताओं के निरूपक हैं । 'मित्र'-देव 'दिन' और 'प्राण' के, 'वरुण'-देव 'रात्रि' और 'अपान' के, 'अर्यमा'-देव चक्षु और सूर्य के, 'इन्द्र' -देव 'बल' और 'भुजाओं के, वृहस्पति'-देव 'वाणी' और 'बुद्धि' के, और 'विष्णु'-देव पैरों के अधिष्ठता देव-शक्ति हैं । 'ब्रह्म' सभी देवों के 'आत्मा'-रूप, अथवा -संचालक-शक्ति' हैं । 'वायु' को प्रत्यक्ष 'ब्रह्म' कहा गया है ।[1] 'वायु' प्राण-रूप है । 'वायु' जीवन का आधार है, और शरीर में प्रश्वसन क्रिया के माध्यम से सर्वत्र व्याप्त रहता है ।

आर्ष-विचारकों ने इस प्राण-रूप 'वायु' के पाँच रूप बताये हैं– 'प्राण', 'अपान', 'व्यान', 'उदान' तथा 'समान' । 'प्राण' प्रश्वसन क्रिया में अन्दर की ओर खींची और बाहर निकाली गयी हवा है । इसका स्थान फेफड़ा है; 'अपान' प्रश्वसन क्रिया में नीचे की ओर जाती हुई गुहा द्वार से बाहर निकाली गयी हवा है; 'व्यान' समस्त शरीर में व्याप्त हवा है; 'उदान' कण्ठ से ऊपर सिर की तरफ जानेवाला वायु है; तथा 'समान' का स्थान नाभि है, और पाचन-शक्ति के लिये परमावश्यक मानी गयी है । मुख्य 'प्राण' समष्टिरूप में पाँचों का समन्वित रूप है और तत्त्वतः उस आन्तरिक सूक्ष्म शक्ति के रूप में परिभाषित होता है, जिसके द्वारा दृश्य जगत में जीवात्मा का शरीर से सम्बन्ध होता है ।[2]

आर्ष-विचारकों ने समष्टि-रूप सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को, और व्यष्टि-रूप हर पदार्थ को बाह्य और आभ्यन्तरिक अंशों में देखा है । वाह्यांश-रूप में वह 'स्थूल' शरीर और आन्तरांश-रूप में सूक्ष्म 'प्राण-शक्ति' है । 'शरीर' को कार्य-रूप तथा 'प्राण' को कारण-रूप कहा गया है । कारण-रूप 'प्राण', 'शरीर' की 'धारक' तथा 'संचालक-शक्ति' है तथा कार्य-रूप शरीर क्रियात्मक-शक्ति[3], जो अपनी धारक तथा संचालक-शक्ति द्वारा संचालित होती है ।

'प्राण' तत्त्वतः पिता, माता, भाई, बहन और आचार्य के समान कार्य करता है । 'पिता' के रूप में जगत का जनक, 'माता' के रूप में जगत का

पोषक, 'भाई' के रूप में जगत में समानता का विधायक, 'बहन' के रूप में स्नेह का संचारक तथा आचार्य की तरह जगत का अनुशासनकर्ता है ।

'प्राण' और 'शरीर' के मिलने से ही सृष्टि निर्मित होती है । आर्ष-विचारकों ने 'भूः', 'भुवः' और 'स्वः' के साथ 'महः' की परिकल्पना कर 'शरीर' और 'प्राण' के समन्वय की अवधारणा दी है । भूः, भूवः और स्वः 'शरीर' के तथा 'महः' प्राण के द्योतक हैं । 'महः' ऋत् अथवा वृहत् या सत्य से सम्बद्ध है । आर्ष वाङ्मय में 'महः' को 'ऋत् वृहत्' अथवा 'सत्य ऋत वृहत' के रूप में परिभाषित किया गया है ।[5]

भूः, भुवः, स्वः, महः के ऊपर क्रम से जनः, 'तपः' और 'सत्य' का स्थान कहा गया है । इन सात व्याहृतियों में 'महः' का स्थान मध्य का है । जनः, तपः और सत्य को सूक्ष्म तथा भूः, भुवः और स्वः को स्थूल कहा गया है । स्थूल से सूक्ष्म की ओर के इस उर्ध्वमुखी विकास की परिकल्पना में अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द, चित् और सत् का साम्य स्थापित देखा जा सकता है । 'विज्ञान' और 'महः' की माध्यमिक स्थिति तथा उनसे आगे 'आनन्द' की अवस्थिति उन दोनों को, अर्थात् महः और 'विज्ञान' को एक सिद्ध करती है ।[6] 'विज्ञान' वस्तुओं का सत्य है, वही ऋत्, और वृहत् है ।[7]

'भूः' से लेकर 'सत्यम्' (नीचे से ऊपर के क्रम में) तक की सात व्याहृतियाँ या निरूपक-तत्त्व, वस्तुतः मानवीय व्यक्तित्व के सात चेतन-तत्त्वों, को निरूपित करते हैं । ये सात चेतन तत्त्व (ऊपर से नीचे के क्रम में) सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, मन, प्राणं और अन्न हैं ।[8]

अचानक माँ ने पूछ लिया– इससे आर्ष-विचारण का कुछ ध्येय या लक्ष्य स्पष्ट होता है क्या ?

माँ का कथन कहीं से भी दुरूह नहीं प्रतीत हुआ था । फलतः, मुझे निर्णय पर पहुँचते देर नहीं लगी थी । मैंने कहा– आर्ष-विचारणा में एक स्पष्ट समन्वय दीख पड़ता है, जो उन विद्वानों को भिन्नता से अभिन्नता, विभक्ति से समग्रता, अन्धकार से ज्योति, मर्त्य से अमर्त्य, अर्थात् मृत्यु से अमरता, असत् से सत् की ओर ऊर्ध्वमुखी बनाता है । 'प्राण' का गमन ऊर्ध्वमुखी ही होता है ।

मेरा उत्तर सुनकर माँ अत्यन्त आह्लादित हुईं । उन्हें लगा जैसे उनका

परिश्रम जाया नहीं गया । माँ ने कुछ देर मुझे स्नेहिल नेत्रों से देखा, दुलराया, फिर आगे कहा–

आर्ष–विचारकों की विचारणा अव्यवसायिक अर्थात् 'अनिश्चयात्मक नहीं थी । अव्यवसायिकता हमें अधकचरेपन की ओर ले जाती है । हम अपनी ही हाँके चले जाते हैं और सत्य, या ऋत् बहुत पीछे छूट जाता है । हम 'वादों' (ism) के घेरे में घिर जाते हैं, ओर उस घेरे से बाहर झाँक तक नहीं पाते । हम दूसरों को उस घेरे के अन्दर खींच ले आने के प्रयास में इस कदर उलझ जाते है कि उस घेरे से स्वयं के बाहर निकलने की बात तक ध्यान में नहीं आती । हमारा जीवन मात्र उपदेशक का जीवन होकर रह जाता है; हम स्वयं को सुधार भी नहीं पाते । हमारा ज्ञान स्वयं हमारा अपना मुँह चिढ़ा जाता है । आर्ष–विचारणा इससे भिन्न बिल्कुल ऊर्ध्वमुखी है और 'भूः' की स्थूलता से ऊपर उठती हुई सूक्ष्मतम सत्य, अर्थात् निश्चयात्मिकता की ओर बढ़ती चली जाती है । वहाँ अव्यवसायिकता का कोई स्थान नहीं, और न ही किसी विचार–विशेष के प्रति वहाँ कोई प्रतिबद्धता होती है । वहाँ स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता है । अगर, कोई प्रतिबद्धता है तो मात्र स्वतन्त्रता, उन्मुक्तता, और महत्तम सत्य एवं आनन्द की प्राप्ति के लक्ष्य के प्रति अपनी ही सांकल्पिक प्रतिबद्धता । अनन्तता और असीमता की प्राप्ति के प्रति उनकी यह प्रतिबद्धता बिल्कुल निश्चयात्मक, अर्थात् व्यवसायिक है ।

माँ ने स्पष्ट किया– अव्यवसायिकता हमें स्थूल अस्तित्व (existence), अर्थात् द्रव्य (matter) या विषयों से बाँध देता है, और हम उन्मुक्तता के सच्चे आनन्द से दूर हो जाते हैं । अव्यवसायिकता का अन्त ऐन्द्रियक आनन्द तक सीमित रह जाता है, सच्चिदानन्द (सत् चित् आनन्द) तक नहीं पहुँच पाता । वहाँ तक पहुँचने के लिये हमें आर्ष–विचारणा की निश्चयात्मिकता का सहारा लेना होता है ।

आर्ष–विचारणा उन्मुक्त है, स्वतन्त्र है, व्यवसायिक है, निरपेक्ष है । निरपेक्ष विचारण ही उन्हें निरपेक्ष आदर्श और इस तरह, निरपेक्ष आनन्द तक ले जाता है । वे जानते हैं कि निरपेक्ष आनन्द तक पहुँचने के लिए विचारण को अव्यवसायिकता की संकीर्ण पगडण्डी से हटा कर, व्यवसायिकता के 'महापथ' पर ले जाना होता है । वे जानते हैं कि यह 'व्यक्ति' की वैयक्तिकता है, जो उसे अव्यवसायिक बनाती है, वरना उसकी मानवीयता,

अर्थात् मननशीलता तो उसे 'आकाश' और 'पृथ्वी', अर्थात् मन और शरीर की सीमितता से ऊपर उठाकर 'सत्यम्' या परतम (summum) 'सत्य' की असीमता में, अर्थात् दिव्य सुख में, पहुँचाने के लिये सदा तत्पर रहती है। आवश्यकता होती है मात्र व्यवसायिक स्वाध्याय की। 'व्यक्ति', अपनी इस मानवीय साधना के योग्य है, क्योंकि मानवरूप में वह मननशील है। आर्ष-विचारक ऐसे 'योग्य' व्यवसायिक साधक को, जिसमें ब्रह्मप्राप्ति (दिव्य सुख प्राप्ति) की योग्यता पहले से ही विद्यमान हो, 'प्राचीनयोग्य' संज्ञा से संज्ञापित करते हैं।[9]

माँ ने कहा– 'ब्रह्म' वस्तुतः स्वतन्त्र सत्ता है और इसकी प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति का अपना अध्ययन भी स्वतन्त्र हो। अध्ययन की यही स्वतन्त्रता 'स्वाध्याय है। 'स्वाध्याय' हर कर्म के साथ जुड़ा हुआ है, और मानवमात्र का स्वाभाविक कर्म है। 'मनन' के बिना कर्म की क्रमिकता सम्भव नहीं।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारणा ने सम्पूर्ण सृष्टि को छः पदार्थीय पंक्तियों में विभाजित किया है।[10] इनमें से तीन को आधिभौतिक श्रेणी की पङ्क्ति में और तीन को आध्यात्मिक श्रेणी की पङ्क्ति में रखा है। आधिभौतिक श्रेणी में पाँच लोकों, पाँच ज्योतियों, और पाँच स्थूल पदार्थों की तीन पंक्तियाँ है। ये सभी शरीर के बाहर रहने के कारण 'वाह्य पाङ्क्त' कहे गये हैं।[11] शरीर के भीतर रहनेवाली पदार्थों की पंक्तियाँ 'आध्यात्मिक' पाङ्क्त कहलाती हैं। इस श्रेणी में पाँच प्राणों, करण-समुदाय, पाँच शरीरगत धातुओं की तीन पङ्क्तियाँ हैं।[12] 'आधिभौतिक' पदार्थ स्थूलता का, और 'आध्यात्मिक' पदार्थ सूक्ष्मता का निदर्शन करते हैं। आर्ष-विचारणा के अनुसार प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व को जानकर ही उनका सफल उपयोग सम्भव होता है। उनके अनुसार आधिभौतिक पांक्त की पहली पंक्ति के पदार्थों का सम्बन्ध आध्यात्मिक पांक्त के पहली पंक्ति के पदार्थों से होता है। इसी तरह आधि-भौतिक पांक्त की दूसरी तथा तीसरी पंक्ति के पदार्थों का सम्बन्ध क्रमशः आध्यात्मिक पांक्त की दूसरी और तीसरी पंक्ति के पदार्थों के साथ होता है।

पदार्थों के आर्षेय विवेचन के बाद माँ ने स्वाध्याय के सन्दर्भ में कहा– अगर 'ज्ञान' और 'कर्म' एक दूसरे के साथ हर कदम पर न रहें तो

अनर्थ का भय सतत लगा रहेगा । 'ज्ञान', अर्थात् आध्यात्मिक शक्ति, वस्तुतः 'संचालक' शक्ति (Driving Force) या प्रेरक शक्ति (motive force) है । इस संचालक-शक्ति की क्रियान्विति से ही शारीरिक, अर्थात् आधिभौतिक शक्ति क्रियाशील होती और, कार्य को जन्म देती है । 'कर्म' की सफलता कार्य की सफलता में निहित रहती है । 'सफलता' वस्तुतः सर्वकल्याण' का पर्याय है । 'स्वाध्याय' ही 'सफलता' के विवेचन में सक्षम है, स्वाध्याय इस तरह शिक्षण भी है, और प्रशिक्षण भी; अध्ययन भी है और अध्यापन भी ।

माँ ने कहा-- यही कारण है कि आर्ष-विचारकों ने स्पष्टतः कहा है कि चाहे वह सदाचार-पालन हो अथवा सत्य-भाषण, तपश्चर्या हो अथवा इन्द्रियनिग्रह, अग्नि-चयन हो या अग्निहोत्र, आतिथेय हो या कोई भी लौकिक व्यवहार, प्रजा-प्रजनन हो या प्रजाति वृद्धि, सत्य ही सर्वत्र अन्वेषणीय है और शास्त्र ही पठनीय तथा अनुकरणीय ।[13] शास्त्र-सम्मत निश्चित् ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव, जो हमें सर्वकल्याणमय सत्य तक पहुँचाता है, का समन्वय ही 'ज्ञातव्य' ज्ञान, 'ध्यातव्य' ध्यान, और 'कर्तव्य' कर्म है । वस्तुतः स्वाध्याय में ही ये तीनों कर्म निहित हैं । एक स्वाध्यायी ही सर्वज्ञ और सर्वज्ञता तक पहुँच सकता है । आर्ष-विचारक 'ऋषि' थे, 'कवि' थे, द्रष्टा थे । वे स्वयं सर्वज्ञ हों या न हों, 'सर्वज्ञ' के द्रष्टा अवश्य थे ।

'सर्वज्ञता' का अर्थ सब कुछ जानने से है । यह 'बुद्धत्व' का अर्थ रखता है । स्पष्ट है कि एक 'बौद्ध' ही ज्ञान का ज्ञाता, अर्थात् सर्वज्ञ या 'बुद्ध' होता है । वह किसी भी विषय के 'सत्य' तक पहुँचने का व्यापक सिद्धान्त जानता है और यथार्थ निर्णय तक पहुँचने की क्षमता रखता है । 'सिद्धार्थ' तब 'बुद्ध' हुए जब वे 'कार्य-कारण' के सम्बन्ध को जान सके ।

....कहा जाता है कि बुद्धत्व प्राप्ति के बाद वे कार्य-कारण सम्बन्धों के आधार पर हर उस प्रश्न का उत्तर दे सकने में समर्थ थे, जो जीवन-सन्दर्भित थे । स्वयं बुद्ध के अनुसार जीवन-सन्दर्भित प्रश्न वस्तुतः क्लेश-बहुल प्रपञ्च से उद्धार पाने से सम्बद्ध होते हैं, या हो सकते है । अध्यात्म-सम्बद्ध 'अतिप्रश्नों' से यह उद्धार सम्भव नहीं ।

माँ ने कहा-- आर्ष-विचारक सम्पूर्ण को देखने, जानने और भोगने की इच्छा रखते हैं । 'भोग' पुरुषार्थ का अङ्ग है । धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, इन चार

पुरुषार्थ में 'भोग' के बाद 'मोक्ष' का स्थान आता है। 'भोग', अर्थात् 'काम' के पहले 'अर्थ', और अर्थ के पहले 'धर्म' आता है। धर्मजन्य अर्थ ही भोग को मोक्ष, अर्थात् आनन्दमय बना सकता है। 'जीवन' अधर्मजन्य 'भोग' अथवा अधर्मजन्य 'अर्थ' से मोक्ष नहीं प्राप्त करता। 'मोक्ष' प्राप्त होता है सत्य और ऋत् के अनुकरण से।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारणा के केन्द्र में 'सत्य', 'प्रकाश', और 'अमरत्व', की खोज अवस्थित है। उनके अनुसार यह 'सत्य' सभी सत्यों से भी ऊपर है, यह प्रकाश सभी ज्ञात प्रकाशों से भी वृहत्तम है, और यह 'अमरत्व' वह 'अमरत्व' है, जिसकी तरफ आत्मा को ऊर्ध्वगामी होना है। उनका मानना है कि जीवन को उस 'सत्य' और 'अमरत्व' की प्राप्ति के लिये स्वयम् को सत्यमय बना रहना होगा।

माँ ने कहा– 'जीवन' वस्तुतः शरीर, मन और आत्मा के समन्वय से अभिव्यक्त होता है। आत्मा 'दर्शक' होने के कारण 'दृश्य' के गुण-दोष से कभी लिप्त नहीं होता। दृश्य से लिप्त होता है 'शरीर' और 'मन'। 'शरीर' और 'मन' ही रोग-ग्रस्त होता है अथवा निरोग रहता है। 'शरीर' और 'मन' अन्योन्याश्रित है, फलतः एक के रोग-ग्रस्त होने से दूसरा स्वतः रोगग्रस्त हो जाता है। यही कारण है कि आर्ष-विचारकों ने 'शरीर' और 'मन' दोनों के रोगों के लिये जो निदान ढूँढा, उसे 'वेद' से ही निरूपित किया। 'शरीर'-रोग की विमुक्ति के लिये 'आयुर्वेद' और 'मनःरोग' के लिये 'वेद'-ऋक्, यजु, साम और अथर्व। 'वेद' और 'आयुर्वेद' के लिये भी अन्योन्याश्रितता की वही मजबूरी है जो 'शरीर' और 'मन' के लिये है। 'वेद' और 'आयुर्वेद' एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते– क्योंकि दोनों का ही केन्द्र विन्दु 'जीवन' है। आर्ष-विचारक इस यथार्थ को बखूबी जानते दीखते हैं। शरीर की चिकित्सा के लिए वे 'चिकित्सा-शास्त्र', अर्थात् 'आयुर्वेद' (आयुःवेद) और 'मन' की चिकित्सा के लिये 'मोक्ष-शास्त्र', अर्थात् विभिन्न 'वेदों' को प्रस्तुत करते हैं। दोनों ही चिकित्सा-विधियों के लिये वे 'चतुर्व्यूह'[14] का एक मान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करते है। उस चतुर्व्यूह के सिद्धान्त के चार अवयव हैं– संसार, संसार का हेतु, मोक्ष और मोक्ष का उपाय।[15]

'बुद्ध' ने उपर्युक्त 'चतुर्व्यूह' को ही 'दुःख' पर आरोपित कर 'चार आर्य-सत्य' को देखा है, जिसे शारीरिक रोग-चिकित्सा और मनः अर्थात्

आध्यात्मिक रोग-चिकित्सा, अर्थात् मोक्ष-शास्त्र' दोनो, के लिये प्रभावी होता देखा जा सकता है । बुद्ध के चार आर्य-सत्य हैं- दुःख, दुःख समुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा ।[16]

स्पष्ट है कि जीवन-दर्शन का द्रष्टा जीवन की पुस्तक को मात्र किसी आचार्य की सहायता से ही नहीं समझ सकता, उससे अधिक, उससे उसके निरपेक्ष स्वाध्याय की अपेक्षा होती है । 'जीवन' स्वाध्याय का विषय है, मात्र उपदेश का नहीं । इसमें ऐसा कुछ नहीं जिसे 'स्थापित' सत्य कहा जा सके। इसमें मात्र जीवन की यथार्थता है, जो 'वादों' (ism) से अलग, मात्र एक 'सत्य' है, एक शक्ति-पुंज है । सारे 'शास्त्र' जीवन-दर्शन से ही सम्बद्ध हैं, और यथार्थता की अपनी अभिव्यक्ति के कारण विज्ञान हैं । वे, जो स्वाध्यायी हैं, अपने आप में 'जीवन-द्रष्टा' और सत्य-द्रष्टा हैं ।

'जीवन' व्यवसायिक पाठ्य-सूची का विषय है । इसकी वास्तविक पढ़ाई पुस्तक या शास्त्रों के पन्नों से नहीं होती । इसकी पढ़ाई स्वयं जीवन के पन्नों से होती है, जहाँ 'बैखरी' का महत्त्व नहीं होता, मात्र 'परा', 'पश्यन्ती' और मध्यमा की आवश्यकता होती है । जो इन्हें नहीं जानते वे मात्र 'शब्दों' 'प्रत्ययों' और तार्किक स्थापनाओं पर ही विश्वास कर 'जीवन' के मूल प्रश्नों को भुला देते हैं और उसकी समस्याओं के निदान को 'वादों' के भ्रम-जाल में डालकर अपनी अव्यवसायिक बुद्धि की दाद देते नहीं थकते। 'अव्यवसायिकता'[17] का प्रमुख गुण है- वह निदान नहीं चाहती । 'जीवन' को समझने के लिये 'दार्शनिक' बनना होगा, तार्किक नहीं ।

माँ की स्पष्टोक्ति का लोहा माननेवाले उनके निर्भय स्वभाव से भी परिचित हैं । मुझे लगा- 'जीवन' की मर्मज्ञा, मेरी माँ, कोई व्यक्ति नहीं, वरन् स्वयं में 'शाश्वती' है, जो अनादि काल से 'जीवन' को देखती-परखती-पालती चली आ रही है, और वह जहाँ भी होगी, देखती ही जा रही होगी, सदैव देखती ही रहेगी ।

●

सन्दर्भ

1. कठोपनिषद्; शिक्षा-वल्ली; अनुवाक- एक

2. 'प्राण-तत्त्व; हिन्दू धर्म कोश; पृष्ठ- 428
3. वही ।
4. वही
5. वेद रहस्य (पूर्वाद्ध); पृष्ठ 83
6. वही ।
7. वही ।
8. वही ।
9. तैत्तरीय उपनिषद, वल्ली-1; अनुवाक्-6; पृष्ठ 291
10. तैत्तरीय उपनिषद, वल्ली 1; अनुवाक् 7; पृष्ठ 292
11. आधिभौतिक पांक्त :-
(i) पहली पंक्ति- पाँच लोकों की पंक्ति- पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशाएँ, अवान्तर दिशाएँ
(ii) दूसरी पंक्ति- पाँच ज्योति- अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र;
(iii) तीसरी पंक्ति- पाँच स्थूल पदार्थ- जल, औषधी, वनस्पति, आकाश, आत्मा
12. आध्यात्मिक पांक्त- पहली पंक्ति- प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान- पञ्च प्राण
दूसरी पंक्ति- नेत्र, कान, मन, वाणी, त्वचा- पाँच करण
तीसरी पंक्ति- चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी, मज्जा- पाँच शरीरगत धातु
13. तैत्तिरीय उपनिषद; वल्ली 1; अनुवाक् 9; पृष्ठ 295
14. चतुर्व्यूह- भारतीय दर्शन; पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय; पृष्ठ 122
15. 'चतुर्व्यूह'- मानक हिन्दी कोश; पृष्ठ 202, खण्ड 2
16. भारतीय दर्शन : पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय; पृष्ठ 121
17. श्रीमद्भागवत्रवद्गीता 2/41-44

'ॐ'

[चौदह]

माँ ने कहा– 'वेद' और उपनिषद् में गहरा सम्बन्ध है । अगर आप निष्पक्ष भाव से देखें तो दोनों ही जीवन–सृष्टि की सर्वांगीण व्याख्या हैं, जहाँ ज्ञान और कर्म मात्र सन्दर्भित ही नहीं, पूर्णतः अपनी समन्विति में व्याख्यापित हैं ।

'ऋग्वेद ' के पहले सूक्त और अन्तिम सूक्त को देखकर, अगर हम 'उपनिषदों' की ओर देखें तो ऋषियों का सम्पूर्ण जीवन–दर्शन स्वतः स्पष्ट हो जाता है । ऋषि सम्पूर्णता के उपासक हैं, सम्पूर्णता के द्रष्टा हैं, सम्पूर्णता के विज्ञाता और सम्पूर्णता के ही भोक्ता भी हैं । उनकी बुभुक्षा ज्ञानमय–कर्म की है, उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचने की लगन है । आप इन्हें इतिहास की धरोहर मानकर नहीं रह सकते ।

माँ ने कहा– जीवन का आदर्श आज भी खोजा जा रहा है । आज का जीवन 'सत्ययुग' से निकलकर 'त्रेता' और 'द्वापर' होता हुआ यहाँ पहुँचा माना गया है । 'सत्ययुग' की यथार्थता, 'त्रेता' की नैतिकता और 'द्वापर' की द्वन्द्वात्मकता का अन्त जिस अन्धेरे युग का सूत्रपात कर गया वह है 'कलियुग', जहाँ धर्म मात्र एक पैर पर खड़ा देखा जाता है । और, इस एक पैर को भी मात्र 'दान' पर आश्रित छोड़ दिया गया है ।

कहते हैं– धर्म के चार पैर हैं और वह अपने चार पैरों पर सन्तुलित है । 'तप', 'ज्ञान','यज्ञ', और 'दान' ये धर्म के चार पैर कहे गये हैं ।[1] 'तप' की प्रधानता कृतयुग या सत्‌युग में थी, 'ज्ञान' त्रेता में प्रमुख बना, द्वापर में 'यज्ञ' और 'दान' कलियुग का प्रधान बना । सत्–युग में चारों पैर से धर्म स्थिर था । सत युग के बाद 'तप' समाप्त हो गया । बचे तीन पैर ज्ञान, यज्ञ और दान के । उनमें से 'त्रेता' के जाते–जाते 'ज्ञान' का आलम्बन (पैर) भी समाप्त हो गया । बचा 'यज्ञ' और 'दान' का आलम्बन । 'द्वापर' की समाप्ति ने 'यज्ञ' के आलम्बन की भी समाप्ति देख ली । 'द्वापर' की समाप्ति पर कलियुग का अवतरण हुआ । 'कलियुग' मात्र 'दान'–रूपी धर्म–आलम्बन पर खड़ा कहा गया है । वहाँ भी अब पात्रता–अपात्रता का कोई माप–दण्ड नहीं रहा । 'दान' का अर्थ भी उपकार या व्यापार से सम्बद्ध हो गया है ।

सम्भवतः पुजारियों-पुरोहितों से लेकर साधू-सन्तों तक को दिया जाने वाला आज का 'दान' ही, वह 'दान' रह गया माना जा रहा है । विद्या-दान, जीवन-दान आदि तो अब व्यापार हो गया है, अतः इन्हें दान तो कहा नहीं जा सकता ।

फलतः आज के आदर्शों से, अगर वह कहीं है तो, वैदिक काल के आदर्श उच्च स्तरीय रहे थे, इसमे कोई संशय नहीं होना चाहिये ।

ऋग्वेद के पहले सूक्त के ऋषि हैं– मधुच्छन्दा, देवता हैं– अग्नि। यहाँ अग्नि 'पुरोहित' हैं, ऋत्विज हैं, 'होता' हैं; वह पालक हैं, रक्षक हैं, ज्ञान देने वाले हैं, वह पिता के समान हैं । ऋग्वेद की सम्पूर्ण यात्रा के बाद जब उसके अन्तिम सूक्त पर आते हैं तो वहाँ भी हमें 'अग्नि' का ही दर्शन होता है । अन्तिम सूक्त के 'अग्नि' और 'संज्ञान' दो देवता हैं । 'संज्ञान' भी अग्नि का ही रूप है । किन्तु, यहाँ अग्नि को सभी प्राणियों में व्याप्त कहा गया है, और संज्ञान के रूप में उसे संगठन-कर्त्ता माना गया है । जो व्यापक है, वही आधार होता है समन्वय और संगठन का । भिन्नों का संगठन नहीं होता, भिन्न-भिन्न संगठन हो सकते हैं । 'संज्ञान' एकाकी नहीं होता, वह व्यापकों के बीच स्थित होता है । 'विचार', 'उच्चार', और 'आचार' उसका आधार होता है । 'साथ चलो, साथ बोलो और एक समान सोचो'[2]- उसके मूल मन्त्र हैं ।

आगे की ऋचायें 'विवेक' और 'संगठन' की अन्योन्याश्रितता की मात्र परिचायिकाएँ हैं । ऋग्वेद का सम्पूर्ण सार 'व्यक्ति' से 'संगठन' तक की यात्रा में निहित है ।

धर्म के चार पैर भी संगठन, समन्वय और विवेकशीलता के परिचायक हैं । 'सत्-युग' या 'कृत युग' अपने सत्य, यथार्थ, कठिन श्रम, श्रम-विभाजन आदि के आधार पर संगठित जीवन पर ही स्थिर रह सका था । तप, ज्ञान, यज्ञ और दान ही इसे स्थिरता दे सक थे ।

माँ ने कहा– 'सत्य कर्म' इनमें प्रधान था । 'सत्य कर्म' का निरूपण 'तप' में होता है । 'तप' के साथ 'ज्ञान-यज्ञ-दान' के त्रिक् का होना अनिवार्य होता है । निश्चय ही 'कृत युग', निर्माण का युग रहा होगा । विकास का प्रथम चरण रहा होगा । 'त्रेता' में 'ज्ञान' के सहारे नीतियों की

निर्मिति हुई होगी । 'संगठन' सत्य के ज्ञान मात्र से शासित नहीं होता । 'संगठन' व्यावहारिक होता है 'नीतियों' से । 'नीतियों' का आचरण कष्टप्रद होता है । इसमें उत्तरदायित्व और कर्तव्य का बन्धन अधिक प्रबल होता है। 'आराम' का अधिकार गौण हो जाता है । 'आराम', अर्थात् 'विषय-भोग' की छूट या स्वतंत्रता । 'नीतियों' का सामञ्जस्य वैषयिक सुख की स्वतन्त्रता से सम्भव नहीं। 'द्वापर' का महाभारत सारतः इसका ही स्पष्टीकरण दीखता है । 'धर्म की जीत के बावजूद 'द्वापर' का अन्त 'अर्थ' (धन) को ही प्रमुखता देता हुआ 'कलि' को 'अर्थ' में ही प्रतिष्ठित भी कर गया । कृत युग के चार 'पुरुषार्थ'– धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का क्रम कलियुग में बदलकर 'अर्थ, काम-मोक्ष और धर्म हो गया है । दूसरे शब्दों में पहले 'धर्म' प्रधान था । धर्म से अर्थ, अर्थात् धर्म से प्राप्त 'अर्थ' से धर्मपूर्ण कामना की पूर्ति और धर्मपूर्ण कामना की पूर्ति से मोक्ष, अर्थात् आनन्द की प्राप्ति होती थी । कलि-युग में आज 'अर्थ' से धर्म, अर्थात् 'धनात् धर्मः' का विचार परोसा गया है । ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ के 'पूर्व' क्रम का बदल जाना स्वाभाविक हो जाता है । आज अगर 'अर्थ' से पूरित कामनाओं का सुखदायी होना धर्म हो गया है तो आश्चर्य कैसा ? –माँ ने अपनी राय दी ।

माँ ने आगे कहा– आर्ष-विचारकों अथवा मन्त्र-द्रष्टाओं के लिए जो 'संज्ञान', एक दिव्य 'देवता' था आज वह अपने 'सं' को खोकर मात्र 'ज्ञान' के रूप में रह रहा है । तब का 'ज्ञान' भी 'धर्म'-आधारित था । वहाँ 'मानवीयता' थी, 'सामूहिक प्रगति' का लक्ष्य था । तब विचारकों का लक्ष्य मात्र लौकिक, शारीरिक अथवा बाह्य सुख, अर्थात् ऐन्द्रिय सुख की प्राप्ति का नहीं था । वे तो आभ्यन्तरिक सुख-शान्ति-सौम्यता के अन्वेषी थे । 'प्रेय' की पूर्ति से अधिक 'श्रेय' की पूर्ति पर उनका ध्यान रहता था । वे मात्र 'ज्ञान' के लिए ज्ञान, अथवा मात्र आजीविका-सम्बद्ध कर्म के लिये ज्ञान प्राप्त करने में विश्वास नहीं रखते थे । वे 'ज्ञान' और 'कर्म' के पूर्ण समन्वय पर बल देते थे । वे 'ज्ञानमय कर्म' और 'कर्ममय ज्ञान' के उपासक थे । उनका विचार था– "कर्मों (अविद्या) के अनुष्ठान से 'मृत्यु' को पार करके ही 'ज्ञान' के अनुष्ठान से अमृतत्व को भोगा जा सकता है ।[3] वे उस सम्पूर्ण 'जीवन' के द्रष्टा थे, जहाँ 'समन्वय' की प्रधानता होती है । वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के पृष्ठपोषक थे, किन्तु यह स्वतन्त्रता वैयक्तिक 'कर्म' और विचार

के लिये थी । अपनी योग्यता, अर्थात् कार्य-क्षमता या अभिरुचि के आधार पर व्यक्ति कोई भी 'कर्म' कर सकता था । 'वर्ण' की व्यवस्था में 'चातुर्वर्ण्य'[4] का सृजन, इसी 'कर्म-स्वातन्त्र्य' को दिखलाता या स्पष्ट करता है ।

माँ ने कहा– 'मृतत्व' और 'अमृतत्व' का सम्बन्ध 'जीवन्त' जीवन से है । आर्ष-विचारक 'मृत्यु' को 'कर्म' से जोड़कर 'मृत्यु' को पार करने, तथा 'ज्ञान, अर्थात् 'विद्या', से 'मृत्यु से पार हुए जीवन' को संज्ञानात्मक दृष्टिकोण से भोगने, अर्थात् प्राप्त सुख को भोगने, के हिमायती हैं । अपने इस सुखभोग में ऋग्वेद के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि न तो 'मनुष्पिता' (ऋग्वेद 1/80/16)[5] को भूलते हैं और न ही 'मनु के मार्ग' अर्थात् 'मानव धर्म' (ऋग्वेद 8/30/3)[6] को । 'जन्म' और 'मरण' से घिरे 'मानव-जीवन' की रक्षा और 'रक्षित मानव-जीवन' का उपयोग वे वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के साथ परमार्थ, अर्थात् सर्वकल्याण में करने का ध्येय रखते हैं ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारक अपनी विचारणा में कहीं भी 'अ-मानव' या 'मानवेतर' कल्पना को प्रश्रय देते नहीं दीखते । उनके विचारण-निष्कर्ष सटीक और सही होने के साथ-साथ व्यापक एवं शाश्वत, अर्थात् सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं । आर्ष-वाङ्मय में आर्ष-विचारकों को 'ऋषि', 'मन्त्र-द्रष्टा', 'कवि', 'सत्यश्रुत' आदि विशिष्ट नामों से संज्ञापित किया गया है ।

माँ ने कहा– 'ऋषि' शब्द का एक अर्थ 'प्रकाश की किरण'[7] तथा 'कवि' शब्द का अर्थ 'सूर्य', 'सर्वज्ञ'[8] या त्रिकालज्ञ के साथ-साथ उसके स्त्रीलिङ्ग रूप में 'लगाम का दहाना' भी होता है । अपने व्यापक अर्थों के साथ 'ऋषि', जहाँ ज्ञान का प्रथम प्रवक्ता और 'दिव्य-द्रष्टा' होता है वहाँ वह अपने विचारण-निष्कर्षों में परतम (summum) सत्य को भी देखता है । अपरतम (Infima) सत्य को देखकर परतम सत्य को देखने के कारण, वह परोक्षदर्शी है, और सबों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने के कारण प्रत्यक्षदर्शी भी।

माँ ने कहा– 'मन्त्रों' की शाब्दिक अभिव्यक्ति में विचारों के शब्द-चित्र उसके दर्शन के मूल आधार हैं । वह उन्हीं शब्द-चित्रों में सृष्टि के परतम-रूप का प्रत्यक्ष दर्शन कराता है । यही कारण है कि वह 'शब्द' और 'वस्तु' के यथार्थ, अर्थात् 'वस्तु' के 'परतम'-रूप को 'एकरूप' देखता

है। वहाँ 'शब्द' और 'ब्रह्म' एक हो जाते हैं। वहाँ शब्द ही 'ब्रह्म' और 'ब्रह्म' ही 'शब्द' हो जाता है। 'वस्तु' का 'अपरतम'-रूप एक सार्वभौम, सार्वकालिक रूप में व्याख्यापित हो जाता है। अपनी 'परतमाता' में सभी 'अपरतम' वस्तुएँ 'एक' हो जाती हैं। एक, अर्थात् 'अद्वैत', जहाँ कोई दूसरा नहीं होता। 'कार्य' और 'कारण' एक होकर 'स्वयम्भू' का रूप ले लेते हैं। इस 'परतम' को जान लेने से सारे संशय मिट जाते हैं, और व्यक्ति आनन्दित हो उठता है। वस्तुतः यही 'मोक्ष' की स्थिति होती है।

ऋषि 'ज्ञान' और 'कर्म' के समन्वय पर गम्भीरता पूर्वक विचार करते नजर आते हैं। 'ज्ञान' ओर 'कर्म' को अलग-अलग देखने वालों के लिये ईशावास्य के मन्त्रद्रष्टा की स्पष्टोक्ति है–

'जो व्यक्ति अविद्या, अर्थात् मात्र कर्म की उपासना करते हैं वे 'अज्ञान'-रूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, और जो मात्र 'विद्या', अर्थात् ज्ञान में निमग्न हैं वे भी 'कर्म' के अभाव में उसकी (ज्ञान की) सच्चाई नहीं परख पाने के कारण उसी अज्ञान-रूपी अन्धकार में डूबे पड़े रहते हैं।"[9]

माँ ने कहा– आज पाश्चात्त्यीय ओद्योगिक सभ्यता ने जिस संस्कार को जन्म दिया है, उसमें व्यक्ति स्वयं अपने खण्डित व्यक्तित्व के साथ जीने को मजबूर है। वह सृष्टि में व्याप्त समन्विति को न तो देखने लायक रह गया है, और न ही वह उसे देखना चाहता है। ऐसी स्थिति में एकता की बातें करनी निरर्थक ही सिद्ध होती हैं। संभवतः औपनिषदिक काल में भी ऐसी ही स्थिति आन पड़ी होगी, जब स्वयं से निराश व्यक्ति ने ऋषियों-गुरुओं की शरण ली होगी और उन्हें सुना होगा। तभी तो वे कह पाये होंगे "हमने उन धीर पुरुषों के वचन सुने हैं, जिन्होंने हमे उस विषय को, व्याख्या करके भली-भाँति समझाया है।"[10]

माँ ने कहा– 'जब हम अपने-आप को सम्पूर्ण सृष्टि में देखने का प्रयास करने लगते हैं, हमें सम्पूर्ण सृष्टि अपने-आप में सिमटी नजर आने लगती है। हम 'अन्य' शब्द को ही भूल जाते हैं। हम जब अपने प्रति जो अकल्याण नहीं कर सकते,या होने देना नहीं चाहते वह अन्य के प्रति भी नहीं कर पाते। 'स्व' का स्वतः विलयन 'अन्य' में होता हुआ 'परतम' तक

पहुँचता है । जब हम मात्र अपने कल्याण की बात को भूल जाते हैं, तो मात्र 'सर्वकल्याण', 'परमकल्याण' ही यहाँ रह जाता है । 'ज्ञान' और 'कर्म' समन्वित होकर हमारे 'वचन' को अपने में मिला लेते हैं । हम 'मनसा-वाचा-कर्मणा' एक होकर 'शिष्ट', 'वशिष्ठ', 'प्रतिष्ठित', 'सम्पत' और 'आश्रय' बनकर ऐश्वर्यशाली भगवत्-रूप बन जाते हैं । व्यक्ति ज्ञान-वचन और कर्म की अतिशयता में नहीं, सम्यकता में पूर्ण होता है ।" विचार की पूर्णता कर्म में होती है, कर्म में ही आँकी भी जाती है ।

मैं माँ के व्यक्तित्व से अभिभूत था ।

●

सन्दर्भ

1. मनुस्मृति, अध्याय- 1, श्लोक 86 ।
2. ऋग्वेद, अ० 10; अ० 12; सूक्त 191; मन्त्र 2 ।
3. ईशावास्य उपनिषद्; मन्त्र 11; पृष्ठ 33
4 "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।"
   (श्रीमद्भागवदीता; अध्याय 4/13; पृष्ट 116)
5. "यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत ।"
6. "मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः ।"
7.8. संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे ।
9. ईशावस्य उपनिषद; मन्त्र 9 ।
10. वही; मन्त्र 10 का उत्तर भाग ।

'ॐ'

[पन्द्रह]

माँ ने कहा– विदेहराज सम्राट जनक दर्शनाभिलाषियों को दर्शन देने के दृष्टिकोण से अपने आसन पर बैठे थे । ऐसे अवसर निर्धारित रहते हैं । राजा स्वयं प्रजा के सम्पर्क में आकर वैयक्तिक रूप से उनकी स्थिति को जानने का प्रयास करते हैं । 'सम्राट'–राजा का तो यह नियम–सा ही रहता है । 'सम्राट्' वह होता है जो अपनी आज्ञा से राज्य पर शासन करता है ।[1]

एक अवसर पर ऋषि याज्ञवल्क्य भी सम्राट जनक के सम्मुख उपस्थित हुए । अवसर ऐसा था जहाँ राजा के लिये उनकी आवश्यकता को जान लेना अनिवार्य था । राजा जनक राज्यर्षि (राजर्षि) थे । किन्तु यह अवसर राजा के लिये दर्शन देने का था । राजा ने ऋषि से एक साथ दो प्रश्न किये– आपके पदार्पण का कारण पशुओं की अभिलाषा है या 'सूक्ष्मान्त' के लिये आपका आगमन हुआ है ? ऋषि ने राजा का अभिप्राय समझा और अपने कर्तव्य–कर्म का तत्क्षण निर्धारण कर उत्तर दिया – दोनों के लिये ।

माँ ने समझाया– राजा के लिये यह अवसर दर्शन देने और प्रजा की वैयक्तिक कठिनाई सुनने और उसे हल करने का था । किन्तु राज्यर्षि राजा के लिये यह कठिन था कि "सामने जिज्ञासा शान्त करनेवाले ऋषि खड़े हों और वह अपनी जिज्ञासा शान्त करने का अवसर न खो दे !"

"याज्ञवल्क्य ने भी राजर्षि के प्रश्न को समझा । उन्होंने तत्क्षण सोचा और उन्हें अपने पिता का उपदेश याद हो आया– 'शिष्य को उपदेश के द्वारा सन्तुष्ट करने के बद ही उसके द्वारा समर्पित धन लेना या ग्रहण करना चाहिये ।"

माँ ने कहा– विद्वानों के बीच सौम्य आचरण उनकी विशेषता है । दोनों ही विद्वान एक दूसरे की इच्छापूर्ति के लिये तैयार थे । ऋषि और राजर्षि दोनों का एक मत होता है– 'जीवन की समस्या का समाधान' । 'भौतिक' आवश्यकता वैयक्तिक होती है, 'आध्यात्मिक' आवश्यकता व्यापक । राजर्षि जनक प्रजा की इस आवश्यकता को महत्त्वपूर्ण समझते थे । प्रजा भी ऋषि और राजर्षि के ऐसे वार्तालाप को ध्यान से सुनती थी । ऐसे अवसर

उसके जीवन में कम ही आते थे, या आने थे ।"

मेरी जिज्ञासा शान्त करने के बाद माँ ऋषि और राजर्षि 'जनक' के बीच होने वाले वार्तालाप की ओर मुड़ीं । माँ ने कहा– ऋषि ने राजर्षि जनक से कहा– सम्राट् ! आपके यहाँ अनेक आचार्य आते हैं और आप उन सबों की सेवा-अभ्यर्थना करते हैं । उनमें से जिस किसी ने जो कुछ कहा हो वह आप मुझसे कहें ।

"ऋषि ने 'सूक्ष्मान्त' शब्द की डोर पकड़ी थी । 'सूक्ष्मान्त' का अर्थ होता है वह अन्तिम प्रश्न जिसके उत्तर से किसी सूक्ष्म, अर्थात् व्यापक विषय का निर्णय या निष्कर्ष सामने आ जाता हो । इसे आप विषय विशेष के प्रति अपनी जिज्ञासा की सन्तुष्टि से सम्बद्ध प्रश्न समझ सकते हैं ।"– माँ ने मेरी जिज्ञासा को शान्त किया ।[2]

राजर्षि ने तत्क्षण अपनी समस्या रखी । आचार्य 'जित्वा' ने कहा था– 'वाक्' ही 'ब्रह्म' है ।[3]

ऋषि याज्ञवल्क्य सूक्ष्मदर्शी थे । उन्होंने उपदेशक के उपदेश-वाक्य के आधार पर उसकी पात्रता को देखा"– 'जित्वा' स्वयं आचार्य हैं । वे मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् हैं । माता, पिता और आचार्य से अनुशासित आचार्यत्व-प्राप्त, 'जित्वा' को ब्रह्म उपदेश देने का अधिकार निश्चित् रूपेण है ।" उपदेशक के आचार्यत्व की सम्पुष्टि करते हुए याज्ञवल्क्य ने राजा से कहा– उन्होंने आपसे ठीक ही कहा है । किन्तु, क्या उन्होंने उसके 'आयतन' और 'प्रतिष्ठा' की भी चर्चा की ?

राजा के नकारात्मक उत्तर ने सूक्ष्मद्रष्टा ऋषि याज्ञवल्क्य को उस उपदेश विशेष को अधूरा कहने पर विवश किया । उन्होंने कहा यह 'ब्रह्म' का एक 'पादीय' रूप है ।

माँ ने कहा– जैसा कि आप जानते हैं– ब्रह्म के चार पैर होते हैं । इन चार पैरों में से तीन 'अ', 'उ' और 'म्' से निरूपित होते हैं और चौथा पैर स्वयं 'त्रिकालातीत' 'अमात्र' परब्रह्म है, जो स्वयं अपना कारण, मगर, उनसे अलिप्त रहता है ।[4] 'अ', 'उ', और 'म्' ऊँ (ओङ्कार) की तीन मात्राएँ, क्रमशः 'सर्वत्रता', 'तेज' और 'प्रज्ञा' के द्योतक हैं ।"

मैने हामी भरकर अपने जानने की स्वीकृति दी । माँ पूर्व में 'ऊँ' (ओम्) की व्याख्या में इसे समझा चुकी थीं ।

माँ ने कहानी की ओर मुड़ते हुए कहा-ऋषि ने 'वाक्'-रूपी ब्रह्म के तीन पैरों की चर्चा की । 'वाक्'-रूप 'आयतन', और 'प्रज्ञा', तथा 'आकाश' -रूप प्रतिष्ठा की । वाक् से ही सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान मिलता है, इसलिये यह आयतन है, कारण है, आश्रय है । वाक् से ही यथार्थ का ज्ञान होता है, इसलिये यह 'प्रज्ञा' है । और, उत्पत्ति, स्थिति और लय की स्थिति में यह 'आकाश' में ही प्रतिष्ठित होता है, इसलिये 'आकाश' उसकी 'प्रतिष्ठा' है ।[5]

माँ ने समझाया– "आयतन' शरीर को निरूपित करता है, और 'प्रज्ञा' यथार्थ ज्ञान का अर्थ देता है । वाक् के 'परा', पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी रूपों को आप जान ही चुके हैं ।"

मैंने हामी भरकर अपनी स्वीकृति दी ।

आगे राजा जनक ने विभिन्न आचार्यो द्वारा कहे गये 'ब्रह्म' की चर्चा की और अपनी जिज्ञासा व्यक्त की । इनमें से आचार्य 'उदङ्क' ने 'प्राण' को, 'बर्कु' ने 'चक्षु' को, 'गर्दभीविपीत' ने 'श्रोत' को, 'सत्यकाम' ने 'मन' को और 'विदग्ध शाकल्य' ने हृदय को 'ब्रह्म' कहा था ।[6] इन आचार्यों ने इनके आयतन और प्रतिष्ठा की चर्चा नहीं की थी ।

ऋषि 'याज्ञवल्क्य' ने 'प्राण'-रूप ब्रह्म के तीन पादों को प्राण-रूप आयतन, आकाश-रूप प्रतिष्ठा और 'प्राण-रूप प्रियता के द्वारा व्याख्यायित किया। 'प्रिय' उपास्य है । अर्थात् 'प्रिय'-रूप है । 'प्राण' प्रिय-रूप ब्रह्म का निरूपक है । इसीतरह 'चक्षु' -रूप 'ब्रह्म' का चक्षु 'आयतन' है, आकाश 'प्रतिष्ठा' है और 'चक्षु' सत्यता है, 'सत्य' उपास्य है । अर्थात्, ब्रह्म सत्य-स्वरूप है ।

'श्रोत्र'-रूप ब्रह्म का आयतन स्वयं श्रोत्र है । 'आकाश' उसकी प्रतिष्ठा है । 'अनन्त' रूपात्मक ब्रह्म का इससे निरूपण होता है । 'अनन्तता' अनन्त दिशाओं से निरूपित होती है । ब्रह्म अनन्त-स्वरूप है । इसी तरह 'मन'-रूप ब्रह्म का आयतन मन हैं, आकाश प्रतिष्ठा है, 'मन' आनन्द स्वरूप है । अर्थात्, आनन्द की आनन्दता 'मन' है । ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है । फिर, कहा गया है, 'हृदय' ब्रह्म है । इसका आयतन हृदय है; 'प्रतिष्ठा' अकाश है, और 'हृदय'-रूप ब्रह्म 'स्थिति-स्वरूप' है, अर्थात् शाश्वत है । सभी भूत हृदय में

प्रतिष्ठित, अथवा स्थित होते हैं । 'हृदय' 'स्थितित्व' का निरूपण करता है और 'स्थिति-रूप' ही ब्रह्म है ।

माँ ने कहा– कहानी कहती है– सम्राट् जनक ने ऋषि की हर व्याख्या पर हजार-हजार अच्छी गौएँ देते हुए उनका तथा उनके ज्ञान का समादर किया। और, अन्ततः ऋषि के ब्रह्म-ज्ञान से प्रभावित होकर स्वयं उनके उपनिषत हुए, अर्थात् उनके चरणों में बेठ कर उनसे अभ्यर्थना की– 'आप मेरा अनुशासन करें', "अनु मा शाधि" ।[7]

माँ ने कहा– 'जनक' स्वयं विद्वान थे, राज्यर्षि थे । ज्ञान के प्रति उनका अनुराग अप्रतिम था, अद्वितीय था ।

माँ ने टिप्पणी की– 'ब्रह्म' वाक्, अर्थात् 'प्रज्ञा' है; ब्रह्म प्राण-स्वरूप 'प्रिय' है; ब्रह्म चक्षु-स्वरूप सत्यद्रष्टा है; 'ब्रह्म' श्रोत्र स्वरूप अनन्त दिशाओं से निरूपित होने कारण स्वयं अन्तविहीन, अर्थात् अनन्त है; 'ब्रह्म' मन-रूप आनन्द से निरूपित होने के कारण आनन्द स्वरूप है; ब्रह्म हृदय-रूप स्थितित्व से निरूपित होने कारण स्थिति-स्वरूप, अर्थात् शाश्वत है । इस तरह ऋषि याज्ञवल्क्य की व्याख्या के अनुसार 'ब्रह्म', प्रज्ञास्वरूप, सत्य-स्वरूप, आनन्द-स्वरूप अनन्त और शाश्वत है । यही कारण है कि 'परब्रह्म' को 'प्रज्ञानघन', 'सच्चिदानन्दघन' और 'शाश्वत' कहा गया है । दूसरे शब्दों में कहें तो हम 'ब्रह्म' को उस पुरुषरूप सृष्टि से निरूपित कर सकते हैं, जिसका आयतन, प्रतिष्ठा, और उपासना स्वरूप, सभी कुछ, 'ब्रह्म' या परब्रह्म रूप है, तथा, जो स्वयं में स्वयं का कार्य-कारण दोनों है, अर्थात् स्वयम्भू है।

माँ ने कहा– आधुनिक भौतिक विज्ञान ने 'शक्ति- रूप में सम्पूर्ण सृष्टि के एक होने को मान्यता दे दी है । आश्चर्य नहीं होगा जब वह निर्गुण परब्रह्म'-रूप अरूपान्तरित शुद्ध 'शक्ति' की भी खोज कर सकेगा । आज जितनी भी ज्ञात शक्तियाँ हैं, सभी सगुण क्रियात्मक शक्तियाँ हैं, सभी के अपने-अपने गुण-विशेष हैं, और सभी परस्पर रूपान्तरित हो सकती हैं । परब्रह्म-रूप अरूपान्तरित शुद्ध शक्ति की आर्ष-परिकल्पना 'ब्रह्म-रूप' शक्ति का अगला चरण है । एक सगुण का अस्तित्व निर्गुण शक्ति के अभाव में सम्भव नहीं । वह एक 'वाइन्डिङ्ग फोर्स' (Binding force) अर्थात् आस्तित्विक-शक्ति है, जो समवाय रूप में हर अस्तित्व में, अस्तित्व का

कारण बनकर रहती है, और जिसका कोई कारण नहीं, जिसका कारण स्वयं वह आप है। निश्चय ही यह खोज का विषय है। कार्य आसान नहीं। किन्तु, आज की प्रगति, जो आने वाले कल की वृहत्तर वैज्ञानिक पद्धति की प्रगति का द्योतक है, इसे सम्भव कर सकने में समर्थ है। हमें उस समय के आने का थोड़ा इन्तजार करना पड़ेगा। भौतिकीय निरपेक्ष अनपेक्षित नहीं।

माँ ने अभी अपनी कथनी पूरी ही की थी कि 'पापा' (पिताजी) की आवाज आयी– 'बौआ' !

हम दोनों माँ-बेटे शायद भूल ही गये थे कहानी में। हम लोग बाहर निकले। हम सभी एकत्रित, बहुत खुश थे। मैंने पापा को सूचित किया 'अभी मम्मी मुझे कहानी ही सुना रही थीं।' पापा की आँखों में जैसे स्नेह की लहर दौड़ गयी। उन्होंने हम दोनों को स्नेहिल नेत्रों से देखा। मुझे दुलराया और हम अन्दर आ गये। हम देर रात गये जगे बातें करते रहे। फिर, पापा से सटा मैं कब सो गया, पता भी नहीं चला। पापा से हमारी बात-चीत भी माँ की कहानी से ही सन्दर्भित थी। मैं माँ की व्याख्या से प्रभावित था। पापा मुझे बोलने को प्रेरित कर रहे थे। शायद वे मेरी स्मरण-शक्ति की परीक्षा ले रहे थे। मैं उनका 'अकबर' जो था। मुझे लगा 'पापा' मम्मी के विचारों से पूर्णतः सहमत थे। वे मम्मी की विद्वत्ता के कायल हैं।

●

सन्दर्भ

1. सम्राट– वृहदारण्यक उपनिषद्; अध्याय 4; ब्राह्मण 1; मंत्र 1 भाष्य
2. वृहदारण्यक उपनिषद्; अध्याय 4; प्रथम ब्राह्मण, मंत्र 1
3. वही मंत्र 2
4. माण्डूक्य उपनिषद्, मन्त्र 1 (भाष्य)
5. वृहदारण्यक उपनिषद्; उध्याय 4, ब्राह्मण 1, मन्त्र 2 (भाष्य)
6. वही मन्त्र 3,4,5,6 एवं 7
7. वृहदारण्यक उपनिषद्; अध्याय 4, ब्रह्म 2, मन्त्र 1।

'ॐ'

[सोलह]

माँ जब विछावन पर आयीं, रोज की तरह मैं भी उनके साथ था। रात्रि के शेष कार्यों में सहयोग देना मेरा कर्तव्य था। वैसे भी मैं अकेले विछावन पर जाकर सो नहीं सकता था। बचपन की आदत थी। फिर, सबसे बड़ी बात थी कहानी सुनने का लोभ, जिसका संवरण मैं नही कर पाता था।

माँ ने कहा– बहुत वर्षों पहले, कुरु देश में एक समय अकाल पड़ा। अकाल का कारण था– ओला-पत्थर से फसल का नष्ट होना। सम्पूर्ण कुरु देश दुर्भिक्ष से ग्रस्त था। इस प्राकृतिक आपदा से घिरे कुरु देश के एक 'इम्य'-ग्राम में दुरवस्था से घिरे चक्रपुत्र उषस्ति अपनी अवयस्का पत्नी के साथ आश्रय लिये हुए थे। 'उषस्ति' यज्ञीय कर्मकाण्ड के ज्ञाता थे और यज्ञ कर्मों में निपुण। 'इम्य- ग्राम में वे अपरिचित अवस्था में रह रहे थे।[1]

अकाल की स्थिति ने भिक्षा को भी दूभर बना दिया था। उषस्ति कई दिनों के भूखे थे। उस दिन जब वे भिक्षाटन पर थे, पूर्णतः भूखे रहने की उनकी क्षमता समाप्त हो रही थी। उषस्ति ने एक महावत को भूना उरद खाते देखा। उन्होंने अपनी जान बचाने के लिये उससे ही भीख माँगने की ठान ली।

'उषस्ति' के माँगने पर महावत ने बतलाया उसके पास उतनाही उरद था और सारा-का-सारा जूठा हो गया था। उषस्ति ने जूठन ही देने का आग्रह किया। महावत ने जूठा उरद ही उन्हें दे दिया।

उषस्ति के खा चुकने के बाद महावत ने उन्हें पानी देना चाहा। उन्होंने उसे मना कर दिया और उसे 'उच्छिष्ट' की संज्ञा दी। इस पर निकट खड़े दूसरे महावत ने उनसे पूछा-क्या उरद जूठा नहीं था ?

उषस्ति ने बेझिझक कहा– बिना उच्छिष्ट उरद खाये मैं अपने प्राण नहीं बचा पाता। अन्न की कमी है, अन्यत्र नहीं मिलने पर ही मैंने इसे ग्रहण किया है। 'जल' की कमी नहीं। वह तो अन्यत्र भी यथेष्ट मिल जायेगा।

माँ ने कहा– उषस्ति 'यज्ञ' के मर्मज्ञ थे। जीवन-यज्ञ में 'प्राण' की प्रमुखता है। 'प्राण' की रक्षा से ही जीवन-यज्ञ के सिद्धान्त अनुपालित हो सकते हैं। 'प्राणान्तक' सिद्धान्त जीवन का लक्ष्य नहीं। जीवन-सिद्धान्त का लक्ष्य है, 'प्राण का कल्याण', 'प्राण' की उन्नति। 'प्राण' की उन्नति से ही 'जीवन' सार्थक होता है। 'प्राण' एकाकी नहीं होता। माँ ने कहा– 'प्राण' एक के लिये नहीं होता। स्वयं 'प्राण' पाँच प्राणों की समन्विति है। 'प्राण' समूची सृष्टि के अस्तित्व के लिये अनिवार्य है। 'प्राण' ही जीवन्त-जीवन की शक्ति है। वह रूपान्तरित शक्ति के रूप में शरीर और इन्द्रियों की क्रियात्मक तथा अरूपान्तरित, अर्थात् विशुद्ध, शक्ति के रूप में निर्गुण-निर्विकार एषणा-शक्ति का कारण-रूप है। परब्रह्म 'एषणा' रूप में प्राणी शरीर में उपस्थित कहा गया है। 'चेतना' एषणा-स्वरूप है।

माँ ने कहा– व्यक्ति 'शरीर' या 'वस्तु' है। शरीर स्थितिज (static)–शक्ति है। 'प्राण' शरीर की क्रियाशीलता का कारण है। वह क्रियात्मक 'गतिज-शक्ति' (dynamic force) है। 'एषणा' विशुद्ध शक्ति है जो स्थितिज शक्ति को उद्वेलित करती है और गतिज शक्ति को दिशा निदेश के अनुरूप क्रियमाण करती है। संचालक शक्ति के कारण स्थितिज-शक्ति असन्तुलित होती है, और शरीर या वस्तु में क्रियाशीलता या गत्यात्मकता उत्पन्न होती है। 'शक्ति' का कहीं भी कोई 'अभाव' नहीं। यह शक्ति ही है जो शक्ति को संचालित करती है।

माँ ने कहा– यही 'भावता' ज़ब सर्व-कल्याणात्मक सोच, या विचारणा के रूप में होती है, वह 'दिव्य' होती है। उसे ही 'दिव्यत्व' या 'देवत्व' कहते हैं। माँ ने कहा– यह 'भावता' जब मात्र ऐन्द्रिय 'सन्तुष्टि' या वैयक्तिक 'प्रसन्नता' के लिये होती है, तो 'आसुरी' हो जाती है। उस समय इसकी सर्वत्रता, सर्वसमता, 'सर्व समस्वरता', सर्वस्वता, सर्वकल्याणात्मकता समाप्त हो जाती है, और वह किसी भी 'व्यक्ति' को 'शरीर' तक ही सीमित होकर रह जाने पर विवश कर देती है। व्यक्ति 'असुर' होकर रह जाता है।

माँ ने कहा– सार्व की भावना सामूहिकता को जन्म देती है। सामूहिक सोच, सामूहिक शक्ति, सामूहिक क्रिया आदि सभी शक्तियों को जब एक दिशा में क्रियाशील बनाया जाता है तब बड़े-बड़े असम्भव कार्य भी पल भर में अस्तित्व में आ जाते हैं। 'सुरत्व' वस्तुतः वही सामूहिकता

है, जो सर्वकल्याणात्मक दिशा में क्रियाशील होती और कार्य को जन्म देती है । 'व्यक्ति' में यह सामूहिक भावना तभी उत्पन्न हो पाती है जब उसकी सोच, उसकी वाणी और उसकी क्रियात्मकता एक समान, एक दिशा में होती है । यह सब कुछ तब होता है जब सभी एक साथ रहते, एक समान 'सोचते- एक समान बोलते और एक दिशा में कार्य करते हैं । इसे ही आर्ष-विचारकों ने 'संज्ञान' कहा है । वस्तुतः रचनात्मकता अथवा निर्माण, और उन्नति सभी 'संज्ञान'-शक्ति की देन है । हमारी विवेकशीलता ही हमें साथ-साथ, अर्थात् सोच-वाणी-कर्म की एकता में संलग्न कर पाती है ।[2]

कहानी की ओर मुड़ते हुए माँ ने कहा– 'उषस्ति' यज्ञ के मर्मज्ञ हैं। वे 'प्राण' की रक्षा को 'यज्ञ' की सफलता के समान समझते हैं । वे 'कर्म' को 'ज्ञान' के आधार पर देखते हैं । दूसरे शब्दों में कहें तो यह कहना ज्यादा सार्थक होगा कि 'उषस्ति' 'संज्ञान' देव के उपासक हैं । वे 'यज्ञ' के सामूहिक कर्म को ज्ञानाधार देने के समर्थक हैं । उनका यह रूप मैं आपको कल बतलाऊँगी ।"

माँ के कथन पर मैं भी जीवन में छूआ-छूत के यथार्थ को समझने का प्रयास कर रहा था । जूठन और अस्पृश्यता दोनों दो हैं । महावत के पात्र का भूना हुआ उरद 'उच्छिष्ठ' है, स्पर्शित है, किन्तु मुँह से निकला हुआ नहीं है । उगला हुआ नहीं है । वैयक्तिक रोगों की संक्रमणता से अलग है । पानी का पात्र और पानी दोनों ही 'मुख' से स्पर्शित हैं । पानी जूठा है । उस पानी में रोग की संक्रमणता सम्भव है । वह स्पर्शित ही नहीं, जूठा भी है । वस्तुतः उच्छिष्ट है ।

माँ कहती हैं– अगर हम स्वयं अपने गन्दे हाथ से भोजन ग्रहण करते हैं तो वह भी अक्षम्य है । वस्तुतः हमें व्यक्ति की गन्दगी से परहेज करना चाहिए, न कि उस व्यक्ति के स्पर्श से । 'समूह' या 'सामज' व्यक्ति, अर्थात् वस्तु से बनता है । अगर हम उसे ही निकालने लगें तो एक दिन हम स्वयं अकेले हो जायेंगे, और हमारे 'सुर' या 'स्वर' में सुर या स्वर मिलानेवाला कोई नहीं रह जायगा । 'सुर' से लयात्मकता, और 'स्वर' से ध्वन्यात्मकता का बोध होता है ।

'सुर' वस्तुतः ज्ञान के पक्षधर कहे जा सकते हैं । वे पूर्णतः बौद्धिक

हैं, फलतः वे 'कर्मतः' मनुष्य पर निर्भर करते हैं । वे चाहते हैं कि उनका अभिलषित लक्ष्य कर्मतः 'मनुष्य' द्वारा पूर्ण हो । 'असुर' देहानुरागी हैं, और मात्र 'शरीर-सुख' पर केन्द्रित हैं । वे 'सुर', अर्थात् सामूहिक लयात्मकता के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते । मानसिक विकास के बदले वे वैयक्तिक शारीरिक विकास पर ध्यान देते हैं । शरीर के प्रति आसक्ति उन्हें 'मन', अर्थात् मनन, अर्थात् मनन और विवेक, अर्थात् संज्ञान के प्रति उदासीन बना देता है । वे शरीर के प्रति मोहग्रस्त होते हैं । मन या बुद्धि की विवेकशीलता के प्रति उनकी उदासीनता उनके दृष्टकोण को व्यापक नहीं बनने देती ।

'सुर' ज्ञानमय कर्म के प्रति समर्पित होते हैं । फलतः 'यज्ञ' उनका प्रिय होता है । 'यज्ञ' मनुष्य ही कर सकता है, क्योंकि वह ज्ञानमय कर्म करने की क्षमता रखता है । माँ कहती है– असुर 'ज्ञान' विरोधी होने के कारण 'सुर' के विरोधी हैं । उन्हें 'सुरद्विष' कहा गया है । 'सुर' मन के मनन को लयात्मक, संवेदनात्मक, संज्ञानात्मक बनाकर मनुष्य को ज्ञानमय कर्म के लिये प्रेरित करते हैं । 'असुर' सुरद्विष् होने के कारण मनुष्य को अपने पक्ष में करने के लिए, मात्र शरीर-रक्षा और, ऐन्द्रिय-सुख की पूर्ति का अनुदेश देते हैं । 'मनुष्य' मननशील होने के कारण 'सुर' का साथ देता है। 'सुरत्व' विवेक, अर्थात् बुद्धि-प्रधान है; और असुरत्व 'गति', अर्थात् कर्म-प्रधान । 'कर्म' शरीरगत है और 'बुद्धि' मनःगत । ज्ञान (बुद्धिजन्य) और कर्म (शरीरजन्य) एक दूसरे के जब तक प्रतिद्वन्द्वी रहते हैं, 'व्यक्ति' द्वन्द्वात्मक स्थिति में रहता है; अथवा अलग-अलग प्रभाव के करण सुर या असुर रूप में परिणामशून्यता में जीता है । यह तो ज्ञान और 'कर्म' का समन्वय है, जिसे व्यक्ति अपनी मननशीलता और विवेकशीलता के आधार पर परिणामात्क सर्वकल्याण या परम-कल्याण का कार्य कर पाने समर्थ होता है, तथा 'मनुष्य' कहलाने का अधिाकार पाता है ।

माँ ने ठीक कहा था– हम अपने आप में 'सुर', 'असुर' और 'मनुष्य' हैं । हमारे आर्षेय विचार-साहित्य या वाङ्मय हमें परम कल्याणकारी मनुष्य बनाना चाहते हैं, इसी 'मनुष्य'-रूप को वे 'परमार्थ'-रूप 'पुरुष', के सगुण अथवा निर्गुण 'रूप' में आरोपित करते हैं । जब हमारी पहुँच परमात्मरूप 'परब्रह्म' तक होती हैं, जो हमारा वैयक्तिक लक्ष्य है, तो हम न तो 'देव'

या 'सुर' रह जाते हैं, और न ही 'असुर' या 'शरीर'-प्रधान व्यक्ति। हम तब वस्तुतः 'ज्ञान-कर्म' की समन्विति, भाव-रूप मनुष्य, बन जाते हैं।

मैं अपने ऊहा-पोह में कब सोया, पता नहीं। सबेरे जब जगा तो मुझे विद्यालय जाने की घड़फड़ी हो गयी।

●

सन्दर्भ

1. छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय 1; खण्ड 10
2. ऋग्वेद सूक्त 10/12/191; माँ ने ऋग्वेद के पहले और अन्तिम सूक्तों पर विशेष रूप से अपना मन्तव्य दिया था।

'ॐ'

[सत्रह]

माँ ने कहा– हम पिछले दिन ऋषि उषस्ति की कहानी सुन रहे थे।

'उषस्ति' चक्र के पुत्र थे और यज्ञ-कर्मों के प्रसिद्ध ज्ञाता थे। अपनी कठिन स्थिति को झेलते वह काफी दुर्बल हो गये थे। उन दिनों वे 'कुरु' देश में रहते थे। वहाँ 'अकाल' या दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था। भिक्षा भी कठिनता से मिलती थी। उषस्ति विद्या, धर्म और यश से सम्पन्न थे। अपनी प्राणान्तक आपद्ग्रस्तता में ही उन्होंने महावत से उसका उच्छिष्ट उरद लिया और खाया था। उसी उच्छिष्ट उरद में से कुछ अंश वे अपनी पत्नी के लिये भी बचाकर घर लाये थे। पत्नी ने उस उरद को सँभालकर कर रख छोड़ा था।

'कुरु'-शब्द 'ऋत्विक'-शब्द का पर्याय हे। 'ऋत्विक्' या 'ऋत्विज्' वे होते हैं, जो ऋतु में यज्ञ करते हैं। ये 'ऋत्विक्' यजमान की ओर से आचार्य रूप में यज्ञकर्म करते हैं।[1] स्पष्ट है कि 'कुरु'-देश यज्ञ-प्रधान देश रहा था।

अकाल की स्थिति में यज्ञ-कर्म राजा का धर्म था। 'कुरु'-देश अपने नाम से भी 'यज्ञ'-प्रधान देश के रूप में घोषित होता दीख पड़ता है। 'यज्ञ'-कर्म भी क्रमिक रूप से विकसित हुआ कहा गया हे। इसमें पहले आवश्यकतानुसार 'कर्म' पर ही अधिक ध्यान दिया जाता रहा होगा। बाद में ऋत्विजों ने अपनी कार्य-सिद्धि के लिये 'कार्य-कारण' के आधार पर 'कारणों' की खोज में इसे 'ज्ञान' और 'कर्म' का समन्वित रूप दिया होगा। ऐसे आचार्य तब बहुत कम रहे होंगे, जिन्होंने 'कर्म' को 'कारण' से जोड़कर 'यज्ञ-कर्म' या कार्य को आधार या अंजाम दिया होगा। 'उषस्ति' उन्हीं आचार्यों में से एक प्रसिद्ध आचार्य रहे होंगे।

'उषस्ति' को मिली 'उरद-भिक्षा' के दूसरे दिन, प्रातः ही ध्यान आया कि उस दिन वहाँ का राजा यज्ञ करनेवाला है। उन्होंने पत्नी से इस सन्दर्भ में कहा। वे जानते थे कि पिछले दिन का लाया उड़द बचा हुआ है। उड़द का वह भाग तो वे पत्नी के लिये लाये थे, फलतः वे उसे माँगकर साधिकार

नहीं खा सकते थे । नीतिज्ञ उषस्ति को इसका संकोच रहा होगा कि पत्नी के भाग का अन्न वे कैसे खायँ, जब तक कि वह स्वयं स्वेच्छाया उन्हें नहीं दे देतीं। उन्होंने परोक्षतः पत्नी को सुनाकर ही कहा– अगर वे कुछ खाकर समर्थ हो पाते तो कुछ दूर जाकर राजा के यज्ञ में ऋत्विक् के रूप में कार्य प्राप्त कर पाते, और उन दोनों का जीवन निर्वाह हो पाता ।

पत्नी ने सहर्ष ही वह उरद उन्हें खिलाकर यज्ञ-स्थल के लिये विदा कर दिया ।

यज्ञ-स्थल पर पहुँचकर 'उषस्ति' उद्गाताओं के पास बैठ गये । उन्होंने 'प्रस्तोता', 'उद्गाता' और 'प्रतिहर्त्ता', तीनों प्रकार के ऋत्विकों से बारी-बारी कहा– अगर वे अपने कर्म से सम्बद्ध देवता को नहीं जानते तो कम-से-कम जाननेवाले (उषस्ति) के समक्ष उन देवों के प्रति अनजाने ही स्तुति-गान न करें । अन्यथा उनका (ऋत्विकों का) सिर गिर जायेगा ।

'सिर गिरने' के डर से सभी ऋत्विकों ने अपना-अपना कर्म बन्द कर दिया । 'प्राण' या प्रतिष्ठा गिरने का भय हर सदाचारी व्यक्ति को होता है । सबों को चुप देखकर राजा ने कारण जानना चाहा । इसी क्रम में राजा ने 'उषस्ति' का परिचय जानने की जिज्ञासा की ।

उषस्ति ने दुरवस्था (दुःअवस्था) के कारण अपने वर्तमान रहने के स्थान पर अपना परिचय नहीं दिया था । किन्तु, उनके यश ओर नाम को सभी जानते थे । उषस्ति ने अपना परिचय राजा को दिया ।

राजा को ऋत्विक कर्म के लिये 'उषस्ति' की ही तलाश थी । उनके न मिलने पर ही राजा ने उनकी जगह पर अन्य ऋत्विकों को यज्ञ-कर्म के लिये नियुक्त किया था । राजा ने यह सब सूचित करते हुए 'उषस्ति' को उस यज्ञ के सभी यज्ञ-कर्मों के लिये ऋत्विक् नियुक्त किया ।

उषस्ति ने अपनी स्वीकृति देते हुए राजा से कहा– ऐसा ही हो । किन्तु, उषस्ति ने राजा से कहा– जो भी ऋत्विज यज्ञ-कर्म कर रहे हैं, वे अपना कर्म करते रहेंगे । राजा जितनी धनराशि उन्हें देंगे उतनी ही धन-राशि वे (राजा) 'उषस्ति' को भी देंगे ।

राजा ने इसे सहर्ष स्वीकार किया । सभी ऋत्विज् 'उषस्ति' से परिचित हुए और उनके समक्ष शिष्य-भाव से प्रस्तुत हुए ।

इस अवसर पर प्रस्तोता, उद्गाता एवं प्रतिहर्ता ने बारी-बारी अपनी समस्या 'उषस्ति' के समक्ष रखी । समस्या वस्तुतः स्वयं उषस्ति के ही कहे वचन थे, जो उन ऋत्विकों को वे प्रारम्भ में ही कह चुके थे ।

उषस्ति ने समस्या-समाधान हेतु प्रस्तोता से कहा- आप यज्ञ के प्रस्तावित देवता के प्रति प्रस्ताव उद्गान-रूप में प्रस्तुत करते हैं । अगर आप उसे नहीं जानते तो यह 'प्रस्ताव' का निरर्थक होना माना जा सकता है। 'प्रस्ताव' के देवता 'प्राण' हैं । सृष्टि के सभी पदार्थ या भूत, 'प्राण' में ही समाहित होते हैं और 'प्राण' से उनकी उत्पत्ति भी होती है । 'प्राण' को ही 'प्रस्ताव' का अनुगत मानकर उनके प्रति भक्ति-भावपूर्ण उद्गान प्रस्तुत करना उचित है ।

'उद्गाता' से उषस्ति ने कहा- 'उद्गीथ' के अनुगत देवता हैं- 'आदित्य' । उन्हें जानकर उन के प्रति किया गया उद्गान यज्ञ की सफलता को सुनिश्चित करेगा । इसी तरह 'प्रतिहर्ता' से उषस्ति ने कहा 'प्रतिहार' से सम्बद्ध देवता हैं- 'अन्न' । जिस तरह 'आदित्य' आकाश में सबसे ऊँचा स्थित है और सभी भूत उसी की ओर उन्मुख होकर उसकी स्तुति करते प्रतीत होते हैं, उसी तरह सभी 'भूत' अन्न से ही पोषित हो उसके प्रति ही अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं ।

'उषस्ति' ने 'प्रस्ताव', 'उद्गीथ' एवं 'प्रतिहार' के देवताओं के ज्ञान और ज्ञाता की श्रेष्ठता को प्रदर्शित करते हुए उनसे कहा- अगर तुम अनजाने ही अनिश्चितता की अवस्था में अपने कर्म किसी 'कर्म-ज्ञाता' के सामने करते हो तो निश्चिततः तुम अपनी गलती के लिए ज्ञाता के कोपभाजन बनते हो । ऐसी अवस्था में ज्ञाता के द्वारा गलती पकड़े जाने पर तुम्हें अपनी अज्ञानता के बोध से सबों के समक्ष लज्जित होना पड़ सकता है, और इस तरह लज्जा से अपना सिर गिराना या झुकाना पड़ सकता है ।

माँ ने कहा- यद्यपि कि कहानी में 'उषस्ति' के कहने पर उन अनभिज्ञ ऋत्विकों के मस्तक गिरने की बात ही कही गई है, तथापि 'मस्तक गिरने' को हम लज्जास्पद स्थिति में सिर झुकने से तुलना कर सकते हैं । 'कर्म' अगर कर्म के लिये किया जाय तो भी सफल हो सकता है । किन्तु, 'कारण' जानकर, 'कारण' के अनुरूप 'कार्य', अर्थात् 'लक्ष्य', के प्रति किया गया कर्म निश्चिततः सफल होता है ।

माँ ने कहा– क्रिया की दिशा के अनुरूप अतिरिक्त लगाई गयी शक्ति क्रिया को अधिक प्रभावी, अर्थात् सफल बनाती है ।

माँ ने 'ऋत्विक्' शब्द के प्रति मेरी जिज्ञासा को शान्त करने के उद्देश्य से कहा–

ऋत्विज् या 'ऋत्विक्' वे पुरोहित होते हैं, जो यज्ञ कराते हैं । ऋत्विज्' या 'ऋत्विक्' शब्द ऋतु-सन्दर्भित है । 'ऋतु' 'ऋ' धातु-शब्द से निष्पन्न शब्द है। 'ऋ' से 'गति' का बोध होता है । आप जानते हैं कि सूर्य के चारों ओर एक निश्चित् कक्षा में घूमती पृथ्वी अपने अक्ष (axis) पर भी घूमती जाती है । अपने अक्ष पर घूमने के कारण पृथ्वी पर दिन रात का परिवर्तन होता दीखता है ओर सूर्यकी कक्षा (orbit) में घूमने के कारण पृथ्वी पर 'काल' या 'समय' विशेष में एक निश्चित् परिवर्तन दीख पड़ता है । इस काल विशेष में भौतिक प्रकृति पर एक निश्चित बदलाव का असर दीख पड़ता है । इस कालविशेष को 'ऋतु' कहते हैं । पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं पर इस काल विशेष का विशेष असर दीख पड़ता है ।"

माँ ने कहा– प्राचीन भारत में इन ऋतुओं की संख्या की मान्यता बदलती रही थी । प्रारम्भ में यहाँ तीन ऋतुएँ मानी जाती थीं, फिर पाँच, छः, बारह और चौबीस मानी गईं । अन्ततः छः ऋतुओं का वर्ष बना, दो-दो महीने की एक ऋतु ।

माँ ने समझाया– ऋतु-परिवर्तन का एक निश्चित् क्रम होता है । पृथ्वी लगभग एक 'वर्ष' या तीन सौ पैंसठ दिन में सूर्य का चक्कर लगा लेती है । इस बीच ऋतु-परिवर्तन का भी क्रम पूर्ण हो जाता है । इन ऋतुओं में 'वर्षा'-ऋतु सबसे सुस्पष्ट (prominent) है । फसल, पेड़-पौधों एवं औषध-वनस्पतियों आदि की उपज के लिये अनुकूल होने के कारण भी यह महत्त्वपूर्ण है । इस तरह पूरे 'काल'-विशेष, अर्थात् लगभग तीन सौ पैंसठ दिनों के समूह को 'वर्षा के नाम पर ही 'वर्ष' शब्द द्वारा संज्ञापित किया गया प्रतीत होता है ।

माँ ने कहा– ऋत्विक् या ऋत्विज् को ऋतु में यज्ञ करनेवाले पुरोहित' के रूप में परिभाषित किया गया है । स्पष्ट है कि पहले हर ऋतु-बदलाव पर यज्ञ करने का प्रावधान रहा होगा । आज भी अनेक

पर्वों-त्योहारों का आधार ऋतु-परिवर्तन ही है । ये 'यज्ञ' सार्वजनिक होते थे। गृहस्थों से लेकर राजा तक और समूहों से लेकर व्यक्ति तक के लिये यज्ञों का प्रावधान था ।

माँ ने समझाया– 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु-शब्द से निष्पन्न या व्युत्पन्न होता है । 'यज्ञ' में 'यज्' धातु-शब्द की उपस्थिति जहाँ उसे 'क्रियात्मक कर्म' होने की व्यवस्था देती दीखती है, वहाँ उस कर्म को भक्तिपरक बनाते हुए त्यागमय होने का भी बोध कराती है । जब यह 'व्यक्तिपरक कर्म' होता है तो उसका कर्ता यजमान 'व्यक्ति' होता है और उसका व्ययभार यजमान उठााता है । जब यह सामूहिक या राजकीय होता है तो समूह या राजा इसका व्ययभार उठाता है ।

'यज्ञ', वस्तुतः, 'ऋतु' या 'समय'-सम्बद्ध है । 'ऋतु' वस्तुतः काल-व्यवस्थित होने से निश्चितता का बोधक है । प्रवहमान 'काल' (समय) के एक निश्चित् अवधि के लिये ऋतुओं का आना-जाना 'निश्चित' अथवा 'नियमबद्ध' है । अतः यह, अर्थात् ऋतु 'ऋत-धर्मा' है, नियम के अधीन है । 'ऋत्' शब्द का अर्थ आप जान चुके हैं । 'ऋत्' के अनुसार चलने की प्रक्रिया को ऋतु कहते हैं ।

माँ ने समझाया– 'ऋत' शब्द का धर्म-कोशीय अर्थ है– स्वाभाविक या प्राकृतिक व्यवस्था', 'भौतिक एवं आध्यात्मिक निश्चित् नियम' । 'ऋत' का पालन सभी देवता, एवं प्रकृति द्वारा एक निश्चितता के साथ होता है । विश्व-व्यवस्था, नैतिक नियम, कर्मकाण्डीय व्यवस्था 'ऋत' के अन्तर्गत ही व्यवस्थित होते हैं ।[2] 'ऋत्' का एक पर्याय, 'जल' है जो शुद्धता और 'प्रवहमानता' का द्योतक् है ।

माँ ने कहा– 'रचनात्मकता' कर्म की देन है । सृष्टिरचना से लेकर वैयक्तिक रचना तक सभी तो 'कर्म' की ही देन हैं । यजन, पूजन, सम्मिलित विचारण, वस्तुओं का वितरण, आहुति, बलि, चढ़ावा आदि के अर्थों में व्यवहृत 'यज्ञ', वस्तुतः ज्ञानमय 'कर्म' का ही प्रतीक है । ऋत्विक् या ऋत्विज् इसी कर्म के व्यवस्थापक हैं ।

यज्ञ-कर्म का विकास सृष्टि रचना के प्रारम्भ से चला आ रहा है ।[3] सृष्टि-रचना से सम्बद्ध यज्ञ अलौकिक था । लौकिक 'यज्ञ', अर्थात् 'होमात्मक'-यज्ञ

का विस्तार 'आहवनीय' अग्नि की अवधारणा के साथ हुआ माना गया है। यह गृहस्थ परिवार से लेकर राज्य-परिवार तक विस्तार पाता गया है। 'कर्म' की प्रधानता के साथ यह, मात्र 'कर्म' का द्योतक था, और बौद्धिक प्रधानता में ज्ञानात्मक रूप अपना चुका था। किन्तु, इसका विकास सर्वाधिक स्मृति-काल में हुआ प्रतीत होता है, जब यह पूर्णतः आजीविका-सम्बद्ध हो गया रहा होगा। इस 'यज्ञ' के कर्मकाण्ड को देवों, अर्थात् दिव्यताओं, अर्थात् ज्ञानात्मकता से सम्बद्ध कर इसे अत्यधिक विस्तार दिया गया होगा।

'कर्म' को ज्ञान से सम्पुष्ट करने का कार्य प्रायः 'उषस्ति' के समय में प्रारम्भ हुआ होगा। 'उषस्ति' जहाँ 'आत्मा रक्षितो धर्मः' के माननेवाले थे, वहाँ अन्धभक्ति अथवा परम्परावादी कार्मिकों-धार्मिकों की कर्मकाण्डिता के स्थान पर विवेकपूर्ण कर्म के व्यवस्थापक भी थे। तभी तो वे अपने काल के परम्परावादी ऋत्विजों को स्पष्टतः कह सके- 'अगर तुम मेरे सामने बिना देवता को, अर्थात् 'कारण' को जाने कार्य की ओर, अर्थात् उद्गान की ओर बढ़ोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायेगा।"

माँ ने कहा- वस्तुतः हर 'शब्द' अध्यात्म की देन है, और हर 'कर्म' भौतिक देन। 'शब्द' विचारात्मक, अर्थात् 'विचार-शरीर' की देन है और हर कर्म 'क्रियात्मक'-या 'भौतिक- शरीर' की देन। 'बिचार' और 'क्रिया' की शुद्धता-निश्चितता तथा उनकी समन्वितता का नाम ही 'यज्ञ' है। कहा है-

"यज्ञः कर्मसु कौशलम्।"

अर्थात्, कुशलतापूर्वक किया गया अनुष्ठान या कार्य 'यज्ञ' है। 'कुशलता' स्पष्टतः 'उत्तम ज्ञान' का पर्याय है। इस 'यज्ञ' को आर्ष-वाङ्मय "यज्ञो वै विष्णुः' अथवा 'विष्णुर्वै यज्ञः' कहा है और फिर 'विष्णुरेव परंब्रह्म' कहकर 'यज्ञ' को परब्रह्म' कहने से भी नहीं हिचका है।

माँ ने कहा- 'उषस्ति'[4] ऐसे आचार्य हैं जो 'ज्ञान' और कर्म के समन्वय में विश्वास करते हैं। उनके समक्ष प्राण की रक्षा पहला कर्तव्य कर्म है, और 'कर्म' में 'कारण' का जानना सबसे बड़ा 'ज्ञान'। 'ज्ञान' पर आधारित 'कर्म' ही 'सफल' होता, और 'सुफल' प्रदान करता है। ज्ञानमय कर्म ही जीवन का उन्नायक होता है।

●

सन्दर्भ

1. 'हिन्दू धर्म कोशः डॉ० राजवली पाण्डेय; पृष्ठ 137, शब्द 'ऋत्विक्'; मनुस्मृति, अध्या 2; श्लोक 143
2. हिन्दू धर्म कोश, डॉ० राजबली पाण्डेय, शब्द-'ऋत्', पृष्ठ 137
3. वही, शब्द-'यज्ञ' पृष्ठ 531 ।
4. छान्दोग्य उपनिषद, अध्याय 1; खण्ड-दशम्; पृष्ठ 122 ।

'ॐ'

[अठारह]

'जीवन' एक नैसर्गिक 'शक्ति' के रूप में परिभाषित होता है । यह 'जीवन' में चेतना और प्राण-रूप से रहता है, तथा उसे क्रियाशील रखता है। 'जीव' ही 'जीवन' को गतिशील, संवेदनशील, आत्मपोषक, आत्मबर्द्धक और प्रजाजनक बनाता है । 'जीवन' स्थावर हो, अथवा गत्यात्मक, वह क्रियाशील रहता है, इसी 'जीव' के कारण । 'जीव', वस्तुः क्रियात्मक शक्ति का निरूपक है ।

आज के भौतिकीय दृष्टिकोण में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड 'शक्ति' का ही रूप कहा गया है । अगर हम इस ब्रह्माण्ड के सभी अवयवों को 'नाम-रूप' दें तो सारे 'रूप' शक्ति के ही रूप नजर आते हैं और 'नाम' उस शक्ति की पहचान ।

अब अगर शक्ति ही सब कुछ है, तो 'शक्ति' के मुख्यतः दो रूप होने चाहिए । एक, जो कार्य में प्रभावी होती है, और दूसरी, वह जो उस कार्यकारी शक्ति में रूपान्तरित होती है । कार्यकारी शक्तियों में भौतिक शक्ति के रूप में जिन रूपान्तरित' शक्तियों की पहचान हुई है, वे हैं- ताप-शक्ति, प्रकाश-शक्ति, ध्वनि-शक्ति, चुम्बकीय शक्ति, विद्युतीय-शक्ति, यान्त्रिक शक्ति । ये भौतिक-शक्तियाँ, पदार्थ के साथ, भौतिकी के अध्ययन का विषय बनती हैं । उपर्युक्त भौतिक शक्तियाँ परस्पर एक दूसरे में रूपान्तरित भी हो सकती हैं ।

आगे माँ ने कहा- जब ये शक्तियाँ परस्पर रूपान्तरित होने की क्षमता रखती हैं, तो निश्चित है कि ऐसी शक्तियाँ होंगी जो जैविक शरीर की उत्पत्ति अथवा पदार्थीय रचना के योग्य हों। ऐसी रचनात्मक शक्तियों की अपनी-अपनी विशेषता होगी । इन शक्ति-विशेषों का उद्‌गम भी 'कारण-रूप' शक्ति ही होनी चाहिए। इस 'कार्य-कारण' की शृंखला में हमें अपने पुरातन ऋषियों की तरह उस 'परब्रह्म'-रूप 'परम-शक्ति' पर पहुँचना होगा जो शुद्ध और स्वयम्भू होगा, जो 'अविनाशी' और 'अपना क़ारण आप' होगा । वह 'परमशक्ति' आर्षेय 'परब्रह्म' से भिन्न नहीं होगी । और निश्चित ही वह भौतिकता से भी अलग नहीं होगी । 'भौतिकता' भौतिकीय नियमों के अधीन ही कार्य करती है।

माँ ने याद दिलाया– सभी शास्त्र अपने–अपने विषयों की व्याख्या करते हैं। उनकी व्याख्या 'व्यक्तिपरक' होती है। 'व्यक्तिपरक', अर्थात् 'पदार्थ'–परक। 'पदार्थ' शक्ति का रूप हे। यह 'शक्ति' पदार्थ रूप में संचित रहती है। किसी भी संचयन के लिये त्रि–विमिय (three dimensional) संरचना की आवश्यकता होती है। समूचा ब्रह्माण्ड एक अनन्त –एक विमिय दिक्–काल में समाया हुआ भौतिक नियमों के आधार पर चल रहा प्रतीत होता है। यह दूसरी बात है कि आज हमारा ज्ञान सभी भौतिक नियमों को नहीं जानता। किन्तु यह समझ लेना कि भौतिक नियमों का अन्त हो गया, अनुचित होगा। भौतिक नियम देश–काल–वस्तु के सापेक्ष हैं। यह 'ज्ञात' देश–काल के लिये ही अवधारित है, सत्य है। 'परब्रह्म' या विशुद्ध अरूपान्तरित शक्ति को देश–काल–वस्तु से निरपेक्ष होना है। आज का भौतिक विज्ञान निरपेक्ष–सम्बन्धी नियम नहीं खोज पाया है। ज्ञात नियमो के भीतर उसे 'अनिश्चितता' हाथ लगती है। 'अनिश्चितता' का रूप–निर्धारण जहाँ अनिवार्य है, वहाँ 'निरपेक्ष' शक्ति की पहचान भी अनिवार्य है।

माँ ने समझाया– 'भूगोल' हमें 'भू' तक ही सीमित रखता है, और 'खगोल' 'ख', अर्थात् ज्ञात आकाश तक। हमें इनसे आगे ब्रह्माण्डीय रचना के केन्द्र की ओर बढ़ना होगा। अभी बहुत–से अज्ञात क्षेत्र हैं, क्योंकि हम आकाश में बहुत अधिक दूरी नहीं तय कर पये हैं। अगर 'वास्तविकता के साक्षात ज्ञान' को हम 'विज्ञान' कहें तो उसको जानने के लिए साक्षात् की अनिश्चितता के साथ हमें दिक्–काल में घूमना ही होगा, और साथ ही निरपेक्ष की तलाश करनी ही होगी। निरपेक्ष' की तलाश 'सापेक्ष' के लिये सबसे बड़ी चुनौती और सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है।

माँ ने कहा– 'निरपेक्ष' को मानकर ही 'सापेक्ष' की अवधारणा सम्भव है। इसे दूसरे रूप में देखें तो यह स्वयं बढ़ता हुआ वैश्विक ज्ञान हमें हर 'अनिश्चित्' के लिये एक 'निश्चित' को हमारे सामने लाकर खड़ा कर देता है। हम उस 'निश्चितता' को छोड़ नहीं सकते, क्योंकि –अपरतम' पदार्थ से लेकर 'परतम' शक्ति तक जाने के लिये हमें हर डेग पर अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है। हमारा सीमित 'ज्ञात ज्ञान', और 'परिणाम तक पहुँचने की हड़बड़ी' हमें अपने विचारों में निष्पक्ष नहीं होने देती। हम आलोचनात्मक

अधिक हो जाते हैं, और समीक्षात्मक कम। 'आलोचना' हमें कहीं नहीं पहुँचने देती, अपने तक ही सीमित कर देती है। वस्तुतः आज भी हम अपनी परम्पराओं और संस्कार जनित अन्धविश्वास को छोड़, अपने को अपने विचारण में निष्पक्ष नहीं बना पा रहे। हमें 'निरपेक्ष' तक पहुँचने के लिये स्वयं की दृष्टि को निरपेक्ष, अर्थात् पक्षपात रहित, अथवा पूर्वाग्रह मुक्त बनाना पड़ेगा। 'जीवन' को सृष्टि की सम्पूर्णता में देखना होगा। हमें अपने ऋषि-द्रष्टाओं की तरह अपने-आप में से निकलकर 'परतम' की ओर उन्मुख होना होगा।

आज जब कि हम जानते हैं, 'विकास' सृष्टि का नियम है, हमें अपने विचारों में भी विकासोन्मुख होना पड़ेगा। चतुर्विमिय लौकिक सृष्टि का अवयव, 'मनुष्य' अपनी ऐन्द्रियक ससीमता में एक-विमिय दिक्-काल को देखने का आदी है। फिर भी, उसकी मननशीलता उसे उसकी चतुर्विमियता से दूर नहीं जाने देती। उसे यह समझते देर नहीं लगती कि उसकी चतुर्विमियता सृष्टि की चतुर्विमियता से अभिन्न है। उसका वैयक्तिक जीवन भले ही सृष्टि के सापेक्ष ससीम नजर आये, वस्तुतः वह ब्रह्माण्डीय शक्ति का ही एक रूप है। ऐसी स्थिति में आज हमें आलोचना' की पूर्वाग्रहता से निकलकर 'समीक्षा' की निष्पक्षता को अपनाना पड़ेगा। हमें औपनिषदिक 'विद्या-अविद्या' को समझकर अपनी विचारणा को उनके समन्वित रूप में आगे बढ़ाना होगा; और उस निरपेक्ष-दृष्टि को प्राप्त करना होगा जिसे ऋषियों ने अपनी निर्विकल्प और सविकल्प समाधियों में प्रत्यक्ष देखा है, साक्षात किया है।

मेरी जिज्ञासा को सन्तुष्ट करने की गरज से माँ ने कहा– 'विद्या' और 'अविद्या' वस्तुतः ज्ञान और अज्ञान' के द्योतक नहीं। औपनिषदिक व्याख्या इन्हें मूलतः 'विचारण' और 'कर्म' के रूप में देखती है।[1] अगर आप शास्त्रों की बात करें तो 'विद्या' और 'अविद्या' को इन्हीं रूपों में प्रकारान्तर से देख पायेंगे। आध्यात्मिक शब्दावलि में जहाँ 'विद्या' आत्मज्ञान का बोधक, 'मनः सम्बद्ध', और इस तरह 'विचारण' से सन्दर्भित है, वहाँ 'अविद्या' शब्द को भौतिक क्रियात्मकता से जोड़कर भौतिकी का अङ्ग माना, और इस तरह उसे भौतिक 'कर्म' के रूप में समझा गया है।

माँ ने समझाया– 'धर्म', जो स्वयं को कर्तव्य-कर्म का द्योतक मानता है, 'विद्या' शब्द से 'धर्म-शास्त्र', अथवा अन्य सामाजिक शास्त्रों, अर्थात्

'शंसन-शासन' का, अथवा शक्ति का अर्थ लेता है । इसी तरह, 'कला' इसे 'कलाओं', अर्थात् विभिन्न 'कुशलकर्मों' के ज्ञान के रूप में व्याख्यापित करता है । कालान्तर में 'विद्या', दर्शन, धर्म अथवा कला के क्षेत्र में 'ज्ञान', अर्थात् 'मनःकर्म' 'मनःशक्ति' से सन्दर्भित माना गया है ।[2]

माँ ने आगे कहा– दूसरी ओर 'अविद्या', भौतिक-कर्म से सन्दर्भित होकर, मानसिक-कर्म से अलग समझा गया है । अपनी व्याख्या में 'अद्वैत' ने 'अविद्या' को 'विश्व' अथवा 'पदार्थ' से जोड़कर 'कर्मगत', अर्थात् 'देश-काल' की भौतिकीय सीमा में रख दिया है ।[3] उनका यह 'देश-काल' विश्व और पदार्थ से सन्दर्भित होने के कारण ज्ञान-कर्म के समन्वयात्मक अद्वैत को नहीं देख पाता । वस्तुतः यह 'देश-काल' परतम शक्ति का ही फैलाव है और अपरतम शक्ति का निवास है ।

वस्तुतः आध्यात्मिकता का कार्य भौतिक सत्ता की पहचान है, और अपने परतम रूप में भूत और अध्यात्म, वस्तुतः एक ही परम-शक्ति की पहचान करते नजर आते हैं । भूत (matter) की तरह ही 'अध्यात्म' 'शक्ति' (energy)-रूप है । 'शक्ति' के ब्रह्माण्डीय रूप को ही एक मानवाकृति के रूप में अवधारित कर सामान्य जन के लिये ब्रह्म-रूप में बोधगम्य बनाया गया है । उस परतम शक्ति को ही निरपेक्ष कहा गया है।

माँ ने कहा– 'वेद' ओर उपनिषदों के व्याख्याकारों या भाष्यकारों ने उनके कथनों की व्याख्या में जहाँ कहीं भी अपना पूर्वाग्रह नहीं छोड़ा है, वे निष्पक्ष नहीं हो सकने के कारण उनके 'निरपेक्ष' को देखने से वंचित रह गये हैं ।

माँ ने कहा– जिस तरह आज आप किशोरवय बच्चे 'ईश्वर', 'ब्रह्म', 'परब्रह्म' अथवा 'धर्म' तथा 'अध्यात्म' जैसे शब्दों के प्रति अपनी अरुचि व्यक्त करते हैं, वैसे ही सदियों से होता आ रहा है । वस्तुतः 'वेद' की सहजता को असहज सिद्ध करते हुए उसके व्याख्याकारों या भाष्यकारों ने उसकी ज्ञान-कर्म की समन्विति को तोड़कर 'ज्ञान' और 'कर्म', 'बुद्धि' और 'अनुभव', जैसे प्रत्ययों के माध्यम से द्वन्द्वात्मक बनाते हुए 'जीवन' को ही द्वन्द्वात्मक बना दिया है । 'कर्म-काण्ड' और 'ज्ञान-काण्ड' की वैदिक-औपनिषदिक समन्विति को भुलाकर मानवीय आदर्श को कभी वे

'कर्म' के, तो कभी 'ज्ञान' के हवाले करते रहे हैं। फलतः, देश या विश्व की मानवीय सम्पदा गुमराह बनकर अपना कर्तव्य-कर्म भूलकर, साम्प्रदायिक जीवन जीने को मजबूर होती रही है। 'जीवन' वस्तुतः 'शरीर-मन' की समन्विति ही नहीं, एक दूसरे की अन्योन्याश्रिति का भी द्योतक है।

माँ ने कहा– जैसा कि आप जानते हैं। मन या मस्तिष्क (brain) शरीर के भीतर अवस्थित अवयव है, जो बाह्य ग्राहकेन्द्रियों से जुड़ा हुआ है। कर्म करने वाली इन्द्रियाँ या अवयव शरीर के बाह्य भाग पर अवस्थित हैं। मस्तिष्क से जुड़ी ज्ञानेन्द्रियाँ मस्तिष्क के निर्णय की, और कर्मेन्द्रियाँ उसकी कार्यान्विति की साधन मात्र हैं। 'शरीर' भी समन्वित रूप में कार्य सम्पादित तथा निष्पादित करने का साधन हैं। 'ज्ञान' के अभाव में 'कर्म', और 'कर्म' के अभाव में 'ज्ञान' संभव नहीं।

माँ ने कहा– व्यवहारतया 'उत्तेजनाओं' की निश्चित उपस्थिति का ज्ञान ग्राहकेन्द्रियों के कर्म से मस्तिष्क तक पहुँचती है, और मस्तिष्क का निर्णयात्मक ज्ञान संचरित होता हुआ बाह्यतः कर्मेन्द्रियों द्वारा किये गये कार्य के माध्यम से उजागरित होता है। दूसरे शब्दों में, 'कार्य-कारण'-रूप उत्तेजनाएँ मस्तिष्क तक जाती हैं, और 'कार्य-कारण'-रूप निर्णय कर्मेन्द्रियों को क्रियाशील करते हैं। 'कार्य-कारण' की अभिन्नता 'ज्ञान-कर्म' की अभिन्नता को ही व्याख्यापित करती दीखती हैं।

माँ ने कहा– आप 'ब्रह्म' शब्द को लें। अपने सरलतम रूप में यह शब्द 'धन-सम्पत्ति', भक्तिभाव आदि का अर्थ रखता है।[4] परोक्षतः धन, सम्पत्ति, भक्ति, भावना, शब्द, मन्त्र, तेज या शक्ति सभी 'बढ़ने' या वृद्धि से सम्बद्ध हैं, सभी वृद्धिशील हैं। इसलिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग सबसे पुराने साहित्य या धर्म-ग्रन्थ, वेद में, इन्हीं रूपों में हुआ है। उपनिषद् ने इस 'वृद्धिशील' को सृष्टि के 'बृद्धतम' रूप में, तथा इस 'सृष्टि' के 'स्रष्टा' को 'परतम' बृद्ध रूप में निरूपित किया है। 'ब्रह्म' सृष्टि का स्रष्टा है और 'परब्रह्म' उस 'ब्रह्म'-रूपी स्रष्टा का स्रष्टा है। वह 'परतम वृद्ध' अनवस्था दोष का शिकार नहीं, क्योंकि वह अपना 'कारण' आप है, उसका कोई कारण नहीं।

माँ ने आगे कहा– यहाँ यह बात देखने की है, जो रूपान्तरित होते हैं,

उनमें रूपान्तरण' की क्रिया सतत चल रही होती है । 'रूपान्तरण' का कारक-तत्त्व रूपान्तरण में भले ही क्रियाशील हो, उसमें लिप्त नहीं होता । उसमें समवाय रूप से व्याप्त रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता; वह वहाँ अनासक्त भाव से रहता है । वस्तुतः यह 'शक्ति' ही हो सकती है अपने विशुद्ध रूप में । वह, अनासक्त क्रियात्मक शक्ति, अर्थात् 'अस्तित्व-मात्र का कारण' अथवा 'बृहत्तम सत्ता' का निरूपक है ।

उपनिषदों ने इस 'वृहत्तम सत्ता' को विभिन्न रूपों में व्याख्यापित किया है । एक ने इस 'वृहत्तम' को उस शक्ति के रूप में देखा है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है, अस्तित्ववान् रहती है और अन्ततः अपनी विनष्टि पर उसी शक्ति में लीन हो जाती है ।[5] दूसरे ने उसे 'तज्जलान्' कहा हे । 'तज्जलान्' की व्याख्या 'तत् ज', तत् ल और 'तत् अन्' के रूप में की गई है । 'तत् ज', अर्थात् उससे उत्पन्न, तत् ल', अर्थात् उसमें लीन, और 'तत् अन्', अर्थात् 'उससे अनन्', है । सम्पूर्ण सृष्टि उस वृहत्तम से उत्पन्न होती है, इसलिए वह 'तत् ज', अर्थात् 'तज्ज' है । सम्पूर्ण सृष्टि अपने अन्त पर उस वृहत्तम में 'तत् ल', अर्थात् या लय हो जाती है, इसलिए 'तल्ल' है । उत्पत्ति से लेकर विनष्टि, अर्थात् समाप्ति या मृत्यु तक सृष्टि उस वृहत्तम से 'अनन' अथवा 'प्राणन' करने पर ही अस्तित्ववान बनी रहती है ।[6] इसलिए तत् अन् है । तीसरी व्याख्या के अनुसार उस वृहत्तम को सच्चिदानन्दघन और सत्यम् शिवम् सुन्दरम के रूप में व्याख्यापित किया गया है, अर्थात् सत् चित् आनन्द, का आश्रय कहा गया है ।

माँ ने कहा– स्पष्ट है आज के विचारण और आर्ष-विचारण में मात्र 'शब्द' या नाम अथवा विवरण का अन्तर है, यथार्थता का नहीं । हजारों वर्ष पूर्व जिस सत्य को आर्ष-विचारण ने स्पष्ट किया था उसे ही प्रकारान्तर से आज का विज्ञान अपने प्रयोगों से सिद्ध कर पा रहा है । क्या यह आश्चर्यजनक नहीं ?

आगे माँ ने कहा– इतना ही नहीं वह वृहत्तम सभी ज्ञानों का ज्ञान है। वह सच्चिदानन्दघन है । केन्द्रस्थ 'ब्रह्म' के चारो ओर अगर एक एक करके घेरा बनाते जाये तो उसका निकटतम घेरा आनन्द का कहा गया है; बाद का दूसरा घेरा विज्ञान अर्थात् बौद्धिकता का है; तीसरा घेरा मन का, चौथा प्राण का, पाँचवा अन्न का बनता है । इन में 'ब्रह्म' सूक्ष्मतम है; और स्थूल है

'अन्न' । इन पाँच घेरों को 'ब्रह्म' का पाँच कोष कहा गया है । स्थूल 'अन्न' से सूक्ष्म है 'प्राण', 'प्राण' का प्राणन अन्न से होता है । प्राण से सूक्ष्म है 'मन' । 'मन' से सूक्ष्म है विज्ञान; 'विज्ञान' से सूक्ष्म है आनन्द और उससे भी सूक्ष्म है 'ब्रह्म' ।

माँ ने कहा– 'स्थूलता' और 'सूक्ष्मता' का भौतिक सम्बन्ध स्पष्ट है । आप उदाहरण दे सकते हैं ?

'हाँ', मैने कहा । 'वर्फ' का शिला ठोस होता है, स्थूल होता है; गर्मी से पिघलने पर 'जल'–रूप में बदल जाता है; और फिर अधिक गर्म करने पर 'भाप' बन जाता है । 'वर्फ' से सूक्ष्म 'पानी' के अणु और 'पानी' के अणु से सूक्ष्म 'भाफ' के अणु होते हैं । 'वर्फ' की आण्विक संरचना में अन्तराण्विक दूरी न्यूनतम होती है, जल में ज्यादा और 'भाफ' में सब से अधिक । फलतः 'बर्फ' के अणुओं के बीच परस्पर अन्तराण्विक आकर्षण शक्ति सबसे अधिक होती है, और वह ठोस बना रहता हे । 'जल' के अणुओं के बीच आकर्षण शक्ति उससे कम रहती है, फलतः जल में बहाव (flow) की प्रवृति रहती है । किन्तु, यह आकर्षण बल इतना भी क्षीण नहीं होता कि सभी अणु एक दूसरे का साथ छोड़ दें । फलतः जल में सतह पर एक तनाव (Surface tension) बना रहता है और पानी के अणु अपने बहाव में भी एक सतह के अन्दर बँधे रहते हैं । ज्यादा गर्म होने पर, अर्थात् $100^{0}c$ की गर्मी पर पानी खौलकर भाफ बनता है । अपने इस वायवीय रूप में भाफ के अणुओं के बीच की पारस्परिक आकर्षण–शक्ति नगण्य हो जाती है और उसके सारे अणु एक दूसरे से अलग होते चले जाते हैं । इन्हीं 'भाफ–अणुओं' को ठंढा किया जाय तो वे जल–रूप में परिणत हो जाते हैं और जल शून्य डिग्री ($0^{0}c$) पर बर्फ बन जाता है ।"

माँ ने कहा– ठीक । आपने देखा ठोस अवस्था में जल सबसे कम जगह घेरता हे और भाफ की अवस्था में सबसे ज्यादा । दूसरे शब्दों में, 'वर्फ' से अधिक सूक्ष्म 'जल' वर्फ से अधिक व्यापक, और 'जल' से अधिक सूक्ष्म 'जलवाष्प' जल से अधिक व्यापक होता है । इस तरह 'सूक्ष्मता' व्यापकता की कसौटी है । बृहत्तम ही व्यापकतम है, अथवा यों कहें 'व्यापकतम ही वृहत्तम है । और वृहत्तम ही 'परतम' है ।"

माँ ने कहा– 'परतम' शक्ति–स्वरूप होता है, शुद्ध शक्ति स्वरूप। आर्ष–विचारण में 'परब्रह्म' अपने शुद्ध क्रियात्मक रूप में निर्गुण और निर्विशेष शक्ति है। उसकी व्याख्या सम्भव नहीं।

वेदान्त जिसे निर्गुण ब्रह्म कहता है, सांख्य उसे पुरुष कहता है। वेदान्त में निर्गुण ब्रह्म 'माया' से मिलकर सगुणता प्राप्त करता है। सांख्य के अनुसार 'पुरुष' प्रकृति से मिलकर सगुणता धारण करता है। 'निर्गुणता' और 'सगुणता' इस तरह 'सूक्ष्मता' और 'स्थूलता' से व्याख्यापित होते हैं। 'निर्गुणता' मनःचक्षु का विषय है और 'सगुणता' चर्मचक्षु का। यही कारण है कि 'निर्गुणता' को विद्या से और 'सगुणता' को कर्म से जोड़ा गया है तथा 'विद्या' को 'आध्यात्म' से और अविद्या' को कर्म से जोड़ा गया है।

माँ ने कहा– 'आध्यात्म' वस्तुतः आज के तथाकथित विज्ञान या शास्त्र का ही रूप है। हमारे 'वेद–उपनिषद' वैज्ञानिक व्याख्यायें हैं वस्तु और जीवन की और ऋषि उस काल के विशुद्ध 'वैज्ञानिक'– शास्त्रज्ञ हैं। हमें उनकी व्याख्याओं को आज के परिप्रेक्ष्य में देखने के लिये उनकी वैज्ञानिक–भाषा को समझना पड़ेगा। विज्ञान की व्याख्या सार्वकालिक, सार्वभौमिक होती है। दो कालों अथवा दो भूमियों के वैज्ञानिकों की एक ही सत्य की खोज उनकी भाषाओं के अन्तर के कारण, दो रूपों में हम नहीं देख सकते। जिस तरह 'परतम सत्य' एक, अर्थात् अद्वैत होता है, उसी तरह अपरतम 'व्यक्ति' का परतम रूप, 'मानव', एक होता है।

माँ ने कहा– 'परतम' व्यापकतम होता है। वेद या उपनिषद् उसी 'व्यापकतम' की व्याख्या करते दृष्टिगोचर होते हैं। 'व्यक्ति' की स्थूलता को जब हम सृष्टि की व्यापकता में देखने का प्रयास करते हैं, तो वह 'व्यापकतम' शुद्ध शक्ति–स्वरूप 'मानव' ही नजर आता है, क्योंकि वह मनःरूप है, मनःज है, मनःकृत है। तभी तो ऐन्द्रिय शक्तियों के अधिष्ठातृ देवगण मनुष्य–शरीर के प्रारूप के सन्दर्भ में कह सके थे– "पुरुषो वाव सुकृतम्..... ।"

और मैंने माँ के वाक्य को पूर्ण करते हुए कहा– "निश्चित् ही 'मानव'–रूप यह निर्मिति स्रष्टा की सबसे सुन्दर कृति या रचना है।"

माँ मेरे प्रति आह्लादित हुई। मुझे प्यार किया और हम दोनों ही सन्तुष्ट हो सो गये।

●

सन्दर्भ

1. ईशावास्य उपनिषद; मन्त्र 11
2. हिन्दू धर्म कोश; डॉ० राजवली पाण्डेय । 'विद्या' शब्द; पृष्ठ 581
3. शब्द 'अविद्या' । हिन्दू धर्म कोश; पृष्ठ 58
4. 'हिन्दू धर्म कोश; 'ब्रह्म' शब्द; पृष्ठ 450 एवं "The central philosophy of the Rig-veda; by A. Ramamurity. पृष्ठ 66 (Ref. 4)
5. तैत्तिरीय उपनिषद्; भृगुवल्ली; प्रथम अनुवाक; पृष्ठ 332 ईशादि नौ उपनिषद ।
6. हिन्दू धर्म कोश; 'ब्रह्म', पृष्ठ 450; छोन्दोग्य उपनिषद

‘ॐ’

[उन्नीस]

माँ ने कहा– यह पार्थिव-जगत कर्म-प्रधान जीवन-जगत है । भोग, संग्रह और हिंसा जीवन के अनिवार्य कर्म हैं । वस्तुतः इनकी अतिशयता पर अंकुश लगाना आर्ष-विचारकों का मुख्य उद्देश्य रहा है । उनके कर्मों का लक्ष्य जीवन में शाश्वत आनन्द की प्राप्ति, रहा दीखता है । सम्पूर्ण आर्ष-साहित्य इसी पृष्ठ भूमि में रचित दीखती है ।

माँ ने कहा– भोग, संग्रह और हिंसा ‘व्यक्ति’ का स्वभाव है । व्यक्ति को इससे अलग कर पाना सम्भव नहीं, क्योंकि सृष्टि की निरन्तरता में ‘भोग’ का महत्त्वपूर्ण स्थान है । ‘भोग’ का अभाव सृष्टि को जीवन-शून्य बना सकता है । ‘भोग’ की इच्छा को स्वभावतः सम्यक स्तर पर रखना ‘विवेक’ का कार्य है । ‘विवेक’ बौद्धिक कर्म है । ‘भोग’ इन्द्रिय-सम्बद्ध है । इन्द्रिय-निग्रह व्यक्ति का बौद्धिक उत्तरदायित्व है ।

माँ ने समझाया– ‘इन्द्रिय’ और ‘बुद्धि’ शरीरेतर नहीं, शरीरस्थ हैं । ‘इन्द्रियाँ’ वाह्य हैं और ‘बुद्धि’ आभ्यन्तरिक । इन दोनों के कर्मों का विवेकपूर्ण समन्वय-सामंजस्य जहाँ जीवन को आनन्दप्रद बनाता है, वहाँ इन दोनों के कर्मों की अविवेकपूर्ण एकांगिकता अथवा एकदेशीयता जीवन को अतिशयता की ओर ले जाती है । निरी बौद्धिकता में भोग, संग्रह और हिंसा दबकर दम तोड़ देते हैं, और निरी ऐन्द्रियकता में ‘भोग’ जीवन को तोड़ देता है । दोनों हालातों में जीवन ही टूटता है ।

सृष्टि की हर वस्तु अपनी एक उत्तेजना-विशेष का उद्गम है । ये उत्तेजनाएँ शरीरस्थ ग्राहकेन्द्रियों, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करती हैं और चेतना-संस्थान (Nervous System) के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुँचती हैं। निर्णायक ‘मस्तिष्क’ प्रतिक्रिया-स्वरूप अपने निर्णय को चेता-संस्थान के माध्यम से ही, कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्यान्वित कराता है । इस तरह ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कर्मों की समन्विति में शरीर को क्रियाशील रखती हैं । ‘शरीर’ अपनी त्रिविमिय संरचना में जहाँ अवयवों का ‘आयतन’, अथवा ‘आश्रय’ है, वहाँ वह ग्राहकेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के माध्यम से मस्तिष्कीय निर्णयों की कार्यान्विति का साधन भी है । सम्पूर्ण ‘शरीर’ एक

इकाई है जिसके सारे क्रियाशील अवयव मस्तिष्कीय समन्वयन से नियंत्रित है ।

आर्ष-विचारक की पैनी दृष्टि जीवन की समन्विति को देखती, गुनती और समझती है । फिर अपनी समझ को 'व्यष्टि', अर्थात् 'व्यक्ति' के स्तर से उठाकर 'समष्टि' के स्तर पर लाने की मस्तिष्कीय कवायद शुरू करती है । 'व्यक्ति' का 'शरीर' क्रियात्मक अवयवों का समुच्चय है; और, 'समाज' क्रियाशील 'व्यक्तियों' का समुच्चय । समुच्चय के अवयवों में क्रियात्मक समन्वय और सामंजस्य की अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है । विभिन्न समाजों का समुच्चय ही 'सृष्टि' है ।

आर्ष-विचारक की दृष्टि में सृष्टि की सभी वस्तुएँ प्राणवान हैं, दिव्य हैं, उपयोगी हैं । विभिन्न समाजों के समुच्चय के रूप में 'सृष्टि', वृहत्तम समाज है । इस तरह अपनी 'अपरतमता' में सृष्टि 'व्यक्ति-रूप' है । प्राणवान व्यक्ति से बना 'परतम समाज', अर्थात् 'सृष्टि' भी आर्ष-विचारकों की दृष्टि में 'प्राणवान' ही है । यही कारण है कि आर्ष-विचारकों का 'ब्रह्म' अपनी सगुणता में 'पुरुष', अर्थात् 'मनुष्य' है, और निर्गुण-रूप में 'परब्रह्म' या 'परमपुरुष' या 'परतम क्रियात्मक शक्ति' ।

'मनुष्य' मन की क्रियाशीलता की उत्पत्ति है । वह 'व्यक्त' जीवन-विशेष के जातिगत अथवा समुच्चयात्मक रूप का बोधक है, 'एक-समाज'-विशेष का द्योतक है । वह 'व्यापक' होने के कारण 'अपरतम' नहीं, और 'परतम' नहीं होने के कारण 'स्थूल-सृष्टि' नहीं । 'सृष्टि' के सन्दर्भ में 'मनुष्य' सृष्टि की 'आसन्न उपजाति' (Proximate species) है । 'सृष्टि-रूप' 'समाज' का अवयव, 'मनुष्य', उसके (सृष्टि के) अधीन 'एक-समाज' एक जाति विशेष का द्योतक है ।

माँ ने कहा- 'व्यक्ति' अपने विशिष्ट गुणों के कारण नाम-रूप धारी है और व्यक्ति के व्यापक गुणों के साथ 'मनुष्य' अरूप-अनाम, मात्र जातिवाचक या गुणवाचकता की पहचान है । 'व्यक्ति', मनुष्य-गुण के अभाव, में 'मनुष्य' नहीं होता, भले ही वह पशु, राक्षस या देवता हो सकता हो ।

'दम-दान-दया' का उपदेशक, आर्ष-विचारक,उपर्युक्त तीन शक्तियों को चार वर्ण-कर्मों में विभाजित कर एक समाज का निर्माण करता है ।

समाज-शास्त्र का गम्भीरतम अध्ययन और उसके सूक्ष्मतम अवयवों का सूक्ष्मतम मनो-विश्लेषण हमें इन आर्षेय विचारों में मिलता है, जो मात्र एक कालविशेष के लिये ही नहीं, वरन् सार्वकालिक और सार्वभौमिक हैं; सम्पूर्ण सृष्टि और उसके सर्वांगीण विकास के लिये हैं ।

एक 'दिक्-काल' की निरन्तरता में घूमता हुआ समूचा ब्रह्माण्ड, जैसे एक जादूयी करिश्मा नजर आता है । तारों के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के चारों ओर घूमते ग्रह-उपग्रह न जाने कितनों की संख्या में, और न जाने कितनी दूरी में फैले हुए हैं । 'व्यक्ति' एक के लिए निमय बनाकर शान्त होता नहीं कि दूसरी दुनियाँ अपने लिए नियम माँगने लगती है । 'न्यूटन' ने गुरुत्व का नियम दिया, और 'आइंस्टाइन' ने 'सापेक्षवाद' का सिद्धान्त, किन्तु आज हमें ब्रह्माण्ड को समझने के लिये नये नियमों की जरूरत महसूस हो रही है ।

माँ ने कहा– गत्यात्मकता ब्रह्माण्ड का नियम है । यह प्रायः क्रमिक और निरन्तर है । वैसे एक जीवन-काल की तुलना में यह क्रमिकता एवं निरन्तरता असीम अनन्त दीख पड़ती है, किन्तु, आर्षेय वाङ्मय के अनुसार 'दिव्य समय' की तुलना में यह स्वयं सान्त सिद्ध होती है । वस्तुतः 'सर्जन-विसर्जन' की स्थिति वैयक्तिक होती है ।

माँ ने कहा– एक तारा कृष्ण-विवर बन सकता है, अपने पास आनेवाले अनेक तारकों को खा सकता है । विनष्टि का ताण्डव खेला जाता रह सकता है । किन्तु, सृजन नयों को जन्म देता ही जायगा । नभ नये तारा-मण्डलों को और उनसे स्वयं को बनते देखता ही रहेगा । आर्षेय वाङ्मय का असीम-अनन्त अविनाशी नित्य शक्ति -रूप विचार-पुरुष , 'परब्रह्म', नित्य का नित्य ही रहेगा । वैसे भी 'सहजता' का नाश नहीं होता। यह तो 'असहजता' है जो अपनी जटिलता खोकर सहज बनने की प्रवृत्ति रखती है । सहजता शाश्वत है । वह 'ऋत' है । वह विकासशील है । वह प्रेरणा-शक्ति है । सत्, अद्वितीय सत्, अर्थात् परब्रह्म से विकसित सृष्टि की आर्षेय अभिधारणा सन्त आगस्टाइन की ईश्वरीय सृष्टि से अलग सिद्ध होती है । सन्त आगस्टाइन की सृष्टि विकसित नहीं, वरन् ईश्वर-रचित है, जब कि आर्षेय सृष्टि ईश्वर-रचित नहीं, वरन् विकसित है ।

'कर्म' एकाकी नहीं होता वह 'कारक'-रूप एक समूह का अङ्ग है।

'कर्म' ही 'कर्ता' की क्रियात्मक शक्ति द्वारा कार्य में परिणत होता है। आर्ष-विचारणा में यह सम्पूर्ण 'कारक'-समूह 'शक्ति-स्वरूप है। दुर्गासप्तसती में वर्णित 'श्री देव्यथर्व शीर्षम्' के विचार कुछ इसी तरह के हैं। 'दुर्गा' शक्ति-स्वरूपा है। 'अहं ब्रह्म स्वरूपिणी' का उद्घोष स्वयं 'शक्ति' का ही उद्घोष हो सकता है। 'शक्ति' ही जहाँ 'कर्ता', 'कर्म' और क्रिया हो वहाँ 'करण' और कार्य भी शक्ति-स्वरूप ही होंगे। जहाँ कर्ता, कर्म, करण, क्रिया सभी तत्त्व 'शक्ति-परक' हों वहाँ अन्य कारक-अवयव, अर्थात् सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण भी तथा सम्बन्ध शक्ति-रूप ही होंगे, यह तय है। 'शक्ति'-स्वरूप सृष्टि का स्रष्टा भी 'शक्ति'-रूप ही है और उसे ही आर्ष-विचारक 'परब्रह्म' कहते हैं। शक्ति का 'सम्बन्ध' शक्ति से ही होता है। शक्ति शाश्वत है, नित्य है, सर्वत्र, सर्व व्याप्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ है। वह ऋत् है।

माँ ने कहा– शक्ति की गत्यात्मकता स्वयं सिद्ध है। वह अनादि और अनन्त है। वह अपने आप में पूर्ण, और कार्य-कारण स्वरूप है। 'वस्तु'-रूप भिन्नता शक्ति की विकासात्मक गत्यात्मकता का परिणाम है। यही कारण हे कि अद्वैतवादी 'शंकर' शक्ति-रूप 'कारण-ब्रह्म' को सत्य कहते हैं ओर 'करण-ब्रह्म' को मिथ्या। 'करण-ब्रह्म' 'कारण-ब्रह्म' का रूप हैं, और 'कारण-ब्रह्म' करण-ब्रह्म की सत्ता, अस्तित्व, व्यक्तित्व अथवा आत्मा।

माँ ने कहा– किसी भी 'कर्म' की पूर्णता के लिये मन, वाक्, शरीर के त्रिक् की आवश्यकता होती है। 'मन' आभ्यन्तरिक संचालक शक्ति है; 'वाक्' आभ्यन्तरिक शक्ति का क्रियात्मक प्रयास हे; स्थूल शरीर इन्द्रिय-शक्तियों का आगार होने के कारण 'कर्म' का क्रियात्मक साधन है, जिससे 'कर्म' कार्यान्वित होता है। इस तरह 'शरीर' की क्रियाशीलता दो रूपों में होती दीखती है– 'आभ्यन्तरिक' और 'बाह्य'। 'मन' आभ्यन्तरिक 'कर्म-मार्ग' का और 'वाक्' वाह्य कर्म-मार्ग का निरूपण करते हैं। 'मन' विचारात्मक, अर्थात ज्ञानात्मक है। वह 'आत्मा-परमात्मा', अथवा 'ब्रह्म-परब्रह्म'-रूप शक्ति से सम्पर्कित होता है। 'वाक्' प्राण के माध्यम से 'परब्रह्म' से और इन्द्रियों के माध्यम से वाह्य संसार, अर्थात् भौतिक संसार या अभिव्यक्ति से सन्दर्भित होता है।

माँ ने कहा– 'मन' और वाक् कि शुद्धि एवं एकता जब 'कर्म' की शुद्धता और एकता में प्रदर्शित होती है, तो उसका परिणाम-रूप 'कार्य', सुफल, और विश्वसनीय सिद्ध होता है । यह विश्वसनीय कार्य ही सर्वकल्याणकारी होता है । यही कारण है और यह सर्व कल्याणकारी कार्य ही यज्ञ कहलाता है । यज्ञ आडम्बरहीन होता है । यही कारण है कि 'श्रौत-यज्ञ' अपने सिद्धान्तों और कर्मों में आडम्बरहीन तथा सर्वकल्याणात्मक हैं ।

वस्तुतः 'यज्ञ' कर्म की कुशलता द्वारा परिभाषित होता है । "यज्ञः कर्मसु कौशलम ।" 'पञ्च-महायज्ञ' इसका ही उदाहरण प्रस्पतुत करते हैं । पञ्च-महायज्ञ पाँच महायज्ञों की समष्टि है । वे पाँच महायज्ञ हैं– ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ और मनुष्य यज्ञ । 'अध्यापन' को ब्रह्म यज्ञ कहा गया है, 'तर्पण' को पितृयज्ञ, 'होम' को देवयज्ञ, 'बलि' को भूत-यज्ञ और 'अतिथि-सत्कार' को मनुष्य-यज्ञ कहा गया है ।[1]

माँ ने समझाया– ये यज्ञ गृहस्थ-परिवार द्वारा अनिवार्यतः नित्य प्राप्ति किये जानेवाले पाँच कर्तव्य कर्म हैं । वस्तुतः ये पाँच कर्म सुनिश्चित हिंसा की निवृत्ति के साधन माने गये हैं । गृहस्थ घर में चूल्हा का जलाया जाना, चक्की का चलाया जाना, झाड़ू का लगया जाना, ऊखल में कूटा जाना और जल के घड़े को रखे जानें की व्यवस्था करना आदि पाँच अनिवार्य 'कर्म' हैं । पाँच उपर्युक्त कर्मों की जगहों पर छोटे कीट आदि जीवों की हिंसा अनचाहे होती ही रहती है, अथवा उनकी हिंसा हो सकने की संभावना बनी ही रहती है ।

माँ ने कहा– उपर्युक्त कारणों को ध्यान में रखकर; तथा गृहस्थाश्रम को अन्य तीन आश्रमों (अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम) के आश्रय के साथ-साथ सम्पूर्ण भूत (सभी जीवित प्राणी जो अन्न पर निर्भर हैं) का भी आश्रय माना जाकर उसके (गृहस्थ परिवार के) लिये उपर्युक्त अनिवार्य पाँच दैनिक कर्तव्य-कर्मों की व्यवस्था की गई है । 'ब्रह्म-यज्ञ' का प्रावधान वस्तुतः 'ज्ञानार्जन' के कारण-तत्त्वों की सन्तुष्टि और सेवा सम्मान के लिये है । 'पितृयज्ञ' का प्रावधान नित्य ओर अनित्य दोनों प्रकार के पितरों की सन्तुष्टि तथा सेवा-सम्मान के लिये किया गया है । 'देव-यज्ञ' का प्रावधान परब्रह्म या परम-शक्ति को अपने इष्ट देव में आरोपित समझकर

उनकी सन्तुष्टि और सम्मान के लिये; 'नृ-यज्ञ' या मनुष्य-यज्ञ भूख-प्यास से पीड़ित किसी भी आगत व्यक्ति या अतिथि की सन्तुष्टि एवं सम्मान के लिए; तथा 'भूत-यज्ञ' का प्रावधान कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी आदि सभी भूतों की सन्तुष्टि के लिये, किया गया है ।[2]

इतना ही नहीं, आर्ष-विचारणा में व्यक्ति अपनी उत्पत्ति के साथ ही कुछ लौकिक सम्बन्धों का ऋणी माना गया है । जन्म के समय वह देव और पितर का ऋणी होता है और द्विजत्व प्राप्ति के समय ऋषि या ब्रह्मज्ञ अर्थात् ब्रह्म का भी ऋणि हो जाता है । 'देव-ऋण' से विमुक्ति के लिए 'होम' की, 'पितर-ऋण' से विमुक्ति के लिये सन्तानोत्पत्ति की और ऋषि-ऋण से विमुक्ति के लिये अध्ययन की व्यवस्था दी गयी है ।[3]

माँ ने कहा– अब तो आप 'यज्ञ' की वास्तविकता से परिचित हो गये हैं । अपने कर्मों को कुशलतापूर्वक निष्पादित करना, आवश्यकतानुसार विद्वानों की राय लेना, उनके सर्व-सम्मत विचारों-निदेशों तथा स्वयम् उनका सम्मान करना ही 'यज्ञ' का वास्तविक रूप है । उत्तरदायित्वबोध के साथ कर्तव्य-कर्म को जानना, उसके प्रति श्रद्धा-विश्वास के साथ समर्पित होकर क्रियाशील होना तथा उसे कार्यरूप में परिणत करना ही पूजन-अर्चन है । स्वयम् की संशयात्मक स्थिति में ज्ञानियों के सम्मिलित विचारों और उनकी वैचारिक एकमतता ही 'सङ्गतिकरण' या 'सम्मिलित विचारणा' है । देश-काल, और व्यक्ति की पात्रता पर विवेकपूर्ण विचारण के बाद अपने द्रव्य का उत्सर्ग ही दान है ।

माँ ने समझाया– आज हम दान के नाम पर, वस्तुतः किये गये कर्म के बदले कार्मिकों को उनके, 'श्रम' का मूल्य देते हैं । वस्तुतः मानव-सभ्यता के प्रारम्भ में जब वस्तु-विनिमय में मूल्य का निर्धारण नहीं हुआ था, तब या तो आवश्यकतानुसार वस्तुओं की अदला-बदली ही होती थी, अथवा किये गये कर्म के लिए व्यक्ति को उसकी पात्रता या आवश्यकता के अनुसार धन दिया जाता था । विद्वान, बिना उपकृत किये अपने शिष्य या यजमान से धन नहीं लेते थे । उपकार करनेवाले व्यक्ति के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिये भी 'दान' देने की प्रथा थी । 'दान' वस्तुतः वितरण-व्यवस्था का एक अङ्ग था ।" माँ ने कहा– आप 'याज्ञवल्क्य' और 'जनक', अथवा संग्रह प्रधान मनुष्य को प्रजापति द्वारा दिये गये 'दान' शब्द के अर्थ, में इसे समझ चुके हैं ।

माँ ने अपने कथन का समापन करते हुए कहा– ज्ञानाग्नि में अज्ञान को अर्पित करना सबसे बड़ा यज्ञ है । 'ज्ञानमय कर्म' का नाम ही यज्ञ है।

माँ ने दुलराया और सोने का उपक्रम करने लगीं । काफी रात हो चली थी । आज 'पापा' नहीं आ सके थे । उनका फोन आया था । प्रशासनिक सेवा में अवकाश सम्भवतः बड़ा ही अनिश्चित रहता है । मुझे लगा मेरे मन में कहीं प्रशासनिक सेवा के प्रति खीज उत्पन्न होने लगी है। फिर लगा जैसे यह भी कहीं कोई 'यज्ञ' तो नहीं ! ज्ञान और कर्म मात्र चिन्तन मनन तक ही रह जायें तो परिणाम-स्वरूप क्या मिलेगा हमें ? 'क्रिया' के अभाव में 'कर्म' विचार तक ही रह जाता है । यह तो 'क्रिया' है जो 'मनः कर्म' और तनः कर्म को 'कार्य' या 'परिणाम'-रूप में उजागरित करती है । 'तन' और 'मन' की क्रियात्मकता जहाँ उन्हें एकाङ्गी रूप में क्रियाशील रखती है, वहाँ वही क्रियात्मकता उनके कर्मों, अर्थात् तनः और मनः कर्मों को समन्वित कर 'कार्य' अथवा 'परिणाम' को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है । हम परिणाम चाहते हैं और प्रशासन में 'परिणाम' की अहमियत (importance) सर्वोपरि है । आज 'पापा' की मजबूरी का जैसे मुझे ज्ञान हो आया । मजबूर 'पापा' का रुआँसा चेहरा सामने आ गया । अपनी सोच से आप विचलित होना, शायद इसे ही कहते हैं । 'पापा' अगले सप्ताह आयेंगे– यह उनका वादा था आज का । और मेरे पापा वादा के पक्के हैं, ये सभी जानते हैं । तभी तो सभी उनपर विश्वास करते हैं । लगा, इस विचार ने जैसे मुझे आत्मतुष्ट कर दिया हो, और मेरी आत्मतुष्टि ने मुझे कब नींद में खींच लिया, पता भी नहीं चला । जब नींद टूटी माँ भी जगी लेटी ही थीं । आज छुट्टी का दिन था– मेरी नींद को तोड़ना उन्हें अच्छा नहीं लगता।

●

संदर्भ

1. मनु स्मृति; अध्याय 3, मन्त्र 70

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥

2. मनुस्मृति; अध्याय 6; श्लोक 35,36; पृष्ठ 143-44

3. धर्म शास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) अध्याय 18, पृष्ठ 383

'ॐ'

[बीस]

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों ने 'जीवन' को 'जीवन' की गहराई में उतर कर देखा था। 'जीवन' के वितान को देखनेवाले उन ऋषियों ने 'जीवन' को देखकर उसे यथावत् छोड़ ही नहीं दिया, वरन् उसे विश्लेषित कर, उसके अवयवों को जानने का प्रयास भी किया। ऋषियों का चलाया वह ज्ञान-चक्र आज भी चलता जा रहा है। विषय-विशेषों की व्याख्या बढ़ती जा रही है, और साथ ही जीवन-वितान का विस्तार भी बढ़ता जा रहा है। माँ ने कहा– व्यगत समय के साथ हम 'उद्योगपति' तो हो रहे हैं, किन्तु हमारा अपना 'उद्यम' समाप्त होता जा रहा है। हम परमुखापेक्षी हो रहे हैं, अपने कर्मों में भी और विचारों में भी। अब तो ऐसी स्थिति आ गयी-सी लगती है कि हम जीवन-शैलि में भी अपनी मौलिकता को खोते जा रहे हैं। आज हम 'जीवन' को नहीं, 'वादों', (isms) को जीते हैं। 'बोतल' और 'लेबेल' (bottle and lebel) बदलकर हम पानी बेचकर धन तो प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु उसे समय के दूषण (contamination) से नहीं बचा पाते। हम अपने मौलिक ज्ञान और अपनी मौलिक जीवन-शैली को अपनी ही 'नक्काल प्रवृत्ति' के कारण संदूषित तो कर देते हैं, किन्तु किसी के भी अपने नहीं हो पाते। हम अपने असन्तोष को जगा तो लेते हैं, किन्तु असन्तोष की शान्ति के लिये कुछ कर नहीं पाते। समुद्र में गहरे पैठकर मोती चुनना हम जैसे भूल ही गये हैं। एक सार्वकालिक और सार्वभौमिक विचार तक हम आज नहीं दे सकते, जब कि पूर्व के हर सार्वभौमिक और सार्वकालिक विचार को हम अपने जेहन से उतारे फेंक दे रहे हैं। अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग देने के चक्कर में हम यह भूले जा रहे हैं कि जो राग हम देने जा रहे हैं वह कितना शुद्ध है।

माँ ने कहा– हम भूल जाते हैं कि 'विषय' जीवन के अङ्ग हैं, और 'विचारण' जीवन से सन्दर्भित होना। 'विचार' मात्र-'विचार' के लिये हो, ऐसा हमारे आर्ष-विचारकों ने कभी सोचा भी नहीं था। आज हम 'मानववाद' की चर्चा करते हैं और 'अस्तित्ववाद' (existentialism) तथा 'व्यवहारवाद' (Pragmatism) के आधार पर उसे तौलते हैं। 'मानव' को

'यन्त्र' समझने की एक भूल शासकों ने की थी। आज सारा मानव-समाज कठपुतली-सा शासक-राजनीतिज्ञ के पीछे चक्कर लगा रहा है। असन्तुलित शासन-प्रणाली एक ओर जहाँ कठपुतली-समाज का निर्माण करती रही है, वहाँ दूसरी ओर विद्रोह-आतङ्क के भी बीज बोती चली जा रही है।

माँ ने कहा– ठीक है कि विष से विष दूर होता है, किन्तु हिंसा से हिंसा दूर नहीं होती। 'हिंसा' अहिंसात्मक नहीं होती, और अहिंसा में 'हिंसा' का स्थान नहीं होता। आज की राजनैतिक-सत्ता मात्र राजनीति की एक-देशीयता में जीती है, 'जीवन' को देखती भी नहीं, जैसे वह जीवन में जीती ही नहीं।

माँ ने कहा– आज के विचारक मध्यकालीन विचारकों की तरह ही वादों (Isms) की आड़ ले बैठे हैं, आर्ष-विचारकों की विचार-निष्पक्षता से दूर चले गये हैं। निष्पक्षता के आधार पर आर्षेय युग को तात्कालिक 'विज्ञान' और 'दर्शन' का समन्वित युग कहा जा सकता है। मध्यकाल में 'दर्शन' की जीवन-सन्दर्भित दृष्टि कर्तव्य-कर्मों की धार्मिक व्याख्या में ही उलझ कर रह गयी-सी, और जीवन की व्यापक दृष्टि से हटकर कर्तव्य-कर्म की संकीर्णता में धर्म की व्याख्या करने लगी-सी दीखती है। धार्मिक मतों को पुख्ता बनाने में लगा दर्शन, वस्तुतः धर्म का दर्शन बन गया सा दीखता है। आर्ष-दर्शन में, जहाँ सनातन धर्म था, वहाँ निष्पक्षता थी। किन्तु, बाद के समय में 'वादों' अथवा साम्प्रदायिक या धार्मिक मतों ने अपनी-अपनी व्याख्या से अलग-अलग धर्म-सम्प्रदाय बना दिये। जैन-धर्म, बौद्धधर्म आदि धार्मिक पन्थों ने धर्म के ऐसे ही रूप प्रस्तुत किये हैं। इनके अपने-अपने दर्शन थे। आर्षेय दर्शन की 'सम्पूर्णता' का दृष्टिकोण एक देशीयता में बदल चुका था। धर्म में तब भी नैतिकता और सत्य का बोल-बाला था। आज का 'युग-धर्म' दार्शनिकता से अलग है, किन्तु वादों का उसका चक्कर कम नहीं हुआ, बढ ही गया है। इतना ही नहीं दूर-दर्शिता एवं पूर्णता को देखने की निष्पक्ष दृष्टि के अभाव में वह हर दृष्टिकोण से अधूरा सिद्ध हो रहा है।

माँ ने कहा– आज की 'दार्शनिकता' न तो 'विज्ञान' को समझ पा रही है, न ही 'धर्म' को, और न ही जीवन को। जीवन की व्याख्या को भूला, आज का दर्शन, मात्र वादों की व्याख्या में लगा नजर आता है। 'दर्शन' दृष्टिकोण पर आधारित नहीं, 'दृश्य' या साक्षात्कार पर आधारित होता है।

प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनों के समन्वय में जैसे हम अपने दर्शन की ही व्याख्या भूल-से गये हैं, अथवा दिग्भ्रमित हो गये हैं। व्याख्या में भी समीक्षा की बजाय हम आलोचना का सहारा लेने लगे हैं। हम तथ्यों को छोड़कर, 'व्यक्ति' को उसकी वैयक्तिकता के पक्ष में, अपनी पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टि से देखने लगते है। हम अपनी नजर में 'राम' को 'रावण' और 'रावण' को 'राम' बनाने से बाज नहीं आते। जब हमारी दृष्टि ही संकुचित हो जाये तो भला हमारे समक्ष 'सम्पूर्ण' क्यों कर प्रकट हो पायेगा। सम्पूर्ण तो विस्तार-ही-विस्तार होता है, संकुचन नहीं।

माँ ने कहा– 'दर्शन' जीवन-सन्दर्भित और सर्व-कल्याणात्मक होता है। इसमें समीक्षा की गुञ्जाइश होती है, आलोचना की नहीं; सुझाव का अवसर होता है, भर्त्सना का नहीं; तथ्यों के आधार पर नकारने का अवसर होता है, तथ्यों से मुख मोड़कर काल्पनिकता में न-कारने का नहीं। 'दर्शन' वस्तुतः सर्वकल्याण, इस तरह, यथार्थ कल्याण से सन्दर्भित है, एक की सन्तुष्टि से नहीं।

माँ ने कहा– आर्षेय दर्शन अपनी काव्यात्मक अभिव्यक्ति में आज प्रतीकात्मक नजर आ सकता है, किन्तु यह भी हो सकता है तत्कालीन भाषा-विज्ञान की नजर में उसका वही स्थान हो, जैसा कि हम आज की वैज्ञानिक भाषा को उसके व्यापक अर्थ में देखते हैं। भाषा की काव्यात्मकता शब्द की वैज्ञानिकता को अथवा वैज्ञानिक अभिव्यक्ति को कम नहीं करती।

माँ ने कहा– श्रुति, स्मृति और उपनिषद् को लें तो तीनों की जीवन-सन्दर्भित व्याख्या, 'समन्वित' और 'एक जैसी' ही दीखती है। 'श्रुति' उपनिषद् से व्याख्यायित और स्मृति से आचरित होती है। आप जानते ही हैं कि 'जीवन' आर्ष-विचारकों के विचारण का केन्द्रीय बिन्दु है। 'जीवन' स्वयं ससीम और सान्त होने पर भी 'जीव' का आश्रय होने के कारण उसकी व्यापकता एवं निरन्तरता का रक्षक है। 'जीवन' की रक्षा से ही 'जीव' की उपयोगिता सन्दर्भित होती है। आर्ष-विचारकों ने इसी आधार पर 'जीवन' को उसकी सम्पूर्णता में देखने का प्रयास किया हे।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारक 'जीवन' की स्वस्थता में सम्पूर्ण सृष्टि की उपयोगिता देखते हैं। इस तरह सांसारिक जीवन में वैयक्तिक जीवन की रोगग्रस्तता को देखकर उन्होंने 'रोग' के इलाज के लिये रोग के व्यापक

कारणों को खोजा है । उन्होंने 'रोग' के तीन कारण ढूँढे हैं– आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक । आधिदैविक रोग का कारण भौतिकेतर होता है, और सामान्यतः व्यक्ति की समझ में नहीं आता । इसे 'दैवी' कहकर इसका इलाज देवोपासना और 'यज्ञ' पर छोड़ा गया है । जिन रोगों का कारण भौतिक हो, उसे भौतिक रोग कहते हैं और उसके इलाज के लिये उन्होंने आयुर्वेदीय चिकित्सा-व्यवस्था की है । आध्यात्मिक रोग वस्तुतः मनःजन्य रोग है और इसके लिये 'अज्ञान' को इसका कारण समझ, ज्ञान के माध्यम से इसे दूर करने की व्यवस्था की गई है । शरीर और मन ही सुख-दुख एवं रोग-आरोग्य का आधार है ।[1] माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों का 'जीवन-ज्ञान' आयुर्वेदीय 'जीवन-ज्ञान' से भिन्न नहीं । उनके यहाँ मन (सत्त्व), आत्मा और शरीर की संयुक्तता से ही 'पुरुष' या 'जीवन' परिभाषित होता है ।[2] आत्मा' द्रष्टा है, दृश्य से प्रभावित नहीं होता; 'शरीर' और 'मन' प्रभावित होते हैं । वे ही रोग-निरोग से प्रभावित भी होते हैं ।

माँ ने समझाया– जीवन में सुख की प्रवृत्ति उसे, अर्थात् जीवन को समदर्शी बनाती है । 'निष्पक्षता' और 'आत्मवत् व्यवहार' 'जीवन' को सुखमय बनाते हैं । शरीर और मन के रोग इसी सिद्धान्त पर निराकृत होते हैं ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों ने 'जीवन' और 'जीवन की व्यवस्था' तथा सृष्टि और सृष्टि की व्यवस्था' को एक समझकर सर्वकल्याण के लिये जो भी कर्म निश्चित् किये, उसे 'यज्ञ' का नाम दिया तथा उन कर्मों को किये जाते रहने का नियमन दिया ।

माँ ने समझाया– 'यज्ञ' शब्द की 'यज्' सन्दर्भित व्युत्पत्ति को छोड़कर अगर शब्द को ही देखें तो यह 'यः' और 'ज्ञ', दो अक्षरों की समन्विति दीख पड़ता है । 'यः' 'गतिमानता' का अर्थ देता है, ओर 'ज्ञ' से 'ज्ञानता' का बोध होता है । इस तरह 'यज्ञ' वस्तुतः 'कर्म' और 'ज्ञान' का समन्वय ही सिद्ध होता है ।

माँ ने कहा– फिर, यदि 'यज्ञ' शब्द की व्युत्पत्ति को देखें तो 'यज्' धातु-शब्द से निःसृत यह शब्द यजार्थक सिद्ध होता है । 'यज्' धातु-शब्द का अर्थ होता है– 'पूजन', सङ्गतिकरण' और 'सम्मानन' । 'पूजन' का

सामान्य अर्थ है अपने से बड़ों या श्रेष्ठ का सादर स्वागत'; 'सङ्गतिकरण' का अर्थ है विद्वानों का एक स्थान पर एकत्रीकरण और उनका एकत्रित विचारण; और सम्मानन का अर्थ है उन श्रेष्ठ विद्वानों को उपहार समर्पित करना, अथवा आगत याचकों को यथाशक्ति देश-काल-पात्र के हिसाब से याचित वस्तु देना।

माँ ने कहा– अब अगर 'यज्ञ' की उत्पत्ति पर विचार करें तो हमारा ध्यान स्वतः मनु-स्मृति की ओर जाता है।

माँ ने कहा– सृष्टि की रचना-क्रम में विभिन्न गणों (देव, प्राणी, अप्राणी) और सूक्ष्म साध्यों के साथ सनातन यज्ञ की उत्पत्ति हुई।[3] 'यज्ञ' की सफलता के लिये अग्नि, वायु और सूर्य से ऋग्वेद, यजुर्वेद और समवेद को प्रकट किया गया।[4] आर्ष-विचारकों की दृष्टि में सारी विद्याएँ और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड यज्ञ की देन है। कहा है– सम्पूर्ण जगत की नाभि या केन्द्र यज्ञ है।[5]

माँ ने कहा– आर्ष-विचरकों की दृष्टि में 'कारण' और 'कार्य' एक दूसरे से अलग नहीं होते, फलतः 'द्वैत-अद्वैत' का, 'भेद-अभेद' का निश्चयन सम्भव नहीं। यह तो विवेक-बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति है जो 'कारण' और 'कार्य' के स्वरूप को पहचान कर ज्ञानात्मक कर्म की ओर प्रवृत्त हुआ जा सकता है। हर पिछला कार्य अगले कार्य का 'कारण' है, और हर अगला कार्य अपने अगले कार्य का कारण।

माँ ने कहा– 'यज्ञ', वस्तुतः कार्य और कारण दोनों का निरूपक है। इस तरह ज्ञान ही कारण है और 'ज्ञात'-रूप में ज्ञान ही कार्य। 'ज्ञान', इस तरह, शक्ति का द्योतक है।

माँ ने कहा– आपने यह भी जाना है कि 'मौन' 'मनन' का निरूपक है। 'मौन' जीवन-सन्दर्भित समस्याओं पर चिन्तन-मनन की स्थिति का नाम है। 'मन' जब जीवन-कठिनाइयों के समक्ष घुटने नहीं ट्रेकता, वह उनका हल ढूँढ ही लेता है। वह, जो कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेता है, जीवन में सफल होता है। वह विजयी मनः युक्त प्राणवान जीवन ही 'मानव' है।

माँ ने कहा जीवन का हर कार्य, यहाँ तक कि स्वयं 'जीवन' का हर पल एक यज्ञ है। 'यज्ञ' वस्तुतः 'क्रिया-कर्म-संज्ञान' का समन्वय है।

'यज्ञ' में संज्ञान की क्रियाशीलता संज्ञा के माध्यम से, संज्ञा को उद्वेलित करती हुई संज्ञा को जन्म देती है। क्रिया और संज्ञा का साहचर्य अटूट रहता है, मात्र रूप का बदलाव दीखता है। तभी तो 'यज्ञ' विष्णु है; तभी तो यज्ञ सम्पूर्ण जगत की नाभि, अर्थात् केन्द्रस्थानीय है। 'यज्ञ' से ही 'यज्ञ' का निर्माण होता है। ज्ञान से ही ज्ञान और कर्म से ही कर्म आगे बढ़ता है।

माँ ने कहा– 'यज्ञ' ज्ञानमय, अर्थात् संज्ञानमय कर्म है। ज्ञानमय कर्म से ही श्रेष्ठता की प्राप्ति होती है। अज्ञानमय कर्म व्यक्ति, अर्थात् कर्ता को विनष्ट कर देता है।

माँ ने समझाया– 'यज्ञ' के दो मार्ग कहे गये हैं– 'मन' और 'वाणी'। यज्ञ के ऋत्विजों में 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज अपनी मननशीलता द्वारा 'यज्ञ' के 'मन-मार्ग' का संस्कार करते हैं और अन्य ऋत्विज, अर्थात् होता, अध्वर्यु और उद्‌गाता 'वाणी' या उद्‌गान द्वारा। 'ब्रह्मा' वाणी-मार्ग के संस्कार में भाग नहीं लेता, वह 'मौन' रहता है। शेष ऋत्विज बोलते हैं, मौन नहीं रहते।

माँ ने कहा– 'ब्रह्मा' के मौन का यह अर्थ नहीं कि वह मात्र चुप रहता है। 'मौन' वस्तुतः 'मनन' से सम्बद्ध है। 'मनन'-कर्म में 'ब्रह्मा' की एकाग्रचित्तता उसे हर पल ज्ञानमय-कर्म में प्रवृत्त रखती है। वह अपने अन्य ऋत्विज सहयोगियों की गलतियों को वारीकी से देखता और उसका प्रायश्चित, अर्थात् निराकरण करता रहता है। वह यज्ञ के ज्ञान और उसके हर कर्म में निष्णात तथा निपुण होता है। वह अपने उत्तरदायित्व-निर्वहन में सतर्क रहता है। 'ब्रह्मा' के चयन में उसकी योग्यता प्रमुखतम होती है। ब्रह्मा का 'मौन' उसकी एकाग्रचित्तता के लिये होती है। ब्रह्मचर्य, अर्थात् ब्रह्मज्ञानार्थ एकाग्रचित्तता, नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि 'ब्रह्मचर्य' के लिये भी 'मौन' एक पर्याय है।

माँ ने कहा– यज्ञ की सफलता यजमान की सफलता है, और यह सफलता 'ब्रह्मा' के ज्ञानमय कर्म पर, एकाग्रचित्तता, सतर्कता और तत्परता पर निर्भर होती है। इस तरह 'ब्रह्मा' की एक भूल यज्ञ और यजमान दोनों के विनाश का कारण बन जाती है।

माँ ने कहा– प्रकारान्तर से यह हर कर्म पर लागू होता है। 'शिक्षण-कर्म' एक महायज्ञ है। यह सर्वकल्याणकारी और परमार्थिक है।

यह पञ्चमहायज्ञें में से एक महायज्ञ है ।

माँ ने कहा– एक योग्य शिक्षक ही शिक्षण–महायज्ञ का समर्थ 'ब्रह्मा' हो सकता है, अन्य ऋत्विक कर्मों का विज्ञाता हो सकता है । ऋत्विक की अयोग्यता जिस तरह 'यज्ञ' और 'यजमान' को विनष्ट कर देती है, उसी तरह शिक्षण–महायज्ञ में नियुक्त अयोग्य शिक्षक–ऋत्विक शिक्षण–महायज्ञ के साथ–साथ सम्पूर्ण समाज, सम्पूर्ण सृष्टि को भी विनष्ट कर सकता है ।

माँ ने अपने कथन को समाप्ति की ओर ले जाते हुए कहा– ज्ञानमय कर्म का परिणाम श्रेष्ठ उपलब्धि में होता है । उपलब्धि की शुद्धता, व्यापकता और सर्व कल्याणात्मकता ही उसकी श्रेष्ठता की कसौटी है । यह परिणाम अपनी परतम स्थिति में 'रस', 'सार', अथवा 'तत्त्व' कहलाता है । वही 'सत्' या 'सत्त्व' है । वह 'सत्' या 'रस' अपनी तात्त्विकता में जहाँ आनन्दप्रद है, वहाँ वह चिन्मय भी है । 'आनन्द', बिना चिन्मयता के सम्भव नहीं । यही कारण है कि वह 'सत्' 'परम–तत्त्व' है, 'परम–पुरुष' है और परम–आनन्द है । वह 'परब्रह्म' है । वह रसों का रस है, 'सच्चिदानन्दघन' है ।

आर्ष–विचारकों के सम्मुख 'जीवन' अपनी सम्पूर्णता में खड़ी दीखती है । वह आधि–व्याधि से भी त्रस्त है और आनन्द से प्रफुल्लित भी । आधि–व्याधि से मुक्त जीवन ही 'मुक्त' ओर 'आनन्दमय' हो सकता है– आर्ष विचारक इस तथ्य को स्पष्टतः देखते और जानते हैं । फलतः वे उस सामान्य और सर्वव्यापक को खोजते हैं, जिसके इलाज से शरीर स्वस्थ रह सके, मन स्वस्थ रह सके । वे इस सर्वव्यापक सामान्य (universal) को सत्त्व (मन)–आत्मा–शरीर' के संयुक्त रूप में पाते हैं और उसे 'पुरुष' कहते हैं । इस 'पुरुष' का 'आत्मा'–भाग 'नित्य', 'अविनाशी', 'निर्विकार', 'पर' और 'द्रष्टा' होने के कारण कभी रोगग्रस्त नहीं होता । 'मन' और 'शरीर' ही अस्वस्थ होते हैं । मनःअस्वस्थता को आध्यात्मिक ज्ञान से और शरीरिक अस्वस्थता को भौतिक या आयुर्वेदिक ज्ञान से दूर करते हैं ।

"इस तरह", माँ ने कहा– "हमारे आर्ष–विचारक अपने आप में जीवन–द्रष्टा हैं । उनकी सारी व्याख्यायें जीवन–सन्दर्भित हैं । सत्यतः वे मात्र सिद्धान्तवादी ही नहीं, वरन् 'सिद्धान्त–कर्म–क्रिया' की समन्विति की पूर्णता

में विश्वास करनेवाले हैं । ईशावास्य उपनिषद् के मन्त्र-द्रष्टा इस समन्विति के स्पष्ट वक्ता हैं ।"

माँ शायद मेरी जिज्ञासाओं को मेरी बातों में देखती हैं । माँ ठीक ही कहती हैं– "'यज्ञ' के लिये किसी कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं, मात्र जिज्ञासा और कर्मठता की ही अनिवार्यता होती है ।

●

सन्दर्भ

1. "शरीर और मन– ये दोनों ही व्याधियों के आश्रय माने गये हैं तथा सुख (आरोग्य) के आश्रय भी ये ही हैं ।" (चरक सूत्र; 1/27)

   "शरीरिक रोग दैव और युक्ति के आश्रित औषध-प्रयोगों से शान्त होते हैं, और 'मानस रोग' ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि आदि मानस उपायों से शान्त होते हैं ।"

2. सत्त्व (मन), आत्मा, शरीर– ये तीनों जब तक एक दूसरे के सहारे त्रिदण्ड की तरह संयुक्त होकर रहते हैं तभी तक यह लोक है । (चरक सूत्र- 1/19)

   "सत्त्व-आत्मा-शरीर की संयुक्तता को ही पुरुष कहते हैं, यह संयुक्त पुरुष ही चिकित्सा का अधिकरण है । समस्त आयुर्वेद इसके हित के लिये ही प्रकाशित हुआ है ।" [चरक सूत्र 1/19]

3. मनुस्मृति; अध्याय 1, श्लोक 22; पृष्ठ 4

4. वही, श्लोक 23

5. अथर्व वेद, 9/10/14 "यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः ।" ऋग्वेद 1/164/34 –"यज्ञो भुवनस्य नाभिः "

6. अथर्व वेद 9/10/15

   "सब इन्द्रियों से मुख्य बुद्धि के द्वारा, कारण हूँ या कार्य यह जानकर वाणी के भाग का उपभोग करूँ ।"

'ॐ'

[इक्कीस]

माँ ने कहा– आपसे मैं महागृहस्थ, परम श्रोत्रिय 'प्राचीनशाल', 'सत्यज्ञ', 'इन्द्रद्युम्न', 'जन' और 'बुडिल' तथा 'उद्दालक' के शिष्य रूप में राजा 'अश्वपति' के सम्मुख प्रस्तुत होने की औपनिषदिक गाथा कह चुकी हूँ। फिर भी यादगारी के लिये संक्षेपतः सुनाती हूँ। उपर्युक्त सत्पुरुष 'वैश्वानर-आत्मा' के जिज्ञासु थे। ये सभी ब्राह्मण थे, फिर भी क्षत्रिय राजा से उपदेश ग्रहण करने में उन्हें कोई हिचकिचाहट नहीं हुई थी। राजा अश्वपति यद्यपि कि क्षत्रिय थे, उन्हें भी ब्राह्मण-शिष्यों का आचार्यत्व ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं हुआ। 'शिक्षण-प्रशिक्षण' में ज्ञान की बड़ाई-छोटाई आँकी जाती है, वर्ण या जाति की नहीं।

माँ ने कहानी के प्रथम पक्ष का आशय समझाया था। मुझे याद भी था। माँ कहानी को लेकर आगे बढ़ीं–

राजा ने सभी जिज्ञासु परमपात्र शिष्यों से बारी-बारी पूछा– तुम किस रूप में आत्मा की उपासना करते हो ? हर ने अपनी बारी में अपना उत्तर दिया। हर का उपास्य अलग था। 'प्राचीनशाल' का उपास्य था 'द्युलोक', सत्ययज्ञ का उपास्य था 'आदित्य'। इसी तरह इन्द्रद्युम्न के 'वायु', जन के 'आकाश', बुडिल के 'जल' और उद्दालक के 'पृथ्वी' उपास्य थे।

माँ ने कहा– राजा ज्ञानी थे और वे 'पूर्णता' के उपासक थे। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा– तुम 'पूर्ण' की पूजा नहीं करते, मात्र उसके अंश की पूजा करते हो। अंश के पूजन से जो लाभ तुम्हें मिलना है वह लाभ तो तुम्हें मिल रहा है, किन्तु 'अंश' को ही 'पूर्ण' समझने की जो भूल तुम कर रहे हो उससे तुम्हारा सिर अपनी जगह नहीं रहनेवाला है। तुम उचित समय से मेरे पास आ गये, अन्यथा 'अंश' की 'पूर्ण-रूप' में उपासना तुम्हे 'विपरीत-ग्रहण' का दोषी बना देती और तुम्हारा 'ज्ञाता' होने का मिथ्याभिमान तुम्हें कहीं का नहीं छोड़ता।

राजा ने 'द्युलोक', 'आदित्य', 'वायु', 'आकाश', 'जल' और 'पृथ्वी' को 'वैश्वानर'-आत्मा का क्रमशः सिर, नेत्र, प्राण, संदेह[2] 'बस्ति'[3] और 'पैर' कहा। साथ ही हर उपासक को उनके उपास्य का तात्त्विक परिचय दिया।

माँ ने कहा– फल की कामना' व्यक्ति का मौलिक स्वभाव है । आर्ष-विचारकों का प्रयास रहा है कि इसकी अतिशयता में सम्यकता लाई जाय, ताकि समता–स्वतंत्रता–सौहार्दता के त्रिक् के आधार पर समाज अधिक–से–अधिक उन्नति कर सके । हमें यह मानना होगा कि विकासात्मक सृष्टि सब कुछ जैसा आज है वैसा ही अपने प्रारम्भिक काल में भी रहा होगा, ऐसा सम्भव नहीं । सामाजिक विकास की अपनी कहानी होती है । आर्ष-विचारक वेदकालीन विकास–स्तर को उन्नत करने की ही बात कर सकते थे । 'द्विजता' की अवधारणा ने उन्हें तीन वर्णों तक सीमित कर रखा था । 'ज्ञान' और 'विज्ञान' के सहारे सार्वज्ञान की प्राप्ति के वे अवधारक थे। सार्वज्ञान की अवधारणा में वे समाज को सार्वलौकिक ओर सार्वभौमिक सिद्धान्त दे रहे थे । 'आयुर्वेद' का उनका अगाध ज्ञान उन्हें जहाँ जीवन को समझने में मदद दे रहा था, वहाँ उनका मनःचिन्तन और उनकी मनःदृष्टि उन्हें क्रमशः पराचेतनोन्मुख और काव्यात्मक बना रहा था । आयुर्वेद का रस–ज्ञान उन्हें मानसिक और भौतिक दोनों ही दृष्टिकोण से सारतत्त्व की अवधारणा की ओर ले जा रहा था । वे जहाँ वनस्पतियों और औषधियों के वास्तविक 'रस' का ज्ञान ले रहे थे, वहाँ वे दृश्य–अदृश्य अथवा वास्तविक और अवास्तविक या आनुभविक और आनुमानिक संसार की भी कवायत को देख रहे थे । हर घटना अथवा वस्तु को उसके सार या मूल तत्त्व तक समझना–समझाना तथा सर्वकल्याण में उसका उपयोग करना, उनके समन्वयवादी स्वभाव का अङ्ग था ।

माँ ने कहा– उन्होंने जीवन को समझने और उसके संरक्षण पर विचार किया था, फलतः वे निर्मातृ–प्रधान संस्कार के संस्थापक थे । 'निर्माण' ओर 'संरक्षण' उनका स्वभाव हो गया था । 'विनाश' की उनकी अवधारणा उनके लिये सचेतक थी । वे सावधान रहकर ही जीवन को संरक्षित रख सकते थे। 'संरक्षण' ने उनके स्वभाव को समन्वयवादी बनाया था । समन्वयवादिता ने उन्हें सांगठनिक निर्माण की राह दिखायी थी । उनका सांगठनिक निर्माण कितना पुख्ता है, इसकी मिशाल यहाँ की पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था है । अंग्रेजी शासन ने सम्प्रदाय के आधार पर समाज और परिवार को भी तोड़ना चाहा, किन्तु वे उसे तोड़ नहीं सके । आज भी अलगाववादी वैयक्तिक प्रवृत्ति सक्रिय है, किन्तु सांगठनिक अवधारणा की मूल प्रवृत्ति उन्हें

संगठन के मूल से टूटने नहीं देती । आर्ष-विचारकों की सांगठनिक संरचरना के विकास का मूलाधार 'संरक्षण' की 'भावना' है । 'संरक्षण' कर्म है और 'भावना' ज्ञान । 'कर्म' और 'ज्ञान' की इसी समन्विति की देन है– 'धर्म'। क्योंकि यही 'जीवन' और 'संगठन' को धारण करता है । यही है आत्मा, परमात्मा, अथवा परब्रह्म, जो सम्पूर्ण सृष्टि, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को धारण करता है । भारतीय 'समाज'और भारतीय 'परिवार', इसी 'धर्म' पर आधारित है, किसी 'सम्प्रदाय' पर नहीं । जहाँ सभी 'सम' हैं, जहाँ सभी की समझ समान है, वही 'समाज'[4] है । 'सम्प्रदाय' धर्म' का अवयव नहीं, वह तो मात्र एक-देशीयता, एकांशिकता, एक खण्ड-विशेष की आचारिक, व्यावहारिक परम्परा का परिचायक है । 'सम्प्रदाय' शब्द का अर्थ ही है– "सम्यक प्रदीयत इति सम्प्रदायः", अर्थात् 'प्रचलित प्रथा' । 'धर्म' एक है । वह पूर्ण है । वह सनातन है । 'धर्म' के सनातन रूप के संदर्भ में आर्ष-विचारकों का स्पष्ट मत है– "मन, वाणी और क्रिया द्वारा सभी प्राणियों के साथ कभी द्रोह न करना, तथा उनके प्रति दया और दान का व्यवहार यह श्रेष्ठ पुरुषों का सनातन धर्म है ।"* निश्चय ही उसके अलावा कोई अन्य 'धर्म' लोक को धारण भी नहीं कर सकता ।

माँ ने कहा– 'समाज' का आधार कर्तव्य-कर्म है, सम्प्रदाय नहीं । यही कारण है कि आर्ष-विचारक सम्पूर्ण सृष्टि को समाज मानते हैं । 'समाज' एकता का निरूपक है । आर्ष-विचारकों का 'राज्य' भी निरंकुशता का रूप नहीं, सामाजिक एकता का निरूपक, 'सत्ता'[5] का नाम है । 'सत्ता' न तो वस्तु है, और न ही मात्र अधिकार या अधिकार का बोधक । दूसरे शब्दों में, वह किसी भी वस्तु में निहित उसकी वह शक्ति है, जो उस वस्तु के अस्तित्व को अस्तित्ववान् बनाये रखती है । 'शक्ति' सामान्यता, व्यापकता (universality), क्रियात्मकता का बोधक है । वह कारण-तत्त्व है । वस्तु का वह न मिटनेवाला, 'अविनाशी' तत्त्व है। वह वस्तु की पूर्णता और उपयोगिता का कारण है । उसके अभाव में न तो वस्तु का अस्तित्व रहता है, और न ही उसमें किसी प्रकार की क्रियाशीलता रह जाती है । वस्तु अपनी गत्यात्मकता अथवा क्रियाशीलता में भी शक्तिसम्पन्न होती है और अगत्यात्मक अथवा निष्क्रियता में भी । पहली स्थिति में 'शक्ति' का रूप 'गतिज' होता है और दूसरी स्थिति में 'स्थितिज'।

माँ ने जैसे एक साथ समाज–सत्ता को भौतिक धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया था ।

माँ ने कहा– राजा अश्वपति ने जब अपने विद्वान शिष्यों से उनके उपास्यों को जाना तो उन्होंने पहले शरीर की सम्पूर्णता में उनके उपास्यों की आवयविक स्थिति दिखायी, और फिर उस अंश की तात्त्विक स्थिति की जानकारी देते हुए उसकी उपयोगिता को स्पष्ट किया ।

कहानी के सन्दर्भ में माँ ने राजा को मेरे सामने रखते हुए ऐसे कहा, जैसे राजा स्वयम मुझे अपने छहों शिष्य के रूप में देखकर अलग–अलग उनके, उपास्यों के लिये कह रहे हों–

'द्युलोक', 'आदित्य', वायु, आकाश, जल और पृथ्वी वैश्वानर–आत्मा के क्रमशः 'सुतेजा',[6] 'विश्व', 'पृथग्वर्त्मा',[7] 'बहुल',[8] 'रयि',[9] और 'प्रतिष्ठा' संज्ञक रूप हैं । मस्तक–रूप 'सुतेजा' की उपासना से ही आपके सम्बन्धी या पारिवारिक व्यक्ति कर्मनिष्ठ हैं; और आपके यहाँ सुत,[10] प्रसुत,[11] और आसुत[12] द्रव्यों की मात्रा अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं । 'आदित्य' के रूप में आप 'विश्वरूप' वैश्वानर की उपासना करते हैं । 'नेत्ररूप' होने के कारण 'आदित्य' की उपासना से उपासक अपने यहाँ 'वाहक कर्मियों' की प्रचुरता, अर्थात् रथ और दास–दासियों का आधिक्य पाता है । वायु की उपासना से आप वैश्वानर आत्मा के 'पृथग्वर्त्मा' रूप की उपासना करते हैं । 'वायु' प्राण का निरूपक है । 'प्राण' प्रिय होता है और 'वायु' अलग–अलग मार्गों[13] से चलनेवाला या ले जानेवाला है । 'वायु' की उपासना से आपके यहाँ अनेक दिशाओं से उपहार आते हैं । 'आकाश' रूप में आप 'बहुल' संज्ञावाले वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं । 'बहुलता' प्रायः समृद्धिवाचक अर्थ रखता है । 'बहुलत्व' की उपासना से आप समृद्धिशाली हैं । 'आकाश' को वैश्वानर–आत्मा के शरीर का मध्य भाग, अर्थात् 'संदेह'[14] कहा गया है । 'संदेह' शब्द में बहुलत्व और वृद्धि दोनों निहित हैं । 'जल' के रूप में आप 'रयि' संज्ञावाले वैश्वानर की उपासना करते हैं । 'रयि', अर्थात् 'रय' से युक्त। 'रय्' धातु शब्द से गत्यात्मकता का बोध होता है । 'रय' नदी की धारा का बोधक है । शरीर में यह 'बस्ति',[16] अर्थात् मूत्र–संग्रहस्थली को निरूपित करता है । 'रयि' के रूप में वैश्वानर आत्मा की उपासना व्यक्ति को रयिमान्, अर्थात् धनवान् और बलवान बनाता है । 'पृथ्वी' रूप में आप

'प्रतिष्ठा' नामवाले वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हैं। प्रतिष्ठा वस्तुतः स्थैर्य का बोधक है । शरीर का 'स्थैर्य' या आधार चरण या पैर पर निर्भर है । इस तरह 'शरीर' में 'प्रतिष्ठा' का निरूपण 'चरण' से होता है । 'प्रतिष्ठा' रूप 'पृथ्वी' की उपासना से प्रजा और पशुओं की समृद्धि प्राप्त होती है ।"

माँ ने कहा– आप जब भी एकांगिकता की उपासना करते हैं, अर्थात् किसी एक भाग, या एक विषय पर ध्यान देते है, वह विषय तो आपका ठीक हो जाता है, किन्तु अन्य विषयों में कमजोर हो जाते हैं । एकांगिकता की उपासना साधक के सम्पूर्ण विकास को असन्तुलित कर देती है और उसका असन्तुलित व्यक्तित्व उसे विनष्ट कर देता है । शरीर का असन्तुलित आवयविक विकास शरीर को ही रोगग्रस्त कर देता है । 'शरीर' और विद्या के संतुलित विकास के लिये, 'हमें उनपर उनके पूर्णत्व में ध्यान देना पड़ता है । सन्तुलित विकास ही किसी भी वस्तु या व्यक्ति को उपयोगी या समृद्धशाली बना पाता हैं ।

माँ ने कहा– राजा अश्वपति के विद्वान शिष्य 'खण्डित व्यक्तित्व' के उपासक हैं । वे भले ही अपने-अपने विषयों के मूर्धन्य ज्ञाता हों, विशेषज्ञ हों, किन्तु पूर्णता से अनभिज्ञ उनका ज्ञान जीवन के लिये अनुपयोगी ही रह जाता है । 'जीवन' (life) पूर्णता की प्रतिमूर्ति है । 'अपूर्णता' उसे विनाश की ओर ले जाती है । 'ज्ञान और कर्म की पूर्णता', और 'उन दोनों पूर्णताओं का पूर्ण समन्वयन' ही जीवन को पूर्ण बनाता है । 'जीवन', वस्तुतः, 'जीवात्मा' (जैविक शक्ति) द्वारा अनुप्राणित शरीर का नाम है ।

माँ ने कहा– 'वैश्वानर' वस्तुतः समष्टि का प्रतीक है । वह विश्व-रूप 'नर' या 'पुरुष' है । यहाँ 'विश्व' और 'नर' अभेदात्मक रूप में प्रस्तुत हैं। 'नर' अगर आवयविक समष्टि का निरूपक है तो, 'विश्व' भी अपने आप में वास्तविक (material) समष्टि का ही निरूपक है । जो समष्टि है वह आवयविक है, एवं जो आवयविक है उसके अवयव भी अपनी समन्विति में समष्टि के निरूपक हैं । 'समष्टि' में अवयवों की पहचान होती है । सारे अवयवों का सन्तुलित और समन्वित विकास तथा आचरण ही समष्टि के लिए हितकर होता है । एक हितकारी ही सर्वकल्याणकारी होता है ।

माँ ने समझाया– आज आप सन्तुलित शारीरिक विकास के लिये

सन्तुलित आहार की बातें कर रहे थे । जिस तरह सन्तुलित आहार शरीर के विकास को सम्यक बनाता है, उसी तरह व्यक्तियों के सम्यक, अर्थात् सन्तुलित आचरण से सार्व या विश्व का कल्याण होता है ।

नर-रूप विश्व और विश्व-रूप नर में भेद करना संभव नहीं है । दोनों ही मानव-धर्मा हैं, व्यक्ति की वैयक्तिकता से अलग, निष्पक्ष, निरपेक्ष, निस्पृह ।

माँ ने कहा– राजा अश्वपति क्षत्रिय हैं, द्विज हैं । गृहस्थों में सर्वश्रेष्ठ गृहस्थ हैं । एक राजा को 'सभी' को समझने के लिये 'सभी कुछ' को समझना पड़ता है । 'सभी कुछ' को समझने का अभाव उसे राजच्युत कर सकता है ।

गृहस्थों के यहाँ पञ्च-महायज्ञ का प्रावधान है । वहाँ अग्नि की प्रधानता है । अग्निहोत्र आदि के कर्मों में व्यवहृत अग्नि को वैश्वानर[17] कहते हैं । राजा अग्निहोत्री हैं, वह वैश्वानर को साङ्गोपाङ्ग जानते हैं । अग्निहोत्र 'होम' का नाम है ।

माँ ने कहा– 'वैश्वानर' आत्मा तत्त्वतः, 'सर्वात्मा' या 'विश्वात्मा' के रूप में व्याख्यापित होता है । आर्ष-विचारक 'जीवन' को वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य में देखते-गुनते-समझते और उसकी ही व्याख्या अनेकविध करते दीखते हैं । सभी व्याख्याएँ भौतिकीय हैं, 'आनुभविक' हैं । निरा 'काल्पनिक' कहीं से भी नहीं ।

माँ ने कहा– राजा अश्वपति ने 'वैश्वानर'-आत्मा की उपासना उसकी पूर्णता में करने का उपदेश अपने विद्वान शिष्यों को दिया है । 'पूर्ण' का ज्ञान और 'ज्ञात पूर्ण' की उपासना ही सुफलीभूत होती है, सफल परिणामदायक होती है ।

माँ ने कहा– जैसा कि आप जानते हैं, 'द्रव्य' और शक्ति एक ही हैं। 'द्रव्य' संचित शक्ति है और 'शक्ति' प्रतनु द्रव्य है । साथ ही आप यह भी जानते हैं कि द्रव्य और शक्ति दोनों की समन्विति से ही 'सृष्टि', अद्वैतवादियों का 'दृष्ट' (द्रव्य) एवं 'क्रियाशील शक्तियों' (अदृष्ट) का 'माया-जाल' जैसा है । औपनिषदिक मन्त्र-द्रष्टा ने 'शरीरस्थ दीप्ति, अर्थात् द्रव्यात्मक शक्ति को 'तेज' शब्द से संज्ञापित किया, और 'क्रियात्मक शक्ति' को, जो

'मनः प्रकाश' या 'ज्ञानाग्नि'[18] अथवा 'एषणा-संकल्प' आदि शब्दों से निरूपित होता है, 'ब्रह्म तेज' कहा है। शरीर के आपाद-मस्तक भागों द्वारा 'वैश्वानर ' आत्म-पुरुष को चिह्नित किया जा चुका है। शरीर 'तेज' से निरूपित 'वैश्वानर' का मस्तक है 'द्यु-लोक; चक्षु है 'सूर्य'; प्राण है 'वायु'; संदेह है 'आकाश'; बस्ति है 'जल'; और चरण है 'पृथ्वी' । मात्र शरीर-तेज' से ही 'पुरुष' पूर्ण नहीं होता। मनःतेज, अर्थात् ब्रह्म-तेज के अभाव में वह अपूर्ण और निरर्थक ही रह जाता है, बिल्कुल काल्पनिक, जैसे हवा में खींची गई आकृति। उस वैश्वानर आत्मपुरुष के बक्षस्थल को 'यज्ञ की वेदी' कहा गया है; हृदय को गार्हपत्याग्नि; मन को 'दक्षिणाग्नि' या अन्वाहार्य पचन' अग्नि; तथा 'आस्य' या 'मुख' को 'आहवनीय' अग्नि।[19] 'गार्हपत्य अग्नि' गृहस्थ के घर की मुख्य अग्नि होती है। होम या अग्निहोत्र के लिए उससे ही 'आहवनीय अग्नि' अलग की जाती है। गार्हपत्य अग्नि से ही आवश्यकतानुसार पितर कर्मों के लिए 'दक्षिणाग्नि' भी निकाली जाती है। अग्निहोत्री आहवनीय अग्नि में ही अग्निहोत्र का कर्म नित्य-प्रति पूर्ण करते हैं।

माँ ने कहा- 'वैश्वानर', अग्नि-रूप गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण आदि तीनों अग्नि जो गृहस्थ अग्निहोत्री के घर में निवास करते हैं, की तुलना क्रमशः 'ब्रह्मा', 'विष्णु' और शिव, अथवा 'शरीर', 'आत्मा', 'मन' के त्रिधा से की गई है। 'वैश्वानर' अपने पूर्णत्व में 'पर-ब्रह्म' को निरूपित करता है और 'ओंकार' के तीनों वर्णों 'अ', 'उ' और 'म', अर्थात् विष्णु, महेश्वर और ब्रह्मा द्वारा व्याख्यापित होता है।

माँ ने कहा- आर्ष-विचारक अपनी विचारणा में हर पल 'पूर्णत्व' और 'परतमता' की खोज करते और उसे ही देखते हैं। वे मानते हैं-

"वह एक है; वह सभी भूतों का गूढ़ है; वह सर्वव्यापी है; वह सभी भूतों की अन्तरात्मा है; वह सभी भूतों का अधिवास है; वह सभी का साक्षी हे; वह सभी की चेतना है; वह विशुद्ध, अर्थात् केवल एक है, और वह निर्गुण है।[20]

"उसे इन्द्र, मित्र या वरुण कहते हैं। वही आकाश में सूर्य है। वही अग्नि, यम और मातरिश्वा है। विद्वान उस 'एक' को ही अनेक नामों से पुकारते हैं।[21]

"अग्नि वही है, आदित्य वही है, वायु, चन्द्रमा और शुक्र वही है । जल, प्रजापति और सर्वत्र व्याप्त भी वही है ।[22]

"उस समय अमरत्व और मृतत्व भी नहीं था । रात्रि और दिवस भी नहीं थे । वायु से शून्य और आत्मा के अवलम्ब से श्वास-प्रश्वास वाला एक ब्रह्ममात्र ही था ।[23]

माँ ने कहा– श्रुति और उपनिषद् पूर्णतः जीवन की वास्तविकता को देखते हैं उसकी वास्तविकता को ही परतम रूप में ले जाकर समस्त अपरतम को एक सूत्र में पिरोते हैं । 'वैश्वानर आत्मा' अपने अग्नि रूप में उसी एकता, उसी समन्विति का साक्ष्य है । आज का भौतिक विज्ञान प्रकृति की एकता को सम्पुष्ट करते हुए प्रकारान्तर से आर्ष-विचारकों की मौलिकता और सत्यता को स्वीकारता हैं । आर्ष-विचारक जीवन को सर्वकल्याणात्मक दृष्टि से देखते है । फलतः वे 'एकता' में परमानन्दमय मोक्ष को देख पाते हैं । 'व्यक्ति' की 'वैयक्तिकता' उनके लिए, सर्वकल्याणात्मक क्रिया के लिये निर्मित है । 'वैश्वानर' उसी वैयक्तिकता का निरूपक है । वह विश्वरूपी पुरुष है । वह अपरतम व्यक्ति का परतम मानवरूप है । । सृष्टि की सारी अनेकता उसकी एकता में निहित हो जाती है । शक्तिरूप सृष्टि की वह एकता ही वास्तविक (material) सृष्टि की व्याख्या है ।

माँ ने कहा– आज हम 'जीवन' में छिपे 'जीव' को नहीं देखते, मात्र 'न' की नकारात्मकता को देखते-समझते हैं । हम अपने में छिपे 'जीव' को भी नहीं देखते, क्योंकि 'जीव' को न देखने का हमारा स्वभाव हो गया है। जिसे हम देखते नहीं, उसे समझने का प्रयास कैसा ? 'जीव' से छूटा 'जीवन' आज किसी को आकर्षित नहीं कर रहा । उसे अफसोस होता होगा– 'अब उसका कोई द्रष्टा ही नहीं रहा ।'

माँ ने कहा 'जीवन' का 'न', वस्तुतः 'प्राण' का उद्बोधक है । 'प्राणवान्' जीव ही 'जीवन' के रूप में क्रियाशील होता है । 'मैं' की क्रियाशीलता भी 'जीव' के अभाव में सम्भव नहीं । 'मैं' को अपनी क्रियाशीलता के लिये अपने में निहित 'जीव' को प्राणवान् बनाना पड़ता है। 'प्राणवान् जीव' ही 'जीवन' को देख और मानव-मूल्य को समझ सकता है। निष्प्राण 'जीव' मात्र 'मैं' के अहंकार, अर्थात् मैं के कर्तृत्व के अभिमान में

डूबकर 'निस्तेज' हो जाता है। 'वैश्वानर' प्राणवान पुरुष का निरूपक है, निस्तेज या निष्प्राण व्यक्ति का नहीं।

आज हम सभी मस्तक से लेकर चरण तक एकदेशीय या एकाङ्गी होने के कारण, जीव-जीवन की सम्पूर्णता से अलग हैं। अपने आप में हम निस्तेज हैं। तेजहीन व्यक्तित्व किसी को भी उद्वेलित नहीं कर सकता, उत्साहित नहीं कर सकता। 'जीव-जीवन' की समन्विति में ही मस्तक से लेकर चरण तक के सभी अवयव क्रियाशील होते हैं। यही कारण हे कि वैश्वानर-वेत्ता राजा अश्वपति ने अपने विद्वान शिष्यों को उपदेशित करते हुए कहा– वह 'वैश्वानर' स्वयं तुम्हारे अन्दर है, तुम उसे अपने से बाहर मत ढूँढो। 'वैश्वानर-रूप' ब्रह्म या परब्रह्म स्वयं तुमसे अभिन्न है। अपने को वही समझकर जो भी कर्म तुम करोगे वह वैश्वानर के लिये ही करोगे।

माँ ने कहा– 'दूसरों को अपने रूप में देखना', व्यक्ति को 'दूसरों में अपने को देखने, का मार्ग प्रशस्त करता है। यही दृष्टि उसे सार्व तक ले जाती है, और वह जो कुछ करता है, वह स्वतः सार्व के लिये हो जाता है।

माँ ने अपनी कथनी समाप्त की। फिर मेरा मुख निहारा। सन्तुष्ट हुईं। मुझे दुलराया और हम सोने के उपक्रम में लग गये।

●

सन्दर्भ

1. छान्दोग्य उपनिषद, अध्याय 5; खण्ड 11; मन्त्र 1-7; इस संग्रह का चौथा सन्दर्भ।
2. संदेह– शरीर का मध्य भाग।
3. बस्ति– शरीर में मूत्र-संग्रह का स्थान
4. 'समाज' शब्द की निष्पत्ति 'सम्+अज्+घञ्' रुप में कही गई है। 'संस्कृत-हिन्दी कोश' वामन शिवराम आप्टे। पृष्ठ 1076

* महाभारत, शान्ति पर्व 162/21

"अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।

अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥"

5. वही, पृष्ठ 1063; शब्द 'सत्ता'; व्युत्पत्ति- सत्+तल+टाप्

6. सुतेजा= सर्वकल्याणकारी तेज से युक्त

7. पृथग्वर्त्मा (पृथक् + वर्त्मा) अलग-अलग राहों से चलनेवाला वर्त्मन् = मार्ग ।

8. बहुल= पूर्ण, समृद्ध, यथेष्ट

9. रयि = धन, प्रवहमान;

10. सुत या अभिसुत = निकाला हुआ;

11. प्रसुत = विशेष रूप से निकाला हुआ;

12. आसुत = सर्वतो भावेन निकाला हुआ सोम रस ।

13. वायु या पवन के चलने के सात मार्ग हैं– आवह, प्रवह, संवह, उद्वह, परिवह और परावह ।

14. संदेह= शरीर का मध्यभाग । 'संदेह' शब्द की निष्पति– सम्+दिह्+घञ। 'दिह' धातु-शब्द का अर्थ वृद्धि से है । सम् की उपस्थिति यहाँ धातु के अर्थ को प्रकट करने के लिये है; इसका अर्थ है– बहुल या बहुत । मानक हिन्दी कोश, और संस्कृ-हिन्दी कोश ।

15. 'रय'= वेग, प्रवाह, नदी की धारा, बल

16. छान्दोग्य उपनिषद= उध्याय 5; खण्ड 6; मन्त्र 2;पृष्ठ 556

17. हिन्दू धर्म कोश, डॉ० राजबली पाण्डेय, पृष्ठ 7, 'अग्नि' शब्द

18. छान्दोग्य उपनिषद्; अध्याय– 5; खण्ड– 19; पृष्ठ 564 । मंत्र- 2 का भाष्य–

"शरीरस्थ दीप्ति, उज्ज्वलता अथवा प्रगल्भता का नाम 'तेज' है, तथा सदाचार और स्वाध्याय के कारण होने वाला तेज 'ब्रह्मतेज' है ।

19. छान्दोग्य उपनिषद्; अध्याय- 5; खण्ड- 18; मन्त्र 2, पृष्ठ-562

20. "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।। [श्वेताश्वतर उपनिषद्; अध्याय-6; मत्र- 11]

21. "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो मरुत्मान् ।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। [ऋग्वेद 1/164/46]

22. "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।। [यजुर्वेद 32/1]

23. "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत प्रकेतः ।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं. चनास ।। [ऋग्वेद 10/129/2 नासदीय सूक्त]

'ॐ'

[बाइस]

माँ ने कहा– हम ब्रह्माण्डीय संरचना में गतिशील-चेतन और निष्क्रिय-जड़ को अनादि काल से देखते आ रहे हैं । भू-मंडल, सौर-मंडल, आकाश-गंगा आदि का ज्ञान हमें ब्रह्माण्डीय-गतिशीलता की सीख सतत देते रहे हैं । फिर भी, हमने अपने पुरातन ज्ञान को आलोचना और सन्देह की दृष्टि से तथा अपने आधुनिक ज्ञान को प्रशंसाभरे नेत्रों से देखना ही सीखा है । हमें जानना होगा कि पुरातन 'ज्ञान' ही नवीन ज्ञान की उत्पत्ति का आधार होता है । 'ज्ञान' कभी मरता नहीं । अपनी गलतियों को सुधारता जाता है । वह अपनी निरन्तरता में सदा बना रहता है । वस्तुतः, सार्वलौकिक-सार्वभौमिक मूल-विचार कभी नहीं मरते– माँ ने अपनी राय दी ।

माँ ने कहा– शक्ति-स्वरूप ब्रह्माण्डीय एकता का निरूपक, तब का 'ब्रह्म', आज भले ही 'शक्ति' (energy) शब्द से निरूपित होने लगा हो, वह वस्तुतः तब भी 'परतम-शक्ति' का ही द्योतक माना गया था । अन्तर बस भाषाई व्यवहार का था । 'शब्द' से यथार्थ का रूप नहीं बदलता, मात्र व्याख्या की शैली बदल जाती है । भारतीय षड्दर्शन ने जिस तरह एक ही यथार्थ को अपनी-अपनी तरह व्याख्यापित किया है, उसी तरह विश्व के सभी भाषायियों ने अपने-अपने तरीके से इस 'यथार्थ' को समझने-समझाने का प्रयास किया है । 'मूल', अर्थात् 'यथार्थ' अपनी जगह अनादिकाल से एक जैसा ही क्रियाशील चला आ रहा है ।

माँ ने कहा– 'अर्वाचीन' अगर अपनी आँखें मूँदकर प्राचीन को त्याज्य न समझे, तिरस्कृत न करे और उसे ऋषि-आचार्य का दर्जा देते हुए उससे उपदेश ग्रहण करे, तो शायद वह आज भी अपने को विध्वंसात्मक मार्ग से हटा सकता है ।

वस्तुतः 'ज्ञान' सर्वकल्याण का हेतु है और सर्व-कल्याण यथार्थ की एकता में सन्निहित है । यथार्थ की 'एकता' की समझ ही 'ज्ञान' की परिभाषा है । यह 'एकता' ही धारक-तत्त्व 'धर्म' है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के हर अपरतम (infima) व्यक्त-इकाई का । इस व्यक्त इकाई के आस्तित्विक अवयव को जगाना, और परतम (Summum) आस्तित्विक इकाई से मिलाना 'ज्ञान' का लक्ष्य है, क्योंकि इन दोनों के मिलन से ही

सर्वकल्याणकारी 'जीवन का दर्शन' और 'परम-कल्याण का अर्थ' प्राप्त होता है ।

माँ ने कहा- आज की दौड़ में, 'दौड़' कम, 'होड़' ही ज्यादा है । कामनाओं के आधिक्य ने आज 'व्यक्ति' को 'समष्टि' से अलग कर, विध्वंसात्मक होड़ की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया है । 'व्यक्ति' जीवन का सक्रिय अपरतम रूप है, और 'जीव' जीवन का परतम अव्यक्त परमात्मिक रूप । दोनों ही मिलकर 'जीवन' को 'नाम-रूप' देते है । वे एक दूसरे के आश्रय-आश्रयी, धर्म-धर्मी एवं अस्तित्व के कारण तथा अन्योन्याश्रयी हैं । 'जीव' के बिना 'जीवन', और 'जीवन' के बिना 'जीव' अस्तित्व-विहीन होता है ।

माँ ने कहा- 'इसे ही', अगर 'व्यष्टि' और 'समष्टि' के सम्बन्धों पर आरोपित करें तो 'व्यष्टि' और 'समष्टि' दोनों एक दूसरे पर आश्रित दीख पड़ते हैं । 'समष्टि' को छोड़कर 'व्यष्टि' असुरक्षित रहता रहेगा और 'व्यष्टि' को छोड़कर 'समष्टि' अस्तित्व-विहीन हो जायेगा । आर्ष विचारकों ने इन्हीं तथ्यों को हजारों वर्ष पहले देखा और दिखाया था ।'

माँ ने कहा- इसी अस्तित्व को बनाये रखने के लिये आर्ष-विचारकों ने 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' को पुरुषार्थ-रूप में अभिधारित किया । उनका मन्तव्य था- धर्ममय जीवन, धर्ममय अर्थ या जीवन की धर्ममय व्याख्या, धर्ममय कामना और धर्ममय जीवन का आनन्द । दूसरे शब्दों में, उनका मन्तव्य हो सकता था- धर्म से अर्जित धन, धर्मार्जित धन से धर्माश्रित काम की पूर्ति और धर्म से पूर्त्त धर्माश्रित-काम द्वारा 'परम-कल्याणकारी' परमानन्द, अर्थात्-मोक्ष की प्राप्ति । कुछ भी हो, वहाँ न तो 'धर्म' आज के अर्थ में व्यापार था और न ही 'धन', या 'काम', या 'मोक्ष' ही 'व्यापार' था। 'जीवन' तब 'जीव' के प्रति उत्तरदायी था, और 'जीव' जीवन के विकास का पथ-प्रदर्शक ।

माँ ने कहा- आर्ष-विचारक 'मोक्ष' को परमानन्द की प्राप्ति में, और 'परमानन्द की प्राप्ति' को 'सच्चिदानन्दघन' के सम्मिलन में कारण-रूप देखते रहे थे । फलतः वे सत्-चित्-आनन्द की खोज और प्राप्ति के साधन-स्वरूप 'ज्ञान' को ही 'ज्ञान' का परतम रूप मानते थे और उनका वह 'ज्ञान', अन्य कोई नहीं, स्वयं 'सच्चिदानन्दघन' ही था । क्योंकि, उस परतम

स्तर पर 'कार्य-कारण' का अस्तित्व अलग-अलग नहीं दीखता ।

'वैराग्य' उनके लिये मोक्ष का साधन था । 'विरक्ति' का अर्थ, उनके लिये 'जीवन से मुक्ति' का अर्थ नहीं था, वरन् वह तो कामना-विहीन जीवन का द्योतक था । 'कामना-विहीन' जीवन 'जीव'-मात्र की निष्काम सेवा का साधन था । उनके लिए 'जीवन', 'जीव'-मात्र के लिये ही समर्पित होने के लिए रहा था । 'मोक्ष' के अर्थ में कामनाविहीन-'जीवन' 'जीव' को देखने-समझने और उसमें मिलने-मात्र का साधन हो सकता था । वह मात्र 'जीव-सन्दर्भित ज्ञान' का ही उन्नायक हो सकता था । सच तो यह है कि वैराग्य में मात्र 'अनुरक्ति' का स्थानान्तरण होता है । यहाँ 'अनुरक्ति' जो 'धर्म', 'अर्थ', और 'काम' के लिये थी वह उनसे हटकर मात्र मोक्ष पर केन्द्रित हो जाती है । 'मोक्ष' पूर्णतः आत्मिक होता है । इसलिये 'धर्म-अर्थ-काम' से विरक्त 'अनुरक्ति' जब मात्र मोक्ष, अर्थात् जीव-जिज्ञासा में लगती है तो उसकी प्राप्ति, अर्थात् उसके ज्ञान, से ही आत्मा परम आनन्दित हो उठती है। 'जीव' जीवन का परतम रूप, अर्थात् अविनाशी और यथार्थ रूप है । 'जीवन' में 'जीव' को छोड़, शेष नश्वर हैं । जीव शक्ति-रूप है ।

माँ ने कहा— वैराग्य 'परम यथार्थ' की प्राप्ति का साधन है और वह, अर्थात् परम-यथार्थ, 'जीव' के ज्ञान में निहित है । 'जीव' जीवन का ही परतम रूप होने के कारण सम्पूर्ण सृष्टि का द्योतक हो जाता है । 'सृष्टि' अपने आप में एक समन्विति है । इस तरह समन्वित समष्टि का कल्याण ही 'परम यथार्थ' है ।

माँ ने कहा— इस समष्टि का कल्याण तब तक सम्भव नहीं जब तक कि व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता से विरक्त होकर समष्टि के प्रति अनुरक्त नहीं होता । आर्ष-विचारकों ने इस समष्टि के परतम-रूप को 'ब्रह्म' या 'परमात्मा' से निरूपित किया है, और अपरतम रूप में 'स्तम्ब' से ।[1] 'स्तम्ब' शब्द का अर्थ होता है— 'घास का पुञ्ज', 'अनाज के पौधों की पुली', 'गुच्छा', 'झाड़ी' आदि । स्पष्ट है कि 'ब्रह्म' पुञ्ज या गुच्छा के रूप में सृष्टि-रूप समन्विति का निरूपक है । 'एक अकेले का जीवन' 'समन्वित' के जीवन में अन्तर्निहित होकर ही सुरक्षित रह पाता है । सृष्टि की सुरक्षा भी सृष्टि के अवयवों की समन्विति की सुरक्षा में निहित है । इस समन्विति के सारे अवयव अगर मनमानी करने लगें, तो वे स्वयं विनष्ट होंगे ही, सृष्टि

भी विनष्ट हो जायेगी । 'वैयक्तिक अनुरक्ति' से विरक्ति तथा 'समष्टि के प्रति अनुरक्ति' ही वैराग्य है । वैराग्य का उद्देश्य 'सर्वकल्याण' और 'परमार्थ' है ।

माँ ने समझाया– 'समष्टि' के प्रति अनुरक्ति, वस्तुतः 'परम-शक्ति' के प्रति वैयक्तिक शक्ति का समर्पण है । 'ब्रह्म' और 'स्तम्ब' का उद्धरण इस तथ्य का साक्ष्य है । 'स्तम्ब' से अलग नगण्य एक टहनी, अथवा एक पौध, अथवा एक बाली की शक्ति नगण्य होती है; वह आसानी से तोड़ी जा सकती है । किन्तु, उसे ही 'पुली' या 'पुञ्ज', अथवा 'समूह' में बाँध कर एक साथ तोड़ा नहीं जा सकता । आपने बचपन में 'एकता का बल' शीर्षक कहानी में एक किसान और उसके चार बेटों की कहानी पढ़ी थी, जिसमें किसान अपने लड़कों को अलग-अलग एक-एक लकड़ी देकर उसे तोड़ने को कहता है, और उसे सभी लड़के तोड़ देते हैं । किन्तु, जब उन्हीं लकड़ियों को एक गट्ठर बनाकर उसे तोड़ने को कहा जाता है तब वे उस चार लकड़ी के गट्ठर को तोड़ नहीं पाते । किसान अपने लड़कों को 'एकता के बल' का परिचय देकर उन्हें परस्पर एक होकर रहने की सलाह देता है ।

माँ ने कहा– यही स्थिति हमारे वैयक्तिक शरीर की है । शरीर इन्द्रियों का क्रियात्मक समूह है । आपने देखा इन्द्रियों को निवास-स्थान देने के लिए शरीर निर्मित हुआ । शरीर पाकर सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना कर्म करने लगीं । फिर, आपने देखा सभी इन्द्रियाँ श्रेष्ठता की लड़ाई लड़ने लगीं और अन्ततः 'प्राण' को सर्वश्रेष्ठ माना । ये आख्यान हमें समन्विति की शक्ति का अन्दाजा देते हैं ।

माँ ने कहा– 'ब्रह्म' वस्तुतः शक्ति का अनन्य रूप है और, 'व्यक्ति' या 'व्यक्त इकाई' शक्ति का व्यक्त रूप । 'शक्ति' के व्यक्त रूप को ही 'द्रव्य' कहते हैं ।

माँ ने समझाया– 'शक्ति' के जो रूप कार्यकारी या कार्यनिर्वाहक हैं, वे रूपान्तरित हैं, यथा ताप, प्रकाश, ध्वनि, विद्युत, यान्त्रिक, चुम्बकीय, रेडियोधर्मिता, परमाण्विक-शक्ति आदि । ये शक्तियाँ ऐसी हैं जो एक-दूसरे में रूपान्तरित हो सकती हैं । 'ताप', प्रकाश में रूपान्तरित होता है, तो 'प्रकाश' ताप में । किन्तु, आर्षचिारकों ने 'कार्य-कारण' की श्रृंखला के

परतम स्तर-पर एक विशुद्ध 'शक्ति' की अवधारणा दी है, जिसे उन्होंने स्वयम्भू कहा है । रूपान्तरण में वह निरपेक्ष रहता हुआ भी वहाँ रहता है । दूसरों का कारण वह, अपना कारण आप स्वयम् होता है । वह सब का कारण है, उसका कारण कोई अन्य नहीं, वह स्वयम् है ।

माँ ने कहा– वह 'समन्वित' नहीं, किन्तु हर 'समन्विति' का कारण है । कार्यकारी शक्तियाँ 'कार्य'-रूप शक्तियों में रूपान्तरित होती है । द्रव्य (matter) स्वयं 'कार्य-रूप', 'शक्ति' है, और 'द्रव्य' को 'शक्ति' में रूपान्तरित किया जाना सम्भव है । विशुद्ध या 'निरपेक्ष-शक्ति ' कार्यकारी-शक्तियों' का उद्गम है । वह स्वयम् स्थूल द्रव्य-रूप नहीं, किन्तु 'द्रव्य' या 'कार्य' का कारण होता है । वह अविनाशी और नित्य शक्ति है, अरूपान्तरित एवं विशुद्ध । 'शक्ति' अविनाशी ही होता है ।

माँ ने कहा– इसी अरूपान्तरित विशुद्ध परतम-शक्ति को आर्ष विचारकों ने 'कारण'-ब्रह्म और 'द्रव्य' या अन्य 'रूपान्तरित शक्तियों' को 'कार्य-शक्ति कहा है । आधुनिक भौतिकी 'शक्ति' की अवधारणा को मानता तो है, किन्तु वह प्रयोगतः 'निरपेक्ष शक्ति' तक पहुँच नहीं सकता । जिसे आज की भौतिकी प्रयोगतः नहीं जान पाती, उसे वह मान्यता भी नहीं देती। किन्तु आर्ष-विचारक उसे अनादि, अनन्त, अविनाशी, निर्गुण, स्वयम्भू-रूप में स्वीकार करते हैं । उसी निर्गुण विशुद्ध शक्ति को 'परब्रह्म' की संज्ञा देते हैं।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों ने प्राणियों में निहित चेतन-शक्ति को भी उसी 'परब्रह्म' की रूपान्तरित छवि के रूप में देखा है ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों को 'कवि' कहा गया है । 'कवि' को सर्वज्ञता का वरदान है । परा-पश्यन्ती का वह द्रष्टा भूत-भविष्य को भी वर्तमान की तरह प्रत्यक्ष देख सकने में समर्थ होता है । उसकी काव्यमय वाणी उस प्रत्यक्ष को सूत्रात्मक व्याख्या दे सकने में भी समर्थ होती है । उस की इसी दृष्टि को 'दिव्य-दृष्टि', 'आर्ष-दृष्टि', या 'मनः दृष्टि' कहा गया है। दिव्य-दृष्टि से प्राप्त साक्षात ज्ञान ही सार्वलौकिक, सार्वभौमिक और निरपेक्ष हो सकता है । दूसरे शब्दों में निरपेक्ष ही सर्वत्र और सर्वव्यापक हो सकता है ।

माँ ने कहा– 'निरपेक्षता' को किसी माध्यम की अपेक्षा नहीं होती । 'अपेक्षा' ही वस्तु को सीमित करती है । जिसे किसी की भी अपेक्षा नहीं होती, वही मुक्त और सर्वत्र होता है । 'ऋषि' की कोई भी वैयक्तिक अपेक्षा

नहीं होती । वह सार्व के लिए प्रेरित रहता है । यही कारण है कि उसकी दृष्टि असीम और अनन्त तक को देख पाती है । वह दृष्टि 'ससीम' और 'सान्त' के बन्धन से मुक्त होती है । 'सापेक्षता' वहीं होती है, जहाँ वैयक्तिकता को प्रधानता दी जाती है । 'सार्व' में वैयक्तिकता का विलोप, उसके 'ससीम' और 'सान्त' जीवन को 'असीम' एवं 'अनन्त' बनाकर उसे 'निरपेक्ष' बना देता है । विशुद्धता 'निरपेक्ष' ही होती है ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारक इसी अर्थ में वैयक्तिक शक्ति-रूप 'आत्मा' को परमशक्ति-रूप 'परमात्मा' में मिलकर एकाकार होने की बात करते हैं ।[2] आर्ष-विचारकों का मानना है कि 'आत्मा का ज्ञान' वस्तुतः अन्वेषण और 'विजिज्ञासा' का विषय है । 'अन्वेषण' और 'विजिज्ञासा' आत्मा को जानने के साधन हैं । इसके लिए शास्त्र और आचार्य का उपदेश अपेक्षित है । स्पष्ट है कि ये विषय वैयक्तिक प्रयास के अङ्ग बन जाते हैं। आप जानते हैं कि 'इन्द्र' को इसका सम्यक ज्ञान प्राप्त करने में एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य-वास करना पड़ा था ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारक की दृष्टि में ज्ञान वही है, जो सार्वलौकिक, सार्वभौमिक एवं सर्व-कल्याणमय हो, अर्थात् नित्य अथवा शाश्वत एवं सर्वकल्याणकारी हो । इस अर्थ में 'परब्रह्म' ही 'ज्ञान' भी है, ज्ञाता और ज्ञेय भी । अन्वेषण और विजिज्ञासा, गुरु के उपदेश और शास्त्रों के स्वाध्याय के अभाव में 'ज्ञान' की प्राप्ति सम्भव नहीं । 'ज्ञान' मूलतः सर्वकल्याण का निरूपक है ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों के लिये इन्द्रियों के वशीभूत हो इन्द्रिय भोग में लिप्त रहना 'अज्ञान' है । उनके लिए परतम-कल्याण अथवा परमार्थरूप परम-शक्ति, अर्थात् सबों के कल्याण में अपनी ही आत्मा को देख सकने का सामर्थ्य पा लेना ही 'ज्ञान' है; और, 'अज्ञान' को जानकर 'ज्ञान' तक पहुँचने की विधा ही 'विज्ञान' है ।

●

सन्दर्भ–

1. छान्दोग्य उपनिषद्, तृतीय खण्ड; पृष्ठ–472–'ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्ता...'
2. छान्दोग्य उपनिषद्; अध्याय-8, खण्ड-7, मन्त्र-1

'ॐ'

[तेइस]

माँ ने कहा– तब वह समय था जब शिष्य की पात्रता 'जिज्ञासा' और 'सत्य' के प्रति आस्था, एवं तदनुरूप 'आचरण' पर निर्भर होती थी। 'द्विजत्व' प्राप्ति उस पात्रता की कसौटी हुआ करती थी। द्विजत्व प्राप्ति से पूर्व ब्राह्मण भी शूद्र की श्रेणी में ही रखे जाते थे। कहा है– ब्राह्मण जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते, विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते।"

माँ ने कहा– 'सत्यकाम' के विद्या के प्रति अनुराग ने जब उनके मन को ब्रह्मचर्यवास के लिए उद्वेलित किया तब उन्होंने गुरु-आश्रम में जाने की पहली शर्त, 'गोत्र' की जानकारी, अपनी माँ से चाही। सत्यकाम के पिता उनके शैशवावस्था में ही स्वर्ग सिधार चुके थे। उनकी माँ अपने पतिगृह में परिचारिका भी थीं। अपने कार्य के प्रति निष्ठावान् माँ 'जबाला' के लिये गोत्रादि की जानकारी की लौकिकता कोई गम्भीर समस्या नहीं थी। वे उसे कभी न तो जानने को उत्सुक हुईं और न ही गम्भीर बनीं। पति भी जल्द ही गुजर गये, इसलिये वे इसे जान भी नहीं पाईं। फलतः सहजतया ही उन्होंने पुत्र को यथार्थता से अवगत करा दिया। और, निदेश भी दिया– "मेरा नाम 'जबाला' है अतः जब आचार्य नाम पूछें तो उन्हें अपना नाम 'सत्यकाम जाबाल' बतला देना।"

माँ ने कहानी को आगे बढ़ाया– 'सत्यकाम' आचार्य हारिद्रुमत गौतम के आश्रम में गये। वहाँ उन्होंने उनसे अपने आने का प्रयोजन बतलाया– 'मैं आप पूज्य के यहाँ ब्रह्मचर्यवास करने आपकी सन्निधि में आया हूँ।" आचार्य ने उनके गोत्र की जिज्ञासा की। सत्यकाम ने सहज भाव से उनके समक्ष माता के कहे शब्द दोहरा दिये। आचार्य 'हारिद्रुमत गौतम' ने बालक सत्यकाम की सत्यवादिता की सराहना की और उन्हें शिष्य बना लिया।

माँ ने कहा– तब आचार्य का आश्रम स्वाध्याय का उपयुक्त स्थान होता था। शिष्य आचार्य आश्रम में आचार्य के आश्रम की अग्नि की सेवा, गौओं की सेवा एवं आचार्य के आदेशानुसार सभी कर्म करते हुए स्वाध्याय करते थे। जब शिष्य अपने स्वाध्याय में आगे बढ़ जाता, आचार्य उसके मनोविज्ञान को जानकर उसकी कठिनाइयों को दूर करते थे। 'सत्यकाम' के

लिए आचार्य ने कर्म नियत किया । उन्होंने अपने गौओं के यूथ में से चार सौ दुबली-निर्बल गौओं को अलग छाँटकर सत्यकाम के सुपुर्द किया और आदेश दिया- तू इन गौओं के पीछे जा ।

माँ ने कहा- सत्यकाम दृढ़व्रती थे । उन्होंने गौओं के पीछे जाते हुए कहा- इनकी संख्या जब तक एक सहस्त्र नहीं हो जायेंगी वे आश्रम में नहीं लौटेंगे ।

माँ ने कहा- ऐसा ही हुआ । इधर गौओं की संख्या एक हजार हुईं और उधर सत्यकाम का स्वाध्याय पूर्णता तक पहुँच गया । गौएँ भी सत्यकाम की सेवा से तृप्त थीं । इस बीच समय काफी गुजर गया था ।

माँ ने कहा- ज्ञान की प्राप्ति निठल्लों को नहीं होती । जिज्ञासु ही ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं । सत्यकाम तो सत्यकाम ही थे- सत्य के सच्चे जिज्ञासु । उनका ध्यान सदा सत्य-साधना में ही लगा रहता ।

माँ ने कहा- जिज्ञासुओं की जिज्ञासा शान्त करने के लिये स्वयं प्रकृति और प्राकृतिक घटनाएँ भी अपने सूक्ष्मतम रूप को उनके समक्ष खोलकर रख देती हैं । अन्वेषक इसी सूक्ष्मता से तत्त्व-सत्व को खोज निकालते हैं । सत्यकाम के लिए जैसे स्वयं देव-समूह भी विभिन्न रूपों में शिक्षा देने को तत्परता से उपस्थित हो गये ।

माँ ने कहा- सत्यकाम ने गौओं की सेवा की थी । प्राणी कभी किसी की सेवा को नहीं भूलते । की गई सेवा के लिये वे उपकृत और कृतज्ञ रहते हैं । यह उनका सहज स्वभाव होता है । हमारी परेशानी यह होती है कि मानवेतर प्राणियों में से हम किसी की भी भाषा को नहीं जानते-समझते । अगर जानते-समझते होते तो सम्भवतः हम एक-दूसरे के लिये ज्यादा कल्याणकारी होते । घरेलू जानवर भी जब अपने को हमारे कार्य से असुरक्षित अनुभव करते हैं तभी अपना प्रतिकार व्यक्त करते हैं । प्राणवान् हर जीव पहले अपनी सुरक्षा चाहता है । माँ ने कहा- मानवेतर-प्राणी मानव-प्राणी से अधिक सहज-जीवन जीते हैं ।

माँ ने कहानी की ओर मुड़ते हुए कहा- पञ्च-महाभूतों में सर्वव्यापक 'वायु' का बहुत ही महत्त्वपूर्ण-स्थान है । 'गत्यात्मक शक्ति' का प्रतीक 'वायु' 'आकाश' में कहीं भी बेरोक-टोक प्रवेश पाता है । उसका वहाव

दिशाओं की सूचना देता है। इसके के सात गमनात्मक मार्ग कहे गये है– आवह, प्रवह, संवह, उद्वह, विवह, परिवह, और परावह।[1] वह, अर्थात् वायु पाँच प्राणों का निरूपक हैं। प्राणियों के पाँच प्राण है– प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान।[2] मुख्य 'प्राण' का 'कारण' होने के सन्दर्भ में 'वायु' को जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव कहा गया है। आर्ष-विचारक सृष्टि-निर्माण के प्रथम चरण में 'आकाश' तत्त्व की निर्मिति मानते हैं। उनके विचार से 'आकाश' ब्रह्म है और उसके भीतर ही सब कुछ अवस्थित है। वह स्रष्टा के स्वयं का एक वितान है, जिसके नीचे स्रष्टा ने सृष्टि का हर रूप धारा है। आकाश का गुण 'शब्द' है, और वायु का गुण 'स्पर्श'। 'वायु' की उत्पत्ति आकाश से कही गई है। स्पष्ट है कि 'आकाश' और 'वायु' एक दूसरे के पूरक हैं। जैसा कि आप जानते हैं यह वायु ही है जिसके कम्पन से ध्वनि उत्पन्न होती है। आकाश का गुण 'वायु' से है और 'वायु' का आश्रय आकाश है।

माँ ने कहा– श्रद्धा और तपःकर्म से सिद्ध दृढ़व्रती 'सत्यकाम' से प्रसन्न 'वायु'-शक्ति ने 'वृषभ' के माध्यम से निदेश दिया– हे सौम्य ! हमारी संख्या एक सहस्त्र हो गयी है, अब हमें आचार्यकुल में पहुँचा दो।

'वृषभ' में अनुप्रविष्ट वायु-देव ने सत्यकाम को ब्रह्म के चार कलाओं वाले 'प्रकाशवान्' नामक प्रथम चतुष्कल-पाद का उपदेश दिया। यह चतुष्कल-पाद् दिशाओं से सम्बद्ध है, फलतः इसे 'दिक्कला' भी कहते हैं। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर ये चार दिशाएँ या 'दिक्' है। ये चारों 'दिक्' की चार कलाएँ हैं।[3]

माँ ने कहा– 'वायु' ने दूसरे पाद के 'ज्ञान'-दान के लिये 'अग्नि' को निर्धारित किया। सत्यकाम गायों के झुण्ड को आचार्यकुल की ओर ले चले। इस तरह हर संध्या गौएँ जहाँ रुकतीं, सत्यकाम वहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित करते, फिर समिधाधान के बाद उसके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ जाते। निर्धारित दिव्य शक्ति उन्हें एक चतुष्कल पाद का उपदेश देकर चली जाती और दूसरे पाद के ज्ञान के लिये निर्धारित दिव्य-शक्ति की जानकारी दे जाती।

माँ ने कहा– इस तरह आचार्यकुल तक पहुँचने की पूर्व-सन्ध्या तक

सत्यकाम को बारी-बारी 'अग्नि'[4], 'हंस'[5], मृद्गु[6] (जलचर पक्षी) ने क्रमशः 'अनन्तवान्', 'ज्योतिष्मान्' एवं 'आयतनवान्' नामक अन्य तीन चतुष्कल-पाद का उपदेश किया। 'अनन्तवान्' नामक चतुष्कल पाद के चार अवयव या कलाओं में पृथिवी, अन्तरिक्ष, 'द्युलोक' और समुद्र लोक कला-रूप आते हैं। इसी तरह 'ज्योतिष्मान्' नामक चतुष्कल पाद के चार कला-अवयव 'अग्नि', 'सूर्य', 'चन्द्रमा' और 'विद्युत' तथा 'आयतनवान्' नामक चतुष्कल पाद के चार कला-अवयव 'प्राण', 'चक्षु', 'श्रोत्र' ओर 'मन' है।

माँ ने कहा– इस तरह 'ब्रह्म' सोलह कलाओं से युक्त कहा गया है। इन सोलह कलाओ, अर्थात् चार दिशाओं, चार लोक, चार तेज और चार इन्द्रियाँ, को देखने से स्पष्ट होता है 'ब्रह्म' अपने आप में एक समन्वित पूर्ण है, और वह प्रतीकतः मानवीय व्यक्तित्व का विषय है। वह ज्ञान-कर्म, अर्थात् मन-शरीर की 'व्यापकतम', अर्थात् 'सूक्ष्मतम' समन्विति है। सोलह कलाएँ अपने सूक्ष्मतम समन्विति में 'ब्रह्म' नाम से व्याख्यापित होती हैं, स्थूल रूप में नहीं। 'व्यापकता' सूक्ष्म का गुण है।

माँ ने कहा– आपने देखा-सोलह कलाओं में पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर आदि चार दिशाएँ हैं; पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु, और समुद्र आदि चार लोक हैं; अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत आदि चार तेज हैं; और प्राण, चक्षु, श्रोत एवं मन, आदि चार इन्द्रियाँ है। वस्तुतः ये सारे अवयव एक क्रियाशील स्वस्थ शरीर के अवयव हैं। चार दिशाओं की समन्विति, 'अर्थात् पूर्ण विशुद्ध शक्ति-रूप 'ब्रह्म' ही चार लोकों में फैला, चार प्रकाशों से प्रकाशमान और चार इन्द्रियों से क्रियाशील है।

माँ ने कहा– ये सोलह कलायें 'ब्रह्म'-रूप विशुद्ध शक्ति की कलाएँ हैं। 'कला', वस्तुतः 'क्रियात्मक शक्ति' है, 'कारण-शक्ति' है। 'कलात्मकता', अर्थात् 'क्रियात्मक-शक्ति' जब रूपान्तरित होकर कार्य-शक्ति का रूप लेती है तो वह आगे के कार्य के लिये कारण-शक्ति का रूप भी धारण करती है। किन्तु क्रियात्मक-शक्ति के रूप में वह निराकार और अदृश्य ही रहती है। 'कारण-शक्ति' ही कला है, तभी तो वह 'ब्रह्म' के चार चतुष्कल पादीय अवयव है। इन कलाओं के माध्यम से ही स्थूल-सृष्टि का अस्तित्व सामने आता है। 'ब्रह्म' चेतन है, किन्तु उसकी निर्गुणता उसे अदृष्ट बनाये रखती है। वह 'स्रष्टा', स्वयं का कारण होने के कारण अनादि और अजन्मा है।

माँ ने कहा– जल, तेज और अन्न के साथ 'ब्रह्म' का आत्मरूप मिलने से ही नाम-रूपात्मक सृष्टि सृष्ट होती है । यह 'आत्म-शक्ति' ही ब्रह्म की 'चेतन-शक्ति' है । आर्षविचारकों की दृष्टि में सृष्टि का हर 'व्यक्त-अवयव' जल, तेज अन्न और आत्मा या जीवात्मा की समन्विति है। 'जल, तेज और अन्न' भूतात्मक और 'चेतन' आध्यत्मिक है, अर्थात् आभ्यन्तरिक शक्तिमत्ता है । आत्मा के अभाव में 'चेतना' का अभाव माना गया है । आर्ष-विचारक सम्पूर्ण सृष्टि को 'चेतन' मानते हैं । दूसरे शब्दों में 'आत्मा'-तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है ।

माँ ने कहा– 'अग्नि' तेजः रूप है, 'जल' रसः रूप है, और 'पृथिवी' अन्न-रूप है । सम्पूर्ण सृष्टि का हर अवयव इन्हीं तीन रूपों की समन्विति है ।

ब्रह्म की सोलह कलाएँ सृष्टि-निर्माण की आधारभूत सोलह क्रियात्मक शक्तियाँ है । शक्ति से ही शक्ति का निर्माण होता है । शक्ति ही शक्ति का उपभोग्य है । वह 'शक्ति', जो अनादि है, निर्गुण है, नित्य है, 'सत्' के नाम से जानी जाती है ।

माँ ने कहा– सत्यकाम जब गौओं के यूथ के साथ आचार्यकुल में पहुँचे उस समय वे ब्रह्म-ज्ञान से उद्दीप्त हो रहे थे । कहते हैं– 'परमसत्य' का ज्ञान व्यक्ति को प्रसन्न, हासयुक्त, धीर और चिन्तारहित रखता है । उसके समक्ष सुख-दुःख का विभेद नहीं रहता । वह हर हाल में सहज रहता है । द्वन्द्वात्मकता उसके लिये अर्थहीन होती है ।

माँ ने कहा– आपने देखा-सत्यकाम को उपदेश देनेवाली शक्तियाँ वायु, अग्नि, हंस और मद्गु हैं । प्रकान्तर से ये सभी शक्तियाँ वाहक-शक्तियाँ हैं, जो आत्म-शक्ति को परमात्मशक्ति की ओर, अधः से ऊर्ध्व की ओर ले जानेवाली हैं । 'वायु' को प्राण का अधिपति कहा गया है; 'अग्नि' को दृष्ट सङ्कल्प का, 'हंस' को विवेचन-शक्ति का ओर 'मद्गु' को मदहीन सहज-शक्ति का निरूपक । जीवन के ये चार आधार हैं । सहजता में जीता जीवन सहजतः ज्ञान-अज्ञान की बात नहीं करता । 'सहजता' ज्ञान का ही पर्याय है । सहजता में ही वह संकल्पना-शक्ति निहित है, जो 'प्राण' को हर पल उद्भासित करती है ।

माँ ने कहा– स्रष्टा की एषणा, अर्थात् इच्छा से प्रेरित 'मन' जब सृष्टि की रचना करता है, तब प्रथम 'आकाश' की उत्पत्ति होती है । 'आकाश' का गुण 'शब्द' है । आकाश के विकार से 'वायु' उत्पन्न होती है । 'वायु' का गुण 'स्पर्श' है । 'वायु' के विकार से 'तेज़' उत्पन्न होता है । 'तेज' का गुण है 'रूप' । 'तेज' के विकार से 'जल' उत्पन्न होता है । जल का गुण है– 'रस' । जल के विकार से 'पृथ्वी' की उत्पत्ति होती है । पृथ्वी का गुण है– 'गन्ध' ।[7]

माँ ने कहा– अगर सृष्टि-विकास के इस रूप को देखें तो सत्यकाम को उपदेश करनेवाली शक्तियों का रूप स्पष्ट होता है । वायु अपने स्पर्श-शक्ति के माध्यम से अपनी गत्यात्मकता के साथ आकाश में स्थित सभी दिशाओं, सभी वस्तुओं को जानने समझने का अवसर देती है । 'अग्नि' मनःसकल्प रूप में मनः प्रकाश के माध्यम से हर वस्तु को पहचानने की शक्ति देता है । 'हंस' मन की विवेचक शक्ति है । मनः आकाश में विचरण करता, मनःक्षीर का उपभोक्ता हंस-रूप वह शुद्धता का पारखी होता है । तभी तो वह 'क्षीर' से 'नीर' को भी अलग कर सकने में समर्थ है । 'क्षीर' कहते है दूध को और 'नीर' कहते हैं 'जल' को ।

माँ ने आगे कहा– 'मद्गु' जलचर पक्षी है । वह 'मनः 'क्षीर' सरोवर का 'हंस' नहीं, जल का निवासी है । 'जल' की उत्पत्ति 'तेज' से हुई मानी गयी है । तेजः जात 'जल' में रहनेवाले पक्षी में 'मद' का स्थान कहाँ! 'तेज' में शुद्ध करने, पकाने और पचाने की क्षमता होती है । तेज के प्रभाव से ही 'जल' रस-रूप है । यह 'रस' अपनी विशुद्धता में सम्पूर्ण सृष्टि के 'रस' या 'सत' का ज्ञान देता है ।

माँ ने कहा– अब आप अगर इन व्याख्याओं के परिप्रेक्ष्य में सत्यकाम के उपदेशको को देखें तो आपको स्पष्ट होगा– वायु, अग्नि, हंस और मद्गु सभी अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ है । 'वायु' दिक्कला का विशेषज्ञ है; 'अग्नि' पृथ्वी ओर अन्य लोकों के बीच मध्यस्थता का प्रतीक होने के कारण सभी लोकों का ज्ञाता है, 'हंस' मानसरोवर, अर्थात् मनः सरोवर का निवासी होने के कारण 'मानस'-संसार का विशेषज्ञ है और 'मद्गु' जलचर पक्षी होने के कारण, न केवल भौतिक संसार का विशेषज्ञ है, वरन् इसकी 'सत्'-रूपी विशुद्धता का उपभोक्ता और 'आनन्द' का भी ज्ञाता है । 'ब्रह्म' के ज्ञाता ये

चारों शक्ति-रूप उसकी चार-चार कलाओं के विशेषज्ञ, और सोलह कलाओं से युक्त 'ब्रह्म' का ज्ञान देने में समन्वित रूप में समर्थ हैं । 'ब्रह्म' का जिज्ञासु मात्र एक अवयव के ज्ञान से सन्तुष्ट नहीं हो सकता । उसे ज्ञाताओं की समन्विति, अर्थात् संगठन या संगतिकरण की अपेक्षा रहती है । 'प्रकृति' ज्ञाताओं की वही समन्विति है ।

माँ ने कहा– सत्यकाम स्वाध्यायी थे । वे माँ से अनुमति लेकर स्वाध्याय के लिये ही आचार्य कुल आये थे । गौओं के साथ वे निरापद जङ्गल में तबतक रहे जब तक कि चार सौ कृशकाय गौएँ एक हजार हृष्ट-पुष्ट गौएँ न हो गईं । इस कार्य में लगे उनके अनेकों वर्ष व्यर्थ नहीं गये थे । वे अपने स्वाध्याय में मस्त, प्रकृति से ही विशेषज्ञता प्राप्त कर रहे थे । दिशाओं, लोकों, ज्योतियों और आयतनवानों की पहचान उन्हें हो रही थी, जिसकी परिणति और सम्पुष्टि उपर्युक्त चार उपदेशकों और आचार्य के उपदेशों में होती है । 'ज्ञान', विशेषतः 'ब्रह्म-ज्ञान', अर्थात् समन्वित एकत्व का ज्ञान, वस्तुतः स्वाध्याय का ही अध्ययन-क्षेत्र है ।

माँ ने कहा– 'ब्रह्म' कोई लोकोत्तर कल्पना नहीं, और न ही वह 'आकाश' के वितान से बाहर का कोई अस्तित्व है । तारा-मण्डलों और आकाश के वितान के बाहर कुछ हो भी नहीं सकता । जिसकी भी कल्पना की जाती है, वह आकाश के वितान के भीतर ही । जहाँ नित्य-प्रति टूटते बनते तारे और तारा-मण्डल आकाश की सीमा को मापते ही चले जा रहे हों, वहाँ किसी 'ब्रह्म' या 'परब्रह्म' को उससे बाहरजाने का अवकाश ही कहाँ मिलेगा । वह स्वयं जहाँ सर्व-शक्तिमान् का निरूपक है, वहाँ सभी शक्तियों की समन्विति का भी निरूपक है । वह एक है; वह अनेक का कारण है; और अनेक की समन्विति का रूप है । जब सभी कुछ उसी में समाया हो तो वहाँ एक आकाश-गङ्गा के अस्तित्व का प्रश्न नहीं उठता ।

माँ ने कहा– फिर यदि वह (आकाश) परम-शक्ति से ही उत्पन्न हुआ है, तो वह स्वयं शक्ति-रूप भ्रूण-विकास की तरह उस भ्रूण से ही विकसित उसका ही वह वितान है जिसकी सीमा में भ्रूण-विकसित होता है।

माँ, स्पष्टः, भ्रूण-विकास के 'ब्लास्टोसिस्ट' (Blastocyst) में ब्लास्टोसील (Blastocoel) स्थिति की ओर इशारा कर रही थीं । सहजतः माँ का शिक्षिका-रूप मेरे सामने चमक गया।

माँ ने कहा– आप विज्ञान के छात्र है । वेद–उपनिषद 'विज्ञान' से अलग नहीं । जीवन स्वयं विज्ञानमय है– जितने भी विषय हैं, जितनी भी व्याख्याएँ हैं सभी विज्ञान–संदर्भित है । आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें जीवन–सन्दर्भित ज्ञान की व्याख्या के रूप में देखा जाय ।

●

सन्दर्भ

* सस्कृत–हिन्दी कोश, पृष्ठ 724–25; शब्द– 'ब्राह्मण

1. संस्कृत–हिन्दी कोश, पृष्ठ– 918; 'वायुः' ।
2. वही
3. छान्दोग्य उपनिषद : अध्याय – 4; खण्ड – 5; मन्त्र –2
4. छान्दोग्य उपनिषद्; अध्या–4; खण्ड–6
5. वही खण्ड–7
6. वही खण्ड–8
7. मनुस्मृति 1/75–78

'ॐ'

[चौबीस]

माँ ने कहा– व्यक्ति जन्म लेता है, शैशव ओर कैशोर्य को पारकर युवा बनता है । फिर, उम्र के साथ वृद्ध (बढता) होता हुआ 'वृद्ध' (बुढा) होता है । हर पल के साथ व्यतीत होता हुआ समय जन्म लेने वाले को न सिर्फ आयु में, वरन् अनुभव में भी 'वृद्ध' करता जाता है । बढ़ता हुआ बालक जब युवा और समर्थ होता है, उसे देखकर उसके माता-पिता, गुरु, आचार्य आदि सभी आह्लादित होते हैं ।

माँ ने मेरी जिज्ञासा की शान्ति के लिये कहा– आर्ष-विचारकों ने 'मातापिता' को दो वर्गों में रखा है । एक, वे जो सन्तान को जन्म देते हैं, दूसरे, वे जो बालक या सन्तान को वेद सुनाते या वेद की जानकारी देते हैं।[1] निश्चित ही तब यह 'वेद-ज्ञान' ही विद्या-प्राप्ति का साधन रहा था । 'विद्यादाता' पिता जन्म-दाता 'पिता' से श्रेष्ठ कहा गया है ।

वे, जो बालक के गर्भाधान आदि संस्कार-कर्मों को करते हैं, उस बालक के 'गुरु'[2] कहे जाते हैं । वे जो, बालक का यज्ञोपवीत कर उसे यज्ञविद्या और उपनिषद्युक्त वेद पढ़ाते हैं 'आचार्य'[3] कहे जाते हैं ।

माँ ने कहा– उंपनयन संस्कार 'द्विजत्व'-प्राप्ति का साधन था । वर्ण-व्यवस्था में यह संस्कार महत्त्वपूर्ण माना गया है । इसमें वेदज्ञ आचार्य गायत्री मन्त्र द्वारा व्यक्ति का संस्कार करते हैं । माँ के गर्भ से जन्म लेने के बाद गायत्री-मन्त्र से संस्कृत (शुद्धि कृत) व्यक्ति का उस समय दूसरा जन्म हुआ माना जाता है । इसलिए ऐसे व्यक्ति 'द्विज', अर्थात् 'दो बार' जन्म लेने वाला कहा जाता है ।[4] हमारे यहाँ प्राचीन समय में गुरु, आचार्य आदि सन्दर्भित कर्म 'ब्राह्मण-वर्ण' के कर्त्तव्य-कर्म थे । तब 'वर्ण-व्यवस्था' 'जन्मगत' न होकर 'कर्मगत' थी । 'योग्यता' ही उसकी पात्रता की कसौटी थी । 'द्विजत्व' के अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के व्यक्ति हो सकते थे । निश्चिततः तब योग्यता ही 'द्विजत्व-प्राप्ति' का अधिकारी बनाता होगा, क्योंकि द्विज संस्कार' के बिना 'ब्राह्मण' भी 'शुद्र' ही माने जाते थे ।

माँ ने कहा– बात तब की है, जब ब्रह्मज्ञ 'सत्यकाम', आचार्य हो

चुके थे, और उनका अपना आश्रम था। अन्य शिष्यों के साथ 'उपकोशल'[5] नामक एक शिष्य भी उनके आश्रम में ब्रह्मचर्यवास कर रहा था। सत्यकाम ने अन्य शिष्यों का समावर्तन संस्कार तो कर दिया, किन्तु 'उपकोशल' का नहीं किया। 'ब्रह्मचर्यवास' उन दिनों प्रायः बारह वर्षों का हुआ करता था। अगर आचार्य सन्तुष्ट नहीं हुए तो शिष्य को आचार्य के निदेशानुसार आगे भी ब्रह्मचर्यवास करना पड़ता था।

माँ कहा– 'उपकोशल' इसके लिए तैयार नहीं था। उसे विश्वास था कि उसका भी समावर्तन संस्कार हो जायेगा। सत्यकाम की पत्नी ने भी उसके समावर्तन की बात कही, किन्तु वे नहीं माने। उन्हें बाहर जाना था, वे चले गये। फलतः उपकोशल को अत्यधिक दुःख हुआ। वह प्रायः अनशन पर बैठ गया। उसने भोजन नहीं किया। गुरु-पत्नी ने कहा भी–तू भोजन क्यों नहीं करता ?

उपकोशल ने अपनी स्थिति स्पष्ट की– 'मनुष्य' की अनन्त इच्छाओं में कुछ ऐसी भी इच्छाएँ होती हैं, जो पूरी नहीं होने पर मन को उद्विग्न कर देती हैं।' स्पष्ट था कि उपकोशल अपने दुःख से काफी दुःखी था और उपवास ही उसकी उद्विग्नता के शमन का एक मात्र रास्ता था।

माँ ने कहा– अब अग्नि-तत्त्वों की बारी थी। अग्नि-तत्त्वों ने एकत्र होकर परस्पर विचार करते हुए निर्णय लिया– "यह ब्रह्मचारी तपस्या कर चुका है; इसने हमारी अच्छी तरह सेवा की है। हमें इसे उपेदशित करना ही चाहिए।"

माँ ने कहा– निश्चय हो जाने पर उन्होंने (अग्नि-तत्त्वों ने) उपकोशल को उपदेश दिया– "प्राण ब्रह्म है; 'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है।"

उपकोशल द्वारा 'क' और 'ख' के सन्दर्भ में जिज्ञासा करने पर अग्नि-तत्त्वों ने कहा– जो 'क' है वही 'ख' है और जो 'ख' है वह 'क' है।

माँ ने समझाते हुए कहा– संस्कृत 'क' शब्द की व्युत्पत्ति धातु-शब्द 'कच्' से हुई कही गई है। 'कच्' धातु-शब्द 'दीप्ति' का अर्थ देता है। इस रूप में 'क' का अर्थ है– ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य अग्नि, वायु, प्रकाश, यम, आत्मा, मन, जल, धन-सम्पत्ति, समय आदि।[6] वस्तुतः ये सभी शक्ति-रूप हैं, प्रकाशन इनका कर्म है।

फिर 'कं'[7] शब्द को अगर लें तो वह धातु शब्द 'कम्' से निष्पन्न कहा गया है। 'कम्' धातु-शब्द का अर्थ 'चाहना' कहा जाता है। इस रूप में 'कं' शब्द का अर्थ होता है- जल, सुख, अग्नि, स्वर्ण, कामदेव आदि। ये 'एषणा', 'संकल्प' आदि के द्योतक हैं।

इसी तरह 'ख'[8] अक्षर-शब्द 'खन्' धातु-शब्द से निष्पन्न कहा गया है। 'खन्' धातु शब्द का अर्थ है- 'खोदना'। इस रूप में 'ख' का अर्थ है- गड्ढ़ा, शून्य स्थान, आकाश, ज्ञानेन्द्रिय, सुख, श्वास नलिका, सूर्य, शब्द, कर्म, गाड़ी के पहिये की नाभि का छेद जिसमें धुरा रहता है।

'खम्' शब्द का अर्थ है- आकाश, स्वर्ग, ज्ञानेन्द्रिय, शून्य, अनुसार, द्वारक, आनन्द, कर्म, ज्ञान, ब्रह्म।

माँ ने समझाते हुए कहा- इस तरह अग्नियों अथवा अग्नि-तत्त्वों ने उपकोशल को समझाया कि 'क' या 'कं' अथवा 'ख' या 'खम्' ब्रह्म का निरूपक होने से 'ब्रह्म' ही हैं। प्राण, क, कं, ख, खं आदि सभी 'ब्रह्म' के निरूपक होने से सभी ब्रह्म-रूप या ब्रह्म ही हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो कहा जा सकता है कि 'क' या 'कं' अथवा 'ख' या 'खं' ये क्रमशः 'प्राण' और 'आकाश' के निरूपक होने से 'ब्रह्म' के निरूपक हैं। 'प्राण' और 'आकाश' को 'ब्रह्म' का निरूपक कहा गया है।

माँ ने आगे समझाते हुए कहा- अब, अगर 'क' से 'सुख' का अर्थ लें तो वह क्षणभंगुर सिद्ध होता है, और 'ख' से 'आकाश' का अर्थ लें तो वह अचेतन है। ऐसी स्थिति में वे ब्रह्म नहीं हो सकते, क्योंकि 'ब्रह्म' तो 'अविनाशी' और 'चेतन' है। आर्ष-विचारक इस समस्या का निराकरण उन दोनों, अर्थात् 'सुख और आकाश' को मिलाकर 'सुख-रूप आकाश' और 'आकाश-रूप सुख' की अवधारणा में देते हैं। इस तरह, जहाँ 'सुख' की 'क्षणभंगुरता' और 'आकाश' की अचेतना समाप्त हो जाती है, वहाँ वे भौतिकता से भी निवृत्त हो जाते हैं। 'आकाश-रूप सुख' इन्द्रियों का विषय नहीं रह जाता और 'सुख-रूप आकाश' भौतिक अचेतन नहीं रह जाता। वे 'ब्रह्म', अर्थात् अनन्तता अविनाशत्व निर्गुणत्व, सर्वव्यापकता एवं परमात्मिक भोग के विषय हो जाते हैं। 'प्राण' के साथ जुड़कर 'सुख' और 'आकाश' भी 'प्राणमय' हो जाते हैं। आर्ष-विचारकों के अनुसार तब 'आकाश', 'प्राण'

से जुड़कर 'हृदयाकाश' का और 'सुख' 'प्राण' से जुड़कर 'आनन्दमयता' का रूप ले लेता है ।

माँ ने कहा– स्पष्ट हे कि भौतिकता की व्याख्या 'आध्यात्मिकता' से ही सम्भव है । 'स्थूल' भौतिकता अपनी व्याख्या आप नहीं कर सकती । उसकी व्याख्या उसका अपना 'सूक्ष्म', नित्य, अविनाशी 'व्यक्तित्व' ही दे सकता है । वह नित्य और अविनाशी है, क्योंकि वह 'ब्रह्म'-रूप है । वस्तुतः 'व्यक्तित्व' व्यक्ति की व्याख्या है ।

माँ ने कहा– हमें यह कदापि नहीं भूलना चाहिये कि 'आध्यात्मिकता' और 'भौतिकता' दोनों ही एक दूसरे के आश्रय हैं । एक दूसरे के बिना उनका अपना अस्तित्व ही निरर्थक हो जाता है । वस्तुतः दोनों अन्योन्याश्रयी हैं ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों के अनुसार ब्रह्म और जीव 'चेतन' हैं, मात्र शरीर अचेतन है । शरीरस्थ 'जीव' शरीर को चेतन बनाता है, और भौतिकीय शरीर को जीवंत रूप देता है । 'चेतन-ब्रह्म', जो परमानन्दघन है, जीवरूप में शरीर में अवस्थित होने के कारण जीवन को आनन्दमय रखते हुए ब्रह्ममय बना देता है । इस तरह 'ब्रह्म' वस्तुतः आनन्दमय सत्ता है, जो सृष्टि में सर्वत्र है ।

माँ ने कहानी की ओर मुड़ते हुए कहा– 'अग्नि' अपने समेकित रूप में 'गार्हपत्य', 'अन्वाहार्यपचन', 'आहवनीय' एवं अन्य रूपों को भी अपने में निहित रखता है, क्योंकि वह 'व्यापकतम' का निरूपक है । वैयक्तिक रूप में शरीरवान् होकर वह भौतिकता का परिचय देता है । उसकी व्याख्या तब और भी स्पष्ट होती है जब 'गार्हपत्य', 'अन्वाहार्य पचन' और 'आहवनीय' आदि वैयक्तिक अग्नियाँ अलग-अलग अपना परिचय देती हैं।

माँ ने कहा– 'गार्हपत्य' अग्नि का शरीर पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य से निर्मित है । इनमें प्रमुख 'आदित्य' सबका केन्द्रस्थ है । 'गार्हपत्य' 'आदित्य' में पुरुष-रूप निवास करता है । 'अन्वाहार्य-पचन' का शरीर जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा है । 'अन्वाहार्य पचन' चन्द्रमा में पुरुष-रूप निवास करता है । 'आहवनीय' का शरीर प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत है । पुरुष रूप आहवनीय 'विद्युत' में वास करता है ।

माँ ने कहा– अग्नियों ने अपना परिचय देकर उपकोशल की सेवा का

फल उसे दे दिया। साथ ही उन्होंने आचार्य के महत्त्व को भी कम न करते हुए कहा– 'आचार्य तेरा मार्ग दर्शन करेंगे।' आचार्य ही आचारपद्धति से अवगत करा सकते हैं।

माँ ने कहा– आपने देखा कि तीनों 'अग्नियों' ने अपने-अपने आश्रय का परिचय दिया है और यह सब उनकी व्यापकता की ही व्याख्या है। हमारे ऋषि हर पल 'सर्वव्यापकता' और 'सर्वसमन्विति' की ही व्याख्या करते हुए उसके लाभ को दिखलाने का प्रयास करते दीखते हैं। सत्यकाम 'ब्रह्मज्ञानी' या 'विज्ञानी' हैं। वे व्यक्ति को 'सार्व' या 'समष्टि', अर्थात् सर्वसमन्विति की भलाई के लिये समर्पित होने का उपदेश देते हैं। ब्रह्मज्ञान वस्तुतः संगठन की सूक्ष्मतम व्यवस्था का ज्ञान है और ब्रह्मज्ञानी 'संगठन' या 'राष्ट्र निर्माण' का ज्ञाता।

माँ ने कहा– सत्यकाम अपने शिष्य उपकोशल से आचार्य-रूप में जो कहते हैं उसका अभिप्राय है– व्यक्ति इन्द्रियचक्षु से सर्वत्र देखता है, और जो कुछ देखता है वह उसकी वैयक्तिक सीमा का प्रदर्शन है। वह मात्र 'स्व' का दर्शन है। किन्तु, वही व्यक्ति जब वैयक्तिकता-आबद्ध सीमा से बाहर निकलकर सार्व के रूप में देखता है तो उसकी वही दृष्टि सार्व की दृष्टि बन जाती है और वह स्वयं सर्व-द्रष्टा बन जाता है। उस सर्व-द्रष्टा चक्षु के भीतर सभी वैयक्तिकता तिरोहित हो जाती हैं, और मात्र एक 'सर्वद्रष्टा' रह जाता है। यह 'सर्व-द्रष्टा' व्यक्तित्व ही 'आत्मा' है। और यह 'आत्म-दृष्टि' द्रष्टा रूप में जिसे देखती है वह है वृहत्तर और वृहत्तम समन्विति, जो उसके समक्ष अपने को सर्वकल्याणमय रूप में उद्भासित करती है। अपनी सर्वकल्याणकारिता से ही वह अमृत है। सबों को निर्भयता देने के कारण वह 'अभय' भी है, और अपनी वृहत्तमता तथा सर्वव्यापकता के कारण 'ब्रह्म' भी।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारक, आचार्य ब्रह्म-वेत्ता 'सत्यकाम' उस वृहत्तम 'ब्रह्म' को 'संयद्वाम', 'वामनी' और 'भामनी' के रूप में देखते हैं तथा उसके ज्ञाता की गति का सुनिश्चित मार्ग बतलाते हुए उपकोशल से स्पष्ट करते हैं– यह मार्ग निश्चिततः प्रकाशमय मार्ग (अर्चि) है। अर्चि, दिवस, शुक्ल, उत्तरायण, संवत्सर, आदित्य, चन्द्रमा, और विद्युत सभी प्रकाशतत्त्व के ही रूप है। प्रकाशतत्त्व का अधिष्ठातृ देवता 'अग्नि' है। 'अग्नि' को समर्पित सभी पदार्थ

अपने सूक्ष्मतम रूप, अर्थात् 'वृहत्तम' या 'ब्रह्म' रूप में परिणत हो जाता है।

माँ ने कहा– वस्तुतः 'सृष्टि-रूप समन्वित-समष्टि' में सभी व्यक्त-अव्यक्त 'समन्वित-समष्टि' ही हैं। ये सभी 'समष्टियाँ' अपनी उत्पत्ति, स्थिति और परिणति में भी अपना 'समष्टि-रूप' नहीं छोड़तीं, 'समष्टि' से ही जुड़ी रहती हैं।

माँ ने कहा– आर्ष-भाषा की गरिमा भी इसी समन्विति में है। वह अपनी काव्यात्मक प्रतीकात्मकता के सहारे शुष्क विषय को भी रोचक और प्रभावकारी रूप में व्यक्त करने में समर्थ है। आध्यात्मिकता के विकास का सारा श्रेय आर्ष-भाषा को जाता है। आध्यात्मिकता की विशुद्ध अभिव्यक्ति भाषा की विशुद्धता में ही सम्भव है। भारतीय आध्यात्मिकज्ञान विश्व में सर्वश्रेष्ठ है, तो बस अपनी विशिष्ट विशुद्ध, संस्कृत भाषा में अपनी अभिव्यक्ति के कारण। 'आध्यात्मिकता' वस्तुतः भौतिकता की ऐसी विशुद्ध ज्ञानात्मक व्याख्या है जिसमें कर्म की महत्ता कहीं गौण नहीं होती। वह 'यज्ञ' स्वरूप है। वह यज्ञ-रूप में चलता है और उसका मार्ग 'मन' और 'वाक्', अर्थात् 'ज्ञान' और 'कर्म' दोनों है। 'मन' और 'वाक्' की समन्विति में ही उत्कृष्ट सफलता निहित होती है।

माँ ने अपने कथन की समाप्ति पर मेरी ओर देखा। उनकी आँखों में स्नेह का सागर उमड़ रहा था। मैं सोचने लगा– सत्यकाम का वह 'सर्वद्रष्टा' ही मेरी माँ की दृष्टि में बसा मुझ व्यक्ति में 'सर्व-व्यक्तित्व' को देखता हुआ अपना स्नेह बाँट रहा है।

●

सन्दर्भ

1. मनुस्मृति; 2/146; पृष्ठ - 34।
2. वही, श्लोक 2/142।
3. वही, 2/140।
4. वही
5. छान्दोग्य उपनिषद्; अध्याय-4; खण्ड-10; मन्त्र-1; पृष्ठ - 400
6. मानक हिन्दी कोश, प्रथम खण्ड, शब्द 'क'; (पुल्लिंग) पृष्ठ - 418
7. 'कं' छान्दोग्य उपनिषद्; अध्याय-4; खण्ड-10, पृष्ठ- 403।
8. शब्द 'ख' मानक हिन्दी कोश, दूसरा खण्ड, पृष्ठ-1।

'ॐ'

[पच्चीस]

माँ ने कहा– जैसा कि आप जानते हैं, यह ब्रह्माण्डीय संरचना मूलतः शक्ति (energy) मात्र की अनेकरूपता है। 'एक से अनेक' और 'अनेक की एकात्मक समन्विति', इसका शाश्वत विधान है। तथाकथित 'स्रष्टा' अथवा 'नियन्ता-तत्त्व' के पाँच कृत्यों– 'सृष्टि', 'स्थिति', 'ध्वंस', 'विधान' और अनुग्रह– से नियन्त्रित यह ब्रह्माण्ड वस्तुतः नामरूपतया अनेक होते हुए भी मूलतः एक, और मात्र-एक है। आर्ष-विचारकों ने इसी सार्वलौकिक परतम-सत्य का दर्शन या साक्षात् अपने अन्तर्मन में किया है। अपने इस साक्षात् को उन्होंने अपने वाङ्मय में भी जीवन्ततः प्रदर्शित किया है। इतना ही नहीं, मानवीय संवदेनाओं और भावनाओं के साथ उसे प्रत्यक्ष बनाया भी है।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों की 'जीवन-दर्शन'-सन्दर्भित व्याख्या सूत्रात्मक, मगर काव्यात्मक है। काव्यात्मक भाषा ने उनकी व्याख्या को न केवल कहीं से भी नीरस नहीं होने दिया है, वरन् उसे श्रवणभर से ही सहज-स्मरणीय बना दिया है। विचारण की विशुद्धता ने जहाँ उनके दार्शनिक विचारों को सार्वकालिक और सार्वभौमिक बनाया है, वहाँ वे स्वयं अपने कार्यकारी-रूप में सर्वकल्याणकारी भी हैं। आर्ष-विचारकों के लिये सर्वकल्याणकारिता, निष्पक्षता और जीवन्तता ही ज्ञेय और अनुकरणीय है। ज्ञान और आचरण की विशुद्धता से ही निष्पक्षता जन्म लेती है। निष्पक्षता और 'कल्याणकारिता' का विचार उनके दृष्टिकोण को लौकिक नियन्त्रक-शक्ति से ऊपर, और ऊपर, अर्थात् व्यापक तथा व्यापकतम की ओर ले जाता है। विचारों का यह ऊर्ध्वगमन उन्हें 'यज्ञ' की अवधारणा देता है। विचारों की उष्मा और यज्ञीय उष्मा दोनों ही ऊर्ध्वगामिनी हैं, दोनों ही अपने में निहित तथा सन्निद्ध को सूक्ष्मता प्रदान कर, उन्हें व्यापक बनाती हुई व्यापकतम की ओर ले जाती हैं; दोनों का ही लक्ष्य 'परतम' की प्राप्ति है। माँ ने कहा– यही कारण है कि आर्षविचारकों ने अपनी निष्पक्षता की अवधारणा को 'परतमता' की अवधारणा में मिलाकर उसे 'निरपेक्ष' बना दिया है। साथ ही, अपने उस 'निरपेक्ष' की अवधारणा को ज्ञान और अनुकरणीयता, अर्थात् 'ज्ञान' और 'कर्म' की समन्विति से अलग भी नहीं होने दिया है।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों का वह 'निरपेक्ष' एषणायुक्त है । 'एषणा' एक से बहुत होने की है । इस 'एक से बहुत होने की एषणा' में 'सम्बद्धता और एकता' का भाव स्वतः निहित है । एक से निर्मित या निःसृत अनेक में जैविक और वैचारिक सम्बद्धता स्वतः सिद्ध है । 'सम्बद्धता' और 'एकता' का भाव सर्वकल्याण की भावना को जन्म देता है । समता, स्वतंत्रता और सौहार्द्रता इसका आधार होता है ।

माँ ने कहा– आर्ष विचारकों की 'निरपेक्ष सत्ता' को 'परब्रह्म' या 'व्यापक' ब्रह्म कहा गया है । 'व्यापकता' सामान्यता (universality) का पर्याय है । 'सामान्य' सूक्ष्म होता है । यही कारण है कि आर्षविचारकों ने सृष्टि-विकास की अवधारणा में 'अतिसूक्ष्म कारण-जगत' को शीर्षतम स्थान देते हुए उसे सूक्ष्म जगत के पूर्व या ऊपर रखा है और स्थूल-जगत को कारण-जगत के बाद । कारण-जगत का 'कारण' अति सूक्ष्म 'कारण-जगत' है । आज भौतिक विज्ञानी अपने अध्ययन में 'शक्ति' के तीन क्रियात्मक स्तर स्पष्ट देख रहे हैं । ये तीन स्तर हैं– पार्थिव स्तर, पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र और शक्ति का ब्रह्माण्डीय स्तर । न्यूटन के नियम आज भी पहले स्तर पर सही है । पार्थिव गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र से निकलकर 'शक्ति' आइन्साटाईन के 'सापेक्षता के सिद्धान्त' को अहमियत देने लगता है। और फिर, ब्रह्माण्डीय (cosmos) स्तर पर जाकर 'सापेक्षता' भी 'क्वाण्टम' (Quantum), अर्थात् प्रमात्रा को महत्त्वपूर्ण बनाकर अपने को अलग कर लेने पर आमदा दीखता है । इससे आगे भी अगर भौतिकी आज अन्य व्यापक नियमों को देखे तो कोई आश्चर्य नहीं । आज या वर्तमान के ज्ञात-ज्ञान को भी अन्तिम मान लेना गलत होगा ।

माँ ने कहा– सगुणता और निर्गुणता की समन्विति अथवा एकीकरण ही 'सृष्टि' की रचना का कारण है । मानवी विकास ने सृष्टि को समझने का आधार दिया है, क्योंकि 'मानव' वस्तुतः 'मननशीलता' का पर्याय है, 'व्यक्ति' का नहीं । 'शरीर' और 'चेतना' मिलकर चेतन शरीर को जन्म देता है । 'चेतना' क्रियात्मक शक्ति है । वह जैविकी का विषय है । 'चेतना' वस्तुतः शक्ति के अन्य क्रियात्मक भौतिक रूपों की तरह 'निर्गुण' शक्ति का ही एक भौतिक रूप है । निर्गुण शक्ति का अध्ययन अपेक्षित है, क्योंकि इसी 'शक्ति' विशेष का अध्ययन हमें एक सर्वव्यापक नियम का ज्ञान दे सकने में समर्थ

हो सकता है । निश्चय ही इस दिशा की ओर लक्ष्य तक पहुँचना आसान नहीं, क्योंकि विशुद्ध 'शक्ति' अपेक्षित प्रायोगिक जाँच-प्रक्रिया के लिये उपलब्ध नहीं हो पाती । सम्भव है आनेवाले समय में भौतिक या ब्रह्माण्डीय विज्ञानवेत्ता इस ओर ध्यान दे सकें और भौतिकी को उसके लक्ष्य तक पहुँचा सकें । सैद्धान्तिक विज्ञानी आज भी उस एकमात्र सामान्य नियम की खोज के प्रति आशान्वित हैं, जो सम्पूर्ण सृष्टि की व्याख्या एक साथ कर सके । सैद्धान्तिक विज्ञानी इस अर्थ में स्पष्ट हैं कि अगर सम्पूर्ण सृष्टि शक्ति-रूप है तो शक्ति-रूपों की एकता भी निर्द्वन्द्व ही है । आर्षविचारक इस अर्थ में सुनिश्चित हैं । आज अपेक्षा है मात्र धैर्यपूर्वक प्रायोगिक अनुसन्धान करने की ।

माँ ने कहा– आज हम कोई भी निर्णय किसी जल्दीबाजी में नहीं कर सकते । सृष्टि-विकास के साथ ही अगर मानवीय विकास हुआ होता तो निश्चिततः हमारे सामने सृष्टि का एक भी रहस्य रहस्य नहीं रहता । आर्ष-विचारकों का 'प्रत्यगात्मा'[1] अर्थात् 'व्यापक ब्रह्म' या 'पर ब्रह्म', या निर्गुण ब्रह्म भी तब अज्ञात नहीं होता ।

माँ ने कहा– 'शक्ति-रूप' सृष्टि, चाहे वह 'द्रव्य' (matters) हो अथवा शक्ति (energy), एक समष्टि, और वह भी क्रियाशील समष्टि है। आर्ष-विचारकों ने इस क्रियाशील सम्पूर्ण सृष्टि को एक 'पुर' या शरीर के रूप में लिया है, और उसकी क्रियाशीलता या गत्यात्मकता के 'कारण-रूप शक्ति' को जीव, आत्मा, परमात्मा आदि कहा है । इस क्रियाशील शरीर को आर्ष-विचारकों ने 'पुरुष' कहा है । यह 'पुरुष' मानवरूप, अर्थात 'मननशील' है । मननशीलता अपने आप में चेतना का गुण है । 'चेतना' वस्तुतः 'ज्ञान' और प्रज्ञा का पर्याय, और 'चेतन' का गुण है । 'चेतन' क्रियात्मकता का पर्याय हैं । 'जीवत्व' सजीव की क्रियात्मकता है । आर्ष विचारक 'जीव' को आत्मा, प्राण आदि के रूप में देखते हैं । 'आत्मा' के रूप में 'जीव' वस्तु को 'सजीव' बनाता है । यही कारण है कि वे 'जीवन' में 'जीवात्मा' की उपस्थिति को जीवन का कारण मानते हैं ।

'जीव' शब्द का एक पर्याय 'प्राण' भी है । इसे ज्ञानेन्द्रिय भी कहा गया है । वस्तुतः यह शरीर की मूल क्रियात्मक शक्ति है जिससे अनुप्राणित होकर ही अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ क्रियाशील होती हैं ।

माँ ने कहा– 'प्राण'[2] शब्द 'अन्' धातु-शब्द में 'प्र' उपसर्ग लगने से निष्पन्न हुआ है। 'अन्' धातु-शब्द का अर्थ होता है– साँस लेना, गत्यात्मक होना, जीना। 'प्र' उपसर्ग लगने से बने शब्द 'प्राण' का अर्थ होता है– 'जीवित रहना'।

माँ ने कहा– 'प्राण' का 'अन्न' वह सब कुछ है, जो सभी प्राणियों का भक्ष्य है।[3] सभी प्राणियों का भक्ष्य 'अन्न' ही 'प्राण' का भी भक्ष्य 'अन्न' है। 'अन्' का अर्थ ही 'जीना' होता है। वह गत्यात्मक, या क्रियात्मक शक्ति का निरूपक है।

माँ ने समझाया– 'अन्न' शब्द की निःसृति भी 'अन्' अथवा 'अद्' धातु-शब्द से हुई कही गई है। 'अद्' धातु-शब्द का अर्थ 'खाना', 'निगलना' आदि होता है। 'अन्न' शब्द, इस तरह 'भक्ष्य' का अर्थ देता है। जैसा कि आप जानते हैं, जैविक-शरीर का पोषण शरीर में इसी 'अन्न' के भक्षण-पचन-उत्सर्जन से सम्भव होता है।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारणा में एक ओर 'प्राण' शरीर की जीवन्तता के लिये अनिवार्य है, तो दूसरी ओर शरीर में 'प्राण' के अस्तित्व के लिये अन्न-आहार अनिवार्य है। इस तरह सम्पूर्ण सृष्टि ही जीवमय और अन्नमय है। फिर 'अन्न' स्वयं भी जीवमय है। इस तरह अन्नाहार में जीव ही जीव का भोजन बनता स्पष्ट होता है।

आर्ष-विचारकों ने 'प्राण' को 'जीवात्मा' रूप में 'परमात्मा' का स्वरूप माना है। फलतः 'प्राण' को ही वे भोक्ता, अर्थात् भोगने या खानेवाला मानते हैं। 'अन्' को उन्होंने प्रत्यक्ष प्राण कहा है।[4]

माँ ने कहा– शरीर में 'प्राण', अर्थात् 'अन्', गत्यात्मक शक्ति को निरूपित करता है। यह गति शरीर में चारों दिशाओं, अर्थात् सभी ओर, और हर जगह व्याप्त होती है। शरीर की आभ्यन्तरिक गत्यात्मकता हो, अथवा वाह्य– वह 'प्राण' द्वारा ही संचालित और सन्धारित होती है। यह 'मुख्य प्राण', अथवा 'अन्' ही है, जो विभिन्न दिशाओं में शक्ति को गतिशील और व्याप्त रखती है।

माँ ने कहा– 'गतिशीलता', वस्तुतः, 'प्रवहमानता' और 'निरन्तरता' की द्योतक है और 'उष्मा' को अपने में समेटे हुए है। इसे 'अन्न' की

अपेक्षा के साथ-साथ आश्रय-स्थल की भी अपेक्षा होती है। इस तरह, वह अपने परतम 'स्वयम्भू' रूप में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि शक्तियों का 'कारण-रूप' बीज या भ्रूण है। इसी से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विकसित हुआ है। निश्चय ही 'शक्ति' शक्ति को ही जन्म देता है। "लाइक बिगेट्स लाइक" (like begets like) की कहावत हर जगह चरितार्थ होती है।

'आकाश-तत्व' आश्रय-शक्ति है। वायु-अग्नि-जल का त्रिक तत्त्वतः 'संचालक' या क्रियात्मक-शक्ति, और 'पृथ्वी' तत्त्वतः अन्न, अर्थात् अनुप्राणन-शक्ति है। पञ्चमहाभूतों की 'कारण-कार्य'-रूप 'मूल-शक्ति' अपने पूर्णत्व में, 'एषणा', अर्थात् चेतना' से संयोजित दीखती है। 'एषणा' एकाकी नहीं, अनेकरूपी है। वह 'अन्वेषणा'[5] भी है और 'गवेषणा' भी; वह 'अध्येषणा'[6] भी है और 'पर्येषणा'[7] भी।

माँ ने कहा– 'प्राण' भी शरीर में अपनी गत्यात्मकता से, पाँच रूप में अभिव्यक्त होता है। उसकी ये गतियाँ 'अन्' धातु-शब्द में 'प्र', 'अप', 'उत्' + आ', 'वि +आ', तथा 'सम्' उपसर्गों के जुड़ने से बने शब्दों द्वारा उद्भासित होती हैं। ये 'प्राण' हैं– 'प्राण', 'अपान', 'उदान', 'व्यान' और 'समान'। 'अन' मुख्य प्राण, अर्थात् समन्वित पञ्च-प्राण, का निरूपक है। दूसरे शब्दों में, 'अन' शब्द से 'प्राण' का प्रत्यक्ष बोध होता है।

माँ ने समझाया– 'प्र' उपसर्ग अपने धात्वर्थ (प्रथ्) में 'विस्तार', 'प्राकट्य' और 'फेंकना' आदि का बोधक है। 'अप्', उपसर्ग अपने (आप्) धात्वर्थ में प्राप्ति, व्याप्ति, अधोन्मुखता का; 'उत + आ' उपसर्ग अपने (उद्) धात्वर्थ में 'ऊपर', अतिशयता और प्रकाशन का अर्थ देता है। 'वि' और 'सम्' उपसर्ग क्रमशः 'विभाजन' या 'वैशिष्ट्य' तथा 'पूर्णता' के बोधक हैं। प्राण रूपी 'प्राण-शक्ति' द्वारा वायु शरीर के भीतर खींची जाती है और पुनः साँस के माध्यम से बाहर निकाली जाती है। 'अपान'-रूपी प्राण में वायु प्राण-शक्ति द्वारा नीचे की ओर ले जायी जाती है। अपानवायु गुदा के ऊपरी भाग में स्थित रहकर मल-मूत्र को शरीर से बाहर निकालने की प्रक्रिया में सहयोग देती है। यह वायु स्वयं गुदा-मार्ग (anus) से होकर शरीर से बाहर निकलती है। 'उदान-रूपी' प्राण में 'प्राण-शक्ति' वायु को कण्ठ (gullet) से ऊपर मस्तिष्क की ओर ले जाती है। इसका स्थान शरीर

में कण्ठ से भ्रूमध्य तक माना जाता है । छींक, डकार आदि इसी शक्ति से उद्भूत माने जाते हैं । 'व्यान' रूपी प्राण में प्राण-शक्ति वायु को शरीर में सर्वत्र व्याप्त कर देती है । 'पसीना' निकलना खून का चलना तथा अन्य शारीरिक क्रियाएँ इसी 'व्यान' रूपी प्राण से संभव कहीं गईं है । 'समान' रूपी प्राण में प्राण-शक्ति वायु को साम्यावस्था में रखती हैं । यह नाम शरीर में नाभि के पास रहनेवाली वायु को दिया गया है ।[8]

माँ ने कहा- आयुर्वेद के अनुसार शरीर के आरोग्य में 'वायु' की साम्य स्थिति को महत्त्वपूर्ण माना गया है । शारीरिक रोगों में आयुर्वेद 'कफ, पित्त और वायु' को निरोगता के लिए साम्यावस्था में रखने का प्रयास करता है । जब कभी भारी वजन उठाने अथवा अन्य कारणों से पेट में नाभि के पास तेज दर्द उभड़ता है तो हम कहते हैं- 'वायु उखड़ गया है' । जब तक यह वायु साम्यावस्था में लायी नहीं जाती तब तक दर्द छूटता नहीं ।

माँ ने कहा- आर्ष-विचारकों का 'पुरुष' जिस 'पुर' या पुरि में निवास करता है, वह शरीर-रूपी 'पुरी' अपनी क्रियाशीलता के लिये विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से सुसज्जित है । 'प्राण' को 'ज्ञानेन्द्रिय' और इन्द्रियों में प्रमुख माना गया है, क्योंकि वही ज्ञाता है और कर्म-नियन्त्रक भी।

माँ ने कहा- ब्रह्माण्ड या विश्व रूपी शरीर में रहनेवाला 'पुरुष', 'वैश्वानर', वस्तुतः 'विश्वात्मा' या 'परमात्मा' अथवा विश्व का ही 'प्राण-पुरुष' है। विश्व का यह 'प्राण-पुरुष' प्राण की सन्तुष्टि से ही सन्तुष्ट होता कहा गया है ।

माँ ने याद दिलाते हुए कहा- उपनिषद् में 'वैश्वानर' का वर्णन करते हुए कहा गया है- 'वैश्वानर-आत्मा' का मस्तक 'सुतेजा-रूप' द्युलोक है, 'चक्षु' विश्व-रूप सूर्य है, 'प्राण' पृथग्वर्त्मा-रूप वायु है, देह का मध्य भाग 'बहुल-रूप' आकाश है, 'बस्ति' 'रयि-रूप' जल है, 'चरण' पृथ्वी-रूप है, 'वक्ष-स्थल' वेदी है, 'लोम' दर्भ (कुश) है, 'हृदय' गार्हपत्याग्नि है, 'मन' अन्वाहार्यपचन अर्थात् दक्षिणाग्नि है, और 'मुख' आहवनीय अग्नि है ।[9]

माँ ने कहा- जिस तरह वैयक्तिक शरीर में स्थित 'प्राण' जब अन्न भक्षण करता है, तब वह भक्षण मात्र प्राण के लिए नहीं होकर, समूचे शरीर के लिये होता है । उसी तरह 'वैश्वानर-आत्मा' के द्वारा किया गया

अन्न-भक्षण सम्पूर्ण विश्व की तृप्ति के लिये होता है । वह विश्वात्मा या विश्वपुरुष, 'वैश्वानर', वस्तुतः अपने ज्ञाता विद्वान अग्निहोत्री के अग्निहोत्र, अर्थात् आहुति या भक्षण के माध्यम से भक्षण करता माना गया है । विद्वान् वैश्वानरवेत्ता जानता है कि वह सम्पूर्ण सृष्टि, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अस्तित्व का कारण 'वैश्वानर आत्मा' है । वह जब भोजन करता है तब मात्र अपने कल्याण के लिये नहीं करता । उसका भोजन सर्वकल्याणार्थ होता है ।

माँ ने कहा– मुख को 'आहवनीय अग्नि', अर्थात् आहुति दी जानेवाली अग्नि का निरूपक कहा गया है । वैश्वानरवेत्ता के मुख में पड़े भोजन का ग्रास जैसे आहवनीय अग्नि में पड़ी आहुति हो – ऐसा माना गया है ।

माँ ने कहा– अन्न का भक्षण प्राण के द्वारा प्राण के लिये होता है। इस तरह प्राणों के लिये प्राण द्वारा किया गया भोजन न केवल उस प्राण को बल्कि उस प्राण से सम्बद्ध इन्द्रिय देवों और लोकों को भी सन्तुष्ट और तृप्त करता है ।

माँ ने कहा– वैश्वानरवेत्ता अग्निहोत्र के समय पाँच आहुतियाँ–'प्राणाय स्वाहा', 'अपानाय स्वाहा', 'उदानाय स्वाहा', 'व्यानाय स्वाहा' और 'समानाय स्वाहा'- कहते हुए देता है । इन आहुतियों से पञ्चप्राण से सम्बद्ध विभिन्न इन्द्रियाँ, देवता और लोक तृप्त होते हैं ।

माँ ने समझाया– 'प्राण' की तृप्ति से 'प्राण'-सम्बद्ध इन्द्रिय 'नेत्र', देवता सूर्य, और लोक–'सूर्य लोक' तृप्त होता है । इसी तरह 'अपान' की तृप्ति से वाक्, अग्नि और पृथ्वी; 'उदान' की तृप्ति से त्वचा, वायु और आकाश; 'व्यान' की तृप्ति से श्रोत्र (श्रवणेन्द्रिय), चन्द्रमा और 'दिशाएँ' तथा 'समान' की तृप्ति से मन, पर्जन्य, विद्युत की तृप्ति होती है । इन सबों की तृप्ति से, इनकी अधिष्ठातृ शक्तियाँ तृप्त होती हैं । और, तब भोक्ता, प्रजा, पशु, अन्नाद्य, भी 'तेज' और 'ब्रह्म' तेज के द्वारा तृप्त होते हैं ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारणा में सर्वकल्याण का यह रूप निश्चय ही प्रशंसनीय है । 'अपरतम' से लेकर 'परतम' तक की तात्त्विक एकता, अर्थात् तात्त्विक सम्बद्धता, को मात्र एक कल्पना मान लेना उचित नहीं । वह तात्त्विक सम्बद्धता जहाँ सच है, वहाँ हर-एक 'आत्मा' की तृप्ति से

परम-आत्मा की तृप्ति भी यथार्थ है । जब तक एक-एक व्यक्ति तृप्त नहीं होता, सर्वात्मा की तृप्ति सम्भव नहीं ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों का कथन है– 'व्यक्ति का अधिकार केवल उतने ही धन पर है, जितने से उसकी भूख मिट जाय । इससे अधिक सम्पत्ति को जो अपनी मानता है, वह चोर है, और चोर तो दण्ड का भागी है ।[10] आर्ष-विचारकों ने अन्न की निन्दा तक करने से मना किया है ।[11] उन्होंने प्राण को भी अन्न कहा है । प्राण से अनुप्राणित शरीर 'अन्नाद', अर्थात् अन्न का भोक्ता है । शरीर और प्राण एक दूसरे पर आश्रित या आधारित अथवा एक दूसरे में सन्निहित हैं । इस तरह सिद्ध होता है 'अन्न' में ही 'अन्न' प्रतिष्ठित या समाहित है ।[12] वे 'अन्न' की अवहेलना करने तक से मना करते हैं । वह व्रत है । उनके अनुसार 'जल' ही अन्न है ।[13] 'तेज' अन्नाद है । 'जल' में तेज और तेज में जल प्रतिष्ठित है । वे 'अन्न' को बढ़ाने का निदेश देते हैं । उनके अनुसार 'पृथ्वी' अन्न और 'आकाश' अन्नाद है । आकाश और पृथ्वी दोनों ही एक दूसरे में प्रतिष्ठित है ।[14]

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों के अनुसार ब्रह्मानुभूति के लिए सर्वप्रथम स्थूल को जानना अनिवार्य है । 'स्थूल' सृष्टि 'अन्न' द्वारा निरूपित होती है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता हुआ साधक अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से विज्ञान, विज्ञान से आनन्द, आनन्द से चेतन, चेतन से जीवात्मा और जिवात्मा से अन्ततः अतिसूक्ष्म, अर्थात् सूक्ष्मतम 'परमात्मा' तक पहुँचता है ।[15]

माँ ने कहा– स्थूल को जाने बिना सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम का ज्ञान सम्भव नहीं । ज्ञान की कड़ी को एक-एक कर पकड़ते हुए ही साधक लक्ष्य तक पहुँचता या पहुँच सकता है ।[16]

माँ ने कहा– वस्तुतः स्थूलता भौतिक, अर्थात् इकाई, अर्थात अपरतमता (infima) को निरूपित करती है और सूक्ष्मतमता 'परतमता' (Summun) को । इकाई को जानकर ही व्यापक सार्व को जाना जा सकता है । जो 'सार्व' को जानता है, इकाई, अर्थात् व्यक्ति के लिए चिन्तित नहीं होता । 'सार्व' के कल्याण में व्यक्ति का व्यापक कल्याण सिद्ध हो जाता है । व्यापक कल्याण से ही विशिष्ट कल्याण को वह प्राप्त कर लेता है । विश्वात्मा वैश्वानर उसी परतम 'सार्व' का निरूपक है । वह अग्निहोत्र का विषय होने के कारण अग्निहोत्रियों का साध्य है ।

माँ ने कहा– आपने देखा कि 'वैश्वानर' का ज्ञान क्षत्रियों के पास था। यह क्षात्र-धर्म की विशिष्टता थी । क्षत्रियों का विशिष्ट धर्म था प्रजा रक्षण, प्रजापालन और प्रजारञ्जन । उनका सामान्य धर्म था– अध्ययन, यजन और दान । 'क्षत्रिय' शब्द के व्यवहार से पहले 'क्षत्रिय' शब्द के लिए 'राजन्य' शब्द का प्रयोग होता था । 'राजा सम्बन्धी' (राजन्य), अथवा राजकुल का (क्षत्रिय) होने के कारण, वे शासन से सम्बद्ध थे । शासन सम्बन्धी कार्यों में निपुणता के लिए उन्हें प्रायः सभी ज्ञात विषयों का ज्ञाता होना होता था । यही कारण है कि उनकी शिक्षा के विषयों में युद्ध कला, धनुर्वेद, शासन-व्यवस्था के अलावा साहित्य, दर्शन और धर्म-विज्ञान भी सम्मिलित थे । वे इन विषयों में निष्णात होते थे ।[17]

माँ ने कहा– राजा अश्वपति की तरह ही प्रवाहण, कैकेय, आजतशत्रु आदि भी अनेक क्षत्रिय-दार्शनिक हुए हैं । इन क्षत्रिय दार्शनिकों के द्वारा उपासना का नया मार्ग चलाया गया जिसका विकास बाद के समय में 'भक्तिमार्ग' के रूप में हुआ कहा जाता है ।

माँ ने कहा– समाज का विकास अनियमितता में नहीं होता । और, नियमितता के लिए समन्विति के प्रति व्यक्ति का व्यापक समर्पण और समर्थन अनिवार्य है ।

●

सन्दर्भ

1. प्रत्यगात्मा = व्यापक ब्रह्म । मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड) पृष्ठ- 616
2. 'प्राण' - संस्कृत-हिन्दी कोश, पृष्ठ- 687
3. 'प्राण का अन्न' - छान्दोग्य उपनिषद, अध्याय-5; खण्ड-2; पृष्ठ 458
4. छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय-5, खण्ड-2; मन्त्र-1; पृष्ठ 458; शब्द-'अन' ।
5. 'अन्वेषणा' और 'गवेषणा' धर्म के अन्वेषण करने के दो नाम है ।
6. 'अध्येषणा' गुरु आदि से किसी निमित्त प्रार्थनापूर्वक विनती करने का नाम है ।

7. पर्येषणा – श्रद्धापूर्वक सेवा सुश्रुषा से सम्बद्ध एषणा है ।

(5-7 अमरकोष; पृष्ठ- 165; द्वितीय काण्ड, ब्रह्मवर्ग-7; श्लोक-32)

8. 'प्राण' – मानक हिन्दी कोश तीसरा खण्ड पृष्ठ – 652

'अपान' – मानक हिन्दी कोश, खण्ड-पहला-पृष्ठ 135

'उदान' – वही, खण्ड-पहला, पृष्ठ- 345

'व्यान' – वही, खण्ड-पाँचवा, पृष्ठ- 130

'समान' – वही पृष्ठ- 286

9. छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय – 5, खण्ड- 18; मन्त्र-2; पृष्ठ – 562

10. "यावद् भ्रियते जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् ।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥" (श्रीमद्भागवत् 6/14/8)

11. तैत्तरीय उपनिषद्; भृगुवल्ली; सप्तम् अनुवाक् ।

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् । प्राणो वै अन्नम् ।

12. वही – अनुवाक सात । पृष्ठ 341 । "तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्" ।

13. वही; अनुवाक आठ । पृष्ठ – 343 । "आपो वा अन्नम्" ।

14. वही, अनुवाक नौ । पृष्ठ -344 । "पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः ।

आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता ।"

15. वही; अनुवाक 2 से 6 ।

16. ऋग्वेद – 1.170.3

किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्निति मन्यते ।

विद्या हि ते यथा मनोऽस्मभ्यभिन्न दित्सति ॥

अर्थात् क्यों, ऐ मेरे भाई अगस्त ! तू मेरा मित्र है तो भी अपने विचाकर को मुझसे परे रखता है ? खैर, मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि क्यों तू अपने मन को हमें नहीं देना चाहता । (वेद रहस्य)

17. 'क्षत्रिय' – हिन्दू धर्म कोश (डा० राजबली पाण्डेय', पृष्ठ- 215)

'ॐ'

[छब्बीस]

माँ ने कहा– असुर, सुर और मनुष्य प्रजापति के तीन पुत्र थे। इनमें असुर की माता का नाम था 'दिति' और देवों की माता का नाम 'अदिति'। 'दिति' शब्द 'विभाजन' बोधक है। असुर विभाजन, विभक्ति अथवा अलगाव, या वैयक्तिक कल्याण अथवा इन्द्रियजन्य सुखभोग या प्राण–मोह में विश्वास करते हैं। आपने देखा है किस तरह असुरराज 'विरोचन' मात्र 'देह' को ही 'परमात्मा' और उसी की भक्ति–सेवा–रक्षा को ज्ञातव्य और कर्त्तव्य समझकर गुरु–आश्रम से सन्तुष्ट लौटे गये थे। किन्तु, उसी परमात्मा को समझने के लिए देवराज इन्द्र को सौ वर्षों तक गुरु–पिता प्रजापति के आश्रम में ब्रह्मचर्यवास करना पड़ा था।

माँ ने कहा– ऐसा लगता है जैसे सम्पूर्ण आर्ष–विवेचना मुख्यतः 'असुर-सुर' के विज्ञापन पर हो आधारित है। वस्तुतः ये दोनों ही दो व्यापक संस्कृतियों के प्रतीक है। संस्कृतियाँ जब तक एक दूसरे को आत्मसात नहीं कर लेवीं, तब तक अपने–अपने कर्त्तव्य-कर्मों में लिप्त अपने–अपने कर्मों से एक-दूसरे को शरीरतः अथवा मनसः चोट पहुँचाती ही रहती हैं। वह तो आत्मसातत्व की स्थिति होती है जब संस्कृतियाँ परस्पर मिलकर एक होती हुई सर्वत्र शान्ति–सद्भाव का उद्भव, विकास और स्थायित्व देखती हैं। भारतीय इतिहास इसका साक्षी है। न जाने कितनी संस्कृतियाँ यहाँ आयीं और परस्पर मिलकर एक हो गईं। आनेवाली संस्कृतियों के राज्याभिमान ने उन्हें जब तक अलग–थलग रखा, वे अलग रहीं। राज्याभिमान के जाते ही वे एक हो गईं। आत्मसातत्व में बड़े–छोटे का भाव नहीं होता। सभी पक्ष समानता, स्वतन्त्रता और सौहार्द्रता के आधार पर आत्मसात होते रहते हैं। 'हमने अपना क्या छोड़ा, दूसरे ने हमें कितना दिया' का भाव आत्मसातत्व में नहीं होता। इसे ही समन्वय या समन्विति कहते हैं। जब तक 'मेरा–तेरा' का भाव रहता है आत्मसातत्व पूर्ण नहीं होता।

माँ ने कहा– आत्मसातत्व की पूर्णता का दिग्दर्शन हमें ईशावास्य उपनिषद के मन्त्रो में मिलता है, जहाँ पहला मन्त्र ही कहता है– "सृष्टि की सारी वस्तुएँ एक 'ऐश्वर्य', अर्थात् 'ईश्वरत्व' में ही आत्मसातित है। हम मात्र उसका त्यागपूर्वक सर्वकल्याणार्थ ही उपभोग कर सकते हैं। मात्र अपने

लिए उसका उपभोग नहीं कर सकते, क्योंकि हम नश्वर हैं । एकमात्र वह 'ऐश्वर्य' ही अनश्वर या अविनाशी है ।[1]

माँ ने कहा– व्यक्ति की भोग-लिप्सा अनन्त और असीम है । भोगलिप्सा की असीमता-अनन्तता हमें अमरत्व-प्राप्ति के लिये उकसाती है। अमरत्व प्राप्ति के प्रयास में ही हम वह सबकुछ जान जाते हैं, जो एक 'मर्त्य' के लिये ऐश्वर्य, अर्थात् ईश्वरता होती है । और, वह है 'एक सत्य'। 'सत्य' है सार्व का कल्याण' । 'सार्व का कल्याण' संग्रह में नहीं है, वह 'ईशावास्य' के पहले मन्त्र के 'त्यक्तेन भुञ्जिथा', अर्थात् 'त्याग-पूर्वक भोग' में निहित है ।

माँ ने कहा– 'त्यागपूर्वक भोग' की अवधारणा ही 'असुर' और 'सुर' के बीच समन्वय की कड़ी है । और, यह कड़ी, 'मनुष्य' है । वह किसी 'दिति' या 'अदिति' का पुत्र नहीं, स्वयं स्रष्टा प्रजापति ब्रह्मा का मानस-पुत्र है । वह शरीर-बल और दैव-बल में 'असुर' और 'सुर' से निर्बल होता हुआ भी 'मनःबल' से सबल है । प्रजापति ब्रह्मा के मनःबल का प्रतीक 'मनुष्य' ही 'सार्व' का अर्थ समझता या समझ सकता है । और उसे ऐसा समझना भी चाहिए, क्योंकि वह शरीरतः नश्वर होता हुआ भी मनतः, सत्य का ज्ञाता होने के कारण, अमर है ।

माँ ने कहा– हमारा सम्पूर्ण आर्ष वाङ्मय इसी सत्य को उजागरित और व्याख्यापित करता हुआ दृष्टिगोचर होता है । इसी व्याख्या के अन्तर्गत् अनेक पात्रों में तीन पात्र, जो प्रमुख कहे जा सकते हैं, वे हैं– असुर, सुर एवं मनुष्य । और, इन तीन में से भी प्रमुखतम अथवा मूर्धन्य है, 'मनुष्य'; क्योंकि शेष दोनों ही उसकी अपनी समझ के लिये निर्मित पात्र हैं ।

माँ ने कहा– 'मनुष्य' स्थूलतः इन्द्रियों का समन्वित रूप है । उन इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं । इन्द्रियाँ अपनी भूख की तृप्ति के लिये लालायित रहती हैं । किन्तु 'प्राण', जो सभी इन्द्रियों का समन्वयक है, मात्र किसी एक इन्द्रिय के लिये ही नहीं रुका रहता । इन्द्रिय-विशेष की भूख के मिटने भर से उसकी तृप्ति सम्भव नहीं । उसकी अपनी कोई बुभुक्षा नहीं होती । वह सभी इन्द्रियों की तृप्ति को निरपेक्ष भाव से देखता है । वह द्रष्टा है । किन्तु, ऐसा द्रष्टा जो इन्द्रियों की बुभुक्षा, बुभुक्षा-शान्ति और दोनों का कारण भी है । क्योंकि, वही 'अन्न' का भोक्ता है ।

माँ ने कहा– 'प्राण' को 'शरीर' और 'मन' का क्रियात्मक समन्वयक कहा जाता है । 'शरीर' और 'मन' से 'देह' तो बन जाता है, किन्तु बिना प्राण-शक्ति के वह क्रियाशील नहीं हो पाता ।

माँ ने समझाया– 'शरीर', 'मन' और 'प्राण' को आर्षविचारकों ने त्रिविध लोक के रूप में देखा है । वे 'शरीर' को 'पृथ्वीलोक' से, 'मन' को द्यौ-लोक से, और 'प्राण' को 'मध्यलोक' से तुलना करते हैं ।[2] उसी तरह, वे 'दिति' और 'अदिति' के पुत्रों अर्थात् 'असुर' (दस्यु या दानव) एवं 'देव' को दो अतियों के रूप में देखते हैं । जिस तरह दो 'अति-लोकों' का समन्वयक मध्यलोक होता है, उसी तरह 'असुर' और 'सुर' के बीच 'मानव' ही दोनों का मध्यस्थानीय समन्वयक है ।

माँ ने कहा– वस्तुतः 'असुर', 'सुर' और 'मानव' स्थूल-रूप, अर्थात् व्यक्ति नहीं, व्यक्ति के गुणवाचक प्रत्यय हैं । आपने देखा कि 'देव' भोग-प्रधान हैं और 'असुर' हिंसा-प्रधान; 'देव' ज्ञान प्रधान हैं, और असुर शरीरमोह-प्रधान । दोनों ही एकांशी हैं । 'भोग' का दमन ही हो सकता है, अगर उसकी नुकसानदेह अतिशयता से बचना हो । फिर, 'मोह' से जनित क्रोध-हिंसा से छुटकारे के लिये 'दया' की ही राह उपयोगी हो सकती है।

माँ ने समझाया– आप अगर देखें तो यह समझते देर नहीं लगेगी कि 'बुभुक्षा-शान्ति', अर्थात् एक भूख की सन्तुष्टि के बाद, फिर भूख लगने से पहले तक कोई भी जीव दूसरे पर आक्रमण नहीं करता । वुभुक्षा-तृप्ति और सुरक्षा-भावना की सुनिश्चिति से हिंसक जीव भी अपनी आक्रामकता भूल जाते हैं । यही स्थिति तब अनियन्त्रित हो जाती है जब व्यक्ति मोहग्रस्त रूप में रह रहा होता है । 'मोहजनित जीवन' असुरक्षा का घर होता है ।

माँ ने कहा– क्रियाशील मानव-व्यक्ति ही अपने आप में 'असुर' और 'सुर' है । आर्ष विचारक उसकी असुरता-सुरता को उससे अलग नहीं कर सकते, यह जानकर, उसके विचारों की अतिशयता को नियन्त्रित करने के उपाय खोजते और देखते हैं । उनकी दृष्टि में– क्रियात्मक विचारों की वैयक्तिक विभिन्नता लक्ष्य-प्राप्ति का साधन नहीं हो सकती । अतिशयता और, विभिन्नता से त्राण पाकर ही संयमित एकमतता की प्राप्ति हो सकती है। जीवन, वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों , सफल और उन्नत हो सकता है ।

माँ ने कहा– 'मानव' की अवधारणा उसके 'मननशील मन' से प्राप्त हुई है । 'मननशीलता' से विवेचन की क्षमता बढ़ती है और विवेकशील व्यक्ति अच्छाई-बुराई, सही-गलत में फर्क (अन्तर) कर सकने में समर्थ होता है । यही कारण है 'यज्ञों' में 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विक को उसके मौन, मगर मननशील रहने के कारण 'मानव' कहा गया है । 'कर्म' (यज्ञ) में 'मननशील' 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विक का रहना उसकी क्रियात्मक तत्परता का द्योतक है । उसका 'मौन' रहना इसी तत्परता का प्रतीक है । 'मौन' ही उसकी सफलता का आधार माना गया है, क्योंकि 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विक के 'मौन' या 'मनन', अर्थात् चिन्तनयुक्त चित्त द्वारा ही, यज्ञ के 'मन-मार्ग' का संस्कार होता है । उसके बोल भर देने से यज्ञ-कर्मका यह मन-मार्ग संस्कृत नहीं हो पाता, और यज्ञ एवं यजमान दोनों नष्ट हो जाते हैं ।[3]

माँ ने याद दिलाते हुए कहा– आप जानते हैं कि यज्ञ का दूसरा मार्ग, वाणी-मार्ग, का संस्कार 'होता', 'अध्वर्यु', और 'उद्गाता' के मन्त्रोच्चार और साम-गायन द्वारा सम्पन्न होता है ।

माँ ने कहा– हम अपने को 'मानव' कहते हैं, क्योंकि हम मननशील हैं; और हममें 'मनन' से उत्पन्न अन्य सद्गुण विद्यमान हैं । मननशीलता से ही परतम सत्य तक पहुँचा जा सकता है । 'सत्य' को 'नृत' और 'असत्य' को 'अनृत' कहा गया है ।

माँ ने कहा– खण्डित अथवा अपूर्ण से 'अर्थ' की प्राप्ति नहीं होती और न ही उसका कोई मूल्य-निर्धारित हो पाता है । देव और दानव दोनों ही अतियों के निरूपक होने के कारण, वास्तविकता के दृष्टिकोण से अनुपयोगी मूल्यविहीन ही सिद्ध होते हैं । उनका मूल्य-निर्धारण मात्र 'भाव' के स्तर पर ही हो पाता है ।

माँ ने कहा– 'देव' या 'सुर', 'अदिति' के पुत्र होने के कारण अखण्डता के द्योतक हैं । 'अदिति' शब्द का अर्थ ही होता है- 'जो विभक्त न हो सके' । इसके विपरीत 'दिति' विभाजित या विभाजन का द्योतक हैं। 'असुर' या 'दैत्य', 'दिति' के पुत्र होने के कारण, खण्डित व्यक्तित्ववाले हैं। मूल्यविहीन और वास्तविक रूप में अनुपयोगी ही नहीं, वरन् विनाशक तत्त्व भी हैं । उनमें निर्माण का अपेक्षित 'प्रकाश' नहीं, उल्टे विनाश या संहार का 'अन्धकार' होता है । 'असुरों' का निवास-स्थान 'अनृत का लोक' है । इसे

आर्षविचारकों ने 'रेकु पदम् अलकम्'[4] कहा है । 'देवों का निवास स्थान 'सत्य का लोक' अर्थात् 'रेकु पदम् सत्यम्' है । 'सत्य' अखण्डता का प्रतीक है ।

माँ ने मेरी ओर देखते हुए कहा– 'देव' और 'दैत्य' दोनों ही वस्तुओं की सीमा से बाहर के रहनेवाले हैं । वे अवास्तविक, अर्थात् 'भाव-रूप' है। हम 'वस्तु' का मूल्यांकन भाव-रूप, अर्थात् प्रतीकतः ही करते हैं, मात्र वास्तविक विनिमय के लिए ।

माँ का मेरी ओर देखकर बोलना समझ में आया । वे सम्भवतः 'विनिमय' शब्द से मेरे अर्थ-शास्त्र के ज्ञान की परीक्षा ले रही थीं ।

माँ ने कहा– 'देव' का निवास 'सत्य' में, और 'दानव' का निवास 'अनृत' अर्थात् असत्य' में है । 'ज्ञान' के प्रतीक 'देव' और 'अज्ञान' के प्रतीक 'दानव', 'जीवन', अर्थात्, 'व्यक्ति' को अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी राह ले जाना चाहते हैं ।

माँ ने कहा– 'ज्ञान' की अधिप्राप्ति 'शब्द' और कर्त्तव्य-कर्म के ज्ञान से होती है । इन्हें जाने बिना वास्तविक लक्ष्य को पा सकना असम्भव है । 'ज्ञान' ऐश्वर्यप्राप्ति का साधन है । और, 'ऐश्वर्य' निहित है वस्तुओं की उपयोगिता के ज्ञान में । उपयोगिता की जानकारी 'वस्तु' के गुण और उपयोग से सन्दर्भित ज्ञान-प्राप्ति से ही सम्भव है । 'गुण' का ही वास्तविक उपयोग होता है ।

माँ ने कहा– बिना वस्तु की उपयोगिता जाने ही अगर हम किसी उपयोगी वस्तु को अपने पास रख भी लें तो वह वस्तु व्यर्थ ही हमारेपास पड़ी रहेगी । 'दानव-कर्म' ऐसा ही है । उनका कर्म ज्ञानाभाव के कारण परिणामरहित और पशुवत् रह जाता है । उनकी शक्ति पाशविक वृत्ति में ही समाप्त हो जाती है । वे 'पृथ्वी और द्यौ', अर्थात् 'शरीर और मन', अर्थात् 'वस्तु और वस्तु के गुण' तक पहुँच भी जायँ तो उपयोग के ज्ञान-विज्ञान को जाने बिना उसका लाभ लेने में असमर्थ हो जाते हैं । 'मन' को जानने का अर्थ है– मनःसंकल्प को जानना, फिर 'शब्द तथा यज्ञ-कर्म को जानने की ओर 'मनः शक्ति' को प्रेरित करना । 'अज्ञान' के लिए यह संभव नहीं होता ।

माँ ने कहा– हमारे चारों ओर वस्तुएँ-ही-वस्तुएँ हैं । अब अगर इन्हें हम न जानें तो ये हमारे किस काम के ? हमारा चेतन मन हमसे चाहे जो भी कर्म

करा ले, किन्तु अवचेतन मन को जगाये बिना हम अपने चारों ओर की वस्तुओं का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। 'चेतन'-संसार से बहुत ही अधिक विस्तृत क्षेत्र है 'अवचेतन' संसार का। अवचेतन-संसार को हम ज्ञान के माध्यम से जानकर अपने चेतन-संसार को और भी विस्तारित करते जा सकते हैं। हाँ, 'अवचेतन' के उस विस्तृत विस्तार को हम अपने चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकते। उसे देखने के लिये हमें 'ज्ञान-चक्षु प्राप्त करना होगा, अपना 'मनःचक्षु' खोलना होगा। 'कृष्ण' के विराट् रूप को देखने के लिए 'अर्जुन' को ज्ञान-चक्षु या दिव्य-चक्षु ही प्राप्त करना पड़ा था।

माँ ने कहा– दानवी-शक्ति की वृद्धि की तुलना हमारे आर्ष-विचारकों ने 'रक्त-बीज' से की है। एक दैत्य था रक्तबीज। उसके शरीर के कटने से जो उसका खून धरती पर गिरता था उस रक्त से ही हजारों-हजार रक्त-बीज उत्पन्न हो जाते थे। निश्चय ही उसके विनाश के लिए दैवि-शक्ति को ऐसा उपाय करना पड़ा था जिससे कि उसका रक्त धरती पर गिरने से पहले ही उठा लिया जाये और उस खून से उत्पन्न रक्त-बीजों को चबाकर पचा लिया जाय।

माँ ने कहा– 'दुर्गा सप्तशती' मे वर्णित दैवि-शक्ति ने ऐसा ही किया था। माँ ने आगे कहा– अचेतन या अवचेतन का अन्धकार अज्ञानता का ही अन्धकार है, जो ज्ञान के प्रकाश से ही दूर हो सकता है।

माँ ने कहा– आपने देखा पृथ्वी, द्यौ और मध्यलोक का निरूपण हमारे शरीर से किस प्रकार होता है। 'शरीर' से पृथ्वी, 'मन' से द्यौ और 'प्राण' से मध्यलोक निरूपित होता है। दानव इसी मध्यलोक को विजित करना चाहते हैं, क्योंकि 'देव' इसी मध्यलोक के ज्ञाता हैं और उसके ज्ञान से ही वे सबों को अर्थात् सभी शक्तियों को पराभूत कर सकने में समर्थ हैं।

माँ ने कहा– 'जीवन' वस्तुतः 'प्राण' की चेतना है। 'प्राण' का स्थान नासिका, वाक्, श्रोत्र, मन और मुख है। एक बार 'प्राण' के विज्ञाता 'देवों ने 'उद्गीथ', अर्थात् 'प्रणव' की उपासना से 'असुर' या 'दानव' को पराभूत करने की सोची। वे जानते थे कि असुर के शारीरिक बल के समक्ष वे ठहर नहीं सकते। फलतः उन्होंने 'प्रणव'-रूप 'परम-शक्ति' की उपासना 'नासिका' स्थित 'प्राण' के रूप में की। किन्तु, यह असुर-प्रभाव से दूषित हो गया। दूषित होने से पूर्व घ्राणेन्द्रिय में स्थित प्राणवायु स्वभावतः 'प्राण' को समर्पित होने से कर्ता-अभिमान से मुक्त था। वह समष्टि का अङ्ग है।

उसे असुरों, अर्थात् शरीर-मोह ने कर्त्तापन के अभिमान से भरकर अपने ही प्रति आसक्त बना दिया । घ्राणेन्द्रि अपने-आप को महत्त्व देने के कारण कर्त्तापन के अभिमान और मोहरूप आसक्ति से भर गया । इसी तरह, देवों ने बारी-बारी 'वाक्', 'श्रोत्र' और 'मन' आदि इन्द्रियविशेषों की उपासना उद्गीथ रूप में करने का प्रयास किया । किन्तु, हर बार असुरों, अर्थात् शरीर-मोह ने उन्हें घेर लिया और उन्हें, अर्थात् सम्बद्ध इन्द्रियों को कर्त्ता-अभिमान और मोह-आसक्ति से भर दिया । अन्ततः देवों ने 'मुख' की उपासना की । 'प्रमुख प्राण' का निवास 'मुख' है ।

माँ ने कहा— 'मुख' में रहने के कारण मुख-स्थित प्राण 'मुख्य प्राण' कहलाता है । 'मुख' 'आहवनीय' अग्नि का प्रतीक-स्थान है । इस तरह जब 'असुर' शरीर-मोह से उसे प्रभावित करने पहुचे तो वे अपने-आप विनष्ट हो गये । मुख-रूप आहवनीय अग्नि, अर्थात् यज्ञीय-अग्नि में विनष्ट हो गये ।[5]

माँ ने कहा— इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के वशीभूत होकर कर्ता-अभिमान और तज्जनित आसक्ति से ग्रस्त हो सकती हैं, किन्तु प्राण नहीं । 'प्राण', आत्मा, इस तरह परतम-आत्मा, अर्थात व्यापकतम-आत्मा से सम्बद्ध होने के कारण अविनाशी है । वह 'शक्ति' है, 'शरीर' नहीं; वह शरीर की कारण-शक्ति है । 'शरीर' नाशवान और 'शक्ति' अविनाशी है । वह तो शरीर के नष्ट होते ही अपने वृहत्तम रूप में मिल जाती है ।

माँ ने मुझे एक बार फिर भारतीय आर्ष-ज्ञान की अहमियत से परिचय कराया । मैं जहाँ उनके व्यक्तित्व से अभिभूत हो रहा था, वहाँ उनका ही अंश होने के कारण अपने आप पर गर्व भी कर रहा था ।

●

सन्दर्भ

1. ईशावास्य उपनिषद्; मन्त्र - 1
"ईशा वास्यमिदं सर्वं यात्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ।।
2. वेद-रहस्य (पूर्वाद्ध); अध्याय- 22; दस्युओं पर विजय; पृ० 306 ।
3. छान्दोग्य उपनिषद्; अध्याय-4; खण्ड-16; मन्त्र-3; पृष्ठ - 430 ।
4. ऋग्वेद 10-108-7; वेद रहस्य, अध्याय-22, पृष्ठ 306 ।
5. छान्दोग्य उपनिषद्; अध्याय-1; खण्ड-2; मन्त्र- 1-7, पृष्ठ 47-56 ।

'ॐ'

[सत्ताईस]

माँ ने कहा– एक समय 'उद्गीथ'-विद्या के तीन विद्वान एक जगह एकत्र हो गये । वे विद्वान थे– 'शिलक', 'दाल्भ्य' और 'प्रवाहण' । 'प्रवाहण' क्षत्रिय थे और अन्य दोनों ब्राह्मण । उन्होंने इस सुअवसर को व्यर्थ गँवाने से अच्छा समझा कि वे उद्गीथ पर ही विचार करें । इस तरह की शास्त्रीय विचारणा में विषय-विशेष की त्रुटियाँ, विरोध और संशय दूर होते हैं तथा विचार एकमत-रूप धारण कर स्थायित्व प्राप्त करता है ।

'प्रवाहण' ने 'आचार' के दृष्टिकोण से, बोलने का पहला अवसर ब्राह्मणों को दिया । अब, 'शिलक' ने 'दाल्भ्य' से प्रश्न पूछे जाने की अनुमति माँगी । 'दाल्भ्य' से अनुमति पाकर 'शिलक' ने प्रश्न पूछे । इस तरह उनका वह परस्पर का विचारण प्रारम्भ हुआ ।

'दाल्भ्य' के अनुसार 'साम' का आश्रय है– 'स्वर' । 'स्वर' का आश्रय 'प्राण' है; और प्राण का आश्रय है, अन्न । अन्न का आश्रय या कारण 'जल' है । 'जल' का आश्रय अथवा कारण है 'वह लोक', अर्थात् 'स्वर्ग-लोक' । 'दाल्भ्य' यह मानते हैं कि 'साम' को स्वर्ग-रूप माना गया है, इसलिए 'स्वर्ग' से परे 'साम' को अन्यत्र ले जाया जाना सम्भव नहीं । वे 'साम' को स्वर्गलोक में ही प्रतिष्ठित करते हैं । किन्तु 'शिलक' इसे नहीं मानते । 'शिलक' का तर्क अकाट्य है ।

'शिलक' के अनुसार 'साम' का आश्रय 'स्वर्ग-लोक' तो है, किन्तु 'स्वर्ग-लोक' का भी आश्रय है और वह है 'यह लोक' । 'शिलक' 'इस' लोक को 'प्रतिष्ठाभूत' लोक मानते हैं और 'साम' को इसमें ही प्रतिष्ठित मानते या करते हैं । किन्तु, अब इसे 'प्रवाहण' नहीं मानते ।

'प्रवाहण' के अनुसार 'इस लोक' का भी आश्रय या कारण है; और वह है 'आकाश' । उनका मानना है कि सम्पूर्ण भूत 'आकाश' से ही उत्पन्न होते और उसमें ही लीन हो ज़ाते हैं । 'आकाश' ही नामरूप का निर्वहण करता है । यहाँ उन्होंने 'आकाश' शब्द से भूताकाश का नहीं, वरन् सूक्ष्माकाश, अर्थात् ब्रह्म-रूप आकाश का बोध कराया है । आकाश-रूप

ब्रह्म ही सभी भूतों का आदिकरण है । और यह भी सत्य कहा है कि आदि-कारण में ही सभी भूत अन्ततः लीन हो जाते हैं ।[1]

माँ ने कहा– 'प्रवाहण' की व्याख्या सबको मान्य थी । 'साम' अनन्त के आश्रय में रहकर ही अनन्त हो सकता था । फिर, सम्पूर्ण सृष्टि का आदिकरण होने की स्थिति में 'ब्रह्म' ही सभी का आदिकारण है । 'ब्रह्म' अथवा 'परमात्मा' से ही आकाश की उत्पत्ति है, फिर आकाश से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी या अन्न । 'ब्रह्म' की सर्वश्रेष्ठता सबको मान्य थी ।

माँ ने कहा– मानव जीवन लयात्मक और कलात्मक है । उसमें उसकी यह लयात्मकता जन्मजात है । जब बच्चा माँ के गर्भ में होता है, वह माँ के हृदय, बिल्कुल हृदय के पास विकसित होता हुआ लगभग नौ महीनों तक उसकी धड़कनों, लयात्मक धड़कनों, को सुनता रहता है । वह उन्हें सुनता ही नहीं, उन्हें जीता भी है । उन धड़कनों से ही वह सारी ललित-कलाओं के ज्ञान-विज्ञान को सीख लेता है । बच्चे, सद्यः जात बच्चे, को अगर आप पानी में डाल दें और इसका इन्तजाम रखें कि उसके पेट में पानी नहीं जाय, तो आप यह देखकर आश्चर्यित होंगे कि बच्चा पानी में आसानी से तैर लेता है, डूबता नहीं । माँ के गर्भ में वह तरल पदार्थ में ही तो रहने का आदी होता है । फिर, बच्चे के कान के पास माँ के हृदय की धड़कनों के अगर टेप रख दें, तो उसकी लयात्मक ध्वनियों को पहचानते हुए वह उस हर अनुभव को अपने चेहरे के बदलते रूपों से व्यक्त कर देगा जिसका आदी वह मातृगर्भ में रहकर हुआ था ।

माँ ने आगे कहा– अगर दुनियाँ अपने ढंग की नहीं होती और वह मातृ-गर्भ की तरह ही शुद्ध और संस्कृत होती तो शायद लौकिक या पार्थिव जीवन बहुत ही सहज होता ।

माँ ने कहा– हमारे आर्षविचारक 'परा', 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' और वैखरी वाकों के विज्ञाता थे । वे सही अर्थ में मानव-मनोविज्ञान के भी विज्ञाता थे । मनोविज्ञानकी उनकी समझ इतनी सूक्ष्म और गहरी थी कि उसका एक भी पहलू उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रहा था । तभी तो उन्होंने अपने कर्मकाण्डीय जीवन में लौकिक वातावरण के अनुकूलन के लिए

गर्भाधान से ही 'संस्कार' की व्यवस्था कर डाली । इतना ही नहीं, अभिमन्यु, शुकदेव, अष्टावक्र आदि ऐसे चरित्रों के माध्यम से हमें बतलाया कि शिशु माँ के गर्भ में रहता हुआ ज्यादा सुरक्षित, विशुद्ध और न्यायप्रिय होता है । 'शिशु' मात्र माँ के हृदय की धड़कनों के लय पर न केवल नाच, हँस खिलखिला या विलखकर रो सकता है, वरन् युद्ध-कौशल भी सीख सकता है । यह तो हम हैं, जो अपनी ना-समझी में उसके हँसने को ईश्वरीय प्रेरणा समझ बैठते हैं ।

माँ ने कहा– मातृ-हृदय की लयात्मकता के बीच निर्मित और पालित शिशु प्राणिक-सृष्टि की आद्य-स्थिति से लेकर विध्वंसक स्थिति तक का पाठ पढ़ लेता है । मातृ-गर्भ की एक दुनियाँ से निलकलकर सर्वग्राही दूसरी इस लौकिक दुनियाँ में उसका आना, एक 'कृष्णविवरीय' दुनियाँ (Black hole world) में आने के बराबर ही तो है । यहाँ आकर वह अपने पहले की दुनियाँ में लौटकर नहीं जा सकता । दूर आसमान में कहीं स्थित सर्वग्राही एक 'कृष्ण-विवर' (Black-hole) की तरह यह लौकिक दुनियाँ भी मातृ-गर्भ में रहनेवाले भोले 'शिशु-रूप' सृष्टि को अपने मातृ-गर्भ से निकलते ही निगल जाती है । अपनी एक नई हवा एक नया वातावरण, एक नया लय दे, यह दुनिया उसे 'जीने के लिए बेसहारा छोड़ देती है । शायद ऐसों की खुशी और ढाढस के लिए ही 'साम' के गेय मन्त्र दृष्ट हुए हों तो कोई आश्चर्य नहीं ।

माँ ने कहा– सामवेद की अपनी ऋचायें बहुत अधिक नहीं । विद्वानों के कथानुसार इसके अपने मन्त्र मात्र उनहत्तर ही हैं, जब कि इसमें कुल मन्त्रों की संख्या एक हजार आठ सौ पचहत्तर कही गई है । किन्तु, सामवेद के सारे मन्त्र गेय हैं, भावना-प्रधान और जीवन्त आदर्श के द्योतक है । वे मधुर और हृदयग्राही है । वे शान्ति प्रदान करते हैं, आनन्दित करते हैं ।[2]

माँ ने कहा– गीता में, महाभारत और द्वापर-युग के नायक, श्रीकृष्ण ने अपने को 'वेदों' में 'सामवेद' होने की घोषणा की है ।[3] उन्हें 'ब्रह्म' भी कहा गया है । 'ब्रह्म' या 'ईश्वर' या परमात्मा क्यों ? क्यों वे पूर्णावतार माने गये हैं ? रामायण और त्रेता के राम को पूर्णावतार नहीं कहा गया, क्यों ?

माँ ने कहा– 'ईश्वर' सोलह कलाओं से युक्त है । 'राम' मात्र बारह

कलाओं, से और कृष्ण सभी सोलह कलाओं से युक्त कहे गये हैं। यही कारण है कि 'राम' को अंशावतारी, तथा कृष्ण को पूर्ण-अवतारी कहा गया है। परमात्मा की सोलह कलाएँ जड़-चेतनात्मक, समस्त संसार में व्याप्त कही गई हैं।[4]

माँ ने कहा— परमात्मा-रूप अवतारी को ही 'पूर्णावतार' कहा जाता है। इसमें परमात्मा की आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों ही सत्ताओं की पूर्णता विद्यमान रहती है।

माँ ने कहा— 'कला' वस्तुतः शक्ति की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, 'इच्छा' या 'ईक्षण' या 'एषणा' से। यह वस्तुतः सृष्टि ही क्या, किसी भी रचनात्मक कार्य के लिए अपेक्षित है। रचनात्मकता ही कला है। स्रष्टा 'ब्रह्म' रचनात्मक कला में अपनी पूर्णता और सर्वांगीण निपुणता के लिए ही 'षोडशी'[5], अर्थात् सम्पूर्ण सोलह कलाओं का स्वामी कहा गया है।

माँ ने कहा— स्रष्टा 'ब्रह्म' की क्रियात्मक अभिव्यक्ति ही 'व्याहृतियाँ' हैं। ये व्याहृतियाँ मुख्यतः चार लोकों, चार ज्योतियो, चार विद्याओं और चार प्रजाओं या प्राणों, इस तरह कुल सोलह रूपों[6] में हैं। इस तरह स्रष्टा ब्रह्म अपनी सम्पूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति-शक्ति के साथ अवतरित होकर सम्पूर्ण लोकों का कल्याण करता है।

माँ ने समझाया— 'गीता' के 'पूर्णावतारी' श्री कृष्ण अपने को वेदों में 'सामवेद' होने की घोषणा यों ही नहीं करते। वस्तुतः वे 'सुरों' के विशेषज्ञ वंशीधर हैं; 'साम' के विशेषज्ञ राजनीतिज्ञ हैं; 'सारथ्य' में निपुण एकमात्र सच्चे साथी, सहायक और रक्षक हैं। वे 'नटनागर' हैं, क्योंकि उनका व्यक्तित्व माधुर्य, विशुद्ध माधुर्य से भरा है। वे सच्चिदानन्दघन ब्रह्मरूप हैं। वे एक साथ उत्पत्ति-स्थिति-ध्वंस के कारक तत्त्व हैं। वे साधुओं के रक्षक और दुष्टों के विनाशक हैं। वे कर्म, उपासना और ज्ञान की लीलाओं से युक्त हैं। वे ऐश्वर्य और माधुर्य के संगम हैं।

माँ ने कहा— 'पूर्णावतारी' कृष्ण अपने आधिभौतिक पूर्णत्व में ब्रह्मचर्य और सौन्दर्य के आदर्श हैं; आधिदैविक पूर्णत्व में शक्ति और ऐश्वर्य के आदर्श हैं; और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता में ज्ञान और ऐश्वर्य से पूर्ण हैं।

माँ ने कहा– पूर्णअवतारी श्री कृष्ण का व्यक्तित्व 'सामवेद' से निरूपित एक 'समन्वित' व्यक्तित्व है । 'सामवेदकी ऋचाओं में ऋग्वेद और यजुर्वेद की ऋचाओं का संगम उसे आंशिकता से अलग कर, समन्वित पूर्णत्व प्रदान करता है । एक 'समन्वित पूर्ण' ही अपने में सबों को, उनकी अपनी-अपनी स्वतंत्रसत्ता के साथ धारण कर सकता है, उससे समानता और सौहार्द्रता का भाव रख सकता है ।

माँ ने मेरी जिज्ञासा शान्ति के लिये कहा– आप जानते हैं कि वस्तुतः 'कला' शक्ति की अभिव्यक्ति है, अथवा यह कि सम्पूर्ण जगत उसी शक्ति का कार्य-रूप है । 'शक्ति' कारण-रूप , सृष्टि 'कार्य-रूप' और 'कला', कर्म के लिए अपेक्षित कौशल्य है ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों की दृष्टि में कला का प्रथम रूप उद्भिजों की चेतन सृष्टि में अभिव्यक्त होता है । यहाँ शक्ति 'अन्नमय रूप' में होता है । उद्भिज 'शक्ति' की एक कला को 'अन्नमय-कोष' के रूप में अभिव्यक्त करते हैं । इसी तरह 'स्वेदज' में दो कलाएँ, अण्डज में तीन कलाएँ, जरायु पशु में शक्ति की चार कलाएँ होती हैं ।

माँ ने कहा– आर्षविचारकों ने 'मनुष्य' को दो स्तर पर रखते हुए 'साधारण' मनुष्य को पाँच कलाओं से, तथा 'विभूति कोटि' के मनुष्यों को छः से आठ कलाओं तक से युक्त माना है ।

माँ ने कहा– नौ कलाओं से लेकर सोलह कलाओं तक का विकास अवतारी पुरुषों में माना गया है । इनमें अंशावतारी पुरुष में नौ से पन्द्रह कलाओं का और पूर्णावतारी में सोलहों कलाओं का पूर्ण विकास हुआ माना गया है ।[7] सोलहों कलावाला पूर्ण पुरुष ही आदर्श है सृष्टि का ।

माँ ने कहा– इन्हीं कलाओं का विकासक्रम 'कोषों' के रूप में वर्णित है । अन्नमय कोष, एक कला के विकास का फल है । इसी तरह अन्नमय-कोष और 'प्राणमय' कोष दो कलाओं के, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष चार कलाओं के; और इन चार कोषों के साथ पाँचवें आनन्दमय कोष का विकास, पाँचों कलाओं के विकास का प्रतीक है।

माँ ने कहा– आर्ष विचारकों के अनुसार अपने पाँचों कोषों का विकास पाँचों कलाओं की सहायता से करता हुआ ही व्यक्ति-मनुष्य

ज्ञान-सम्पन्न मननशील मानव बन सकता है । 'ज्ञान' में व्यापकतम की व्याख्या होती है और भौतिकता में अपरतम स्थूलता दृष्टिगोचर होती है । 'व्यक्ति' स्थूल है, और 'मानव' व्यापकतम ज्ञान-रूप । 'मानव' भाव है और 'व्यक्ति' नाम-रूपधारी ।

माँ ने कहा– हमारे वेद-उपनिषद मात्र 'कर्म' या मात्र 'ज्ञान' के पृष्ठ-पोषक नहीं, वरन् 'ज्ञानमय कर्म' और 'कर्ममय ज्ञान' के उपदेशक है। 'उद्गीथ' या 'प्रणव' उसी महत्तम शक्ति 'उपदेशक' का निरूपक है, जो सम्पूर्ण सृष्टि का आदिकारण और उसका व्याख्याता है ।

माँ को अपनी ओर देखता हुआ मैंने माँ से कहा– 'ओङ्कार की व्याख्या के रूप में आप इसकी जानकारी दे चुकी है ।

'पापा के 'अकबर' ! कहकर माँ ने एक साथ ही अपना सारा और मेरा प्यार 'पापा' से जोड़ दिया ।

●

सन्दर्भ

1. छान्दोग्य उपनिषद्; अध्याय-1, खण्ड-8 से 9 । पृष्ठ 108 से 118.
2. साम् या सामन् = खुश करना, शान्त करना ।
   'सामन्' = सो + मनिन् (संस्कृत हिन्दी कोश)
3. 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' – गीता 10/22
4. अवतार – हिन्दू धर्मकोश; पृष्ठ– 54–56 पूर्णावतार;–वही पृष्ठ 413.
5. षोडशी– यजुर्वेद 8/36; प्रश्नोपनिषद्; प्रश्न–6, मन्त्र–1; 'षोडशकलम पुरुषः' ।
6. चारलोक– भूः, भुवः, स्वः महः (पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, सूर्य)
   चार ज्योति– अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा ।
   चार विद्या – ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, ब्रह्म ।
   चार प्राण (प्रजा) – प्राण, अपान, व्यान, अन्न ।
7. 'अवतार' – हिन्दी धर्म कोश पृष्ठ – 54

'ॐ'

[अट्ठाईस]

माँ ने कहा– आप रासायनिक तत्त्वों के विषय में बहुत कुछ जानते हैं। भौतिकी और रासायनिकी के कार्य-कलापों से भी आप परिचित हैं। आज के वैज्ञानिक उपकरण पुराने जमाने के वैज्ञानिक उपकरणों–साधनों से निश्चित् ही बहुत उन्नत और सूक्ष्म हैं, किन्तु दोनों ही युगों में विज्ञाताओं की दृष्टि एक-सी रही है। आज की वैज्ञानिक मेधा ने जिन रासायनिक तत्त्वों की खोज की है, भले ही पुरातन वैज्ञानिक उससे अवगत न रहे हों, किन्तु तत्त्वों की रचनात्मक प्रतिक्रियाओं का उनका ज्ञान अद्भुत रहा था। उनके 'पञ्च-तत्त्व' स्थूलतः आज के रासायनिक दृष्टिकोण से भले ही 'यौगिक' अथवा 'मिश्रण' लगते हों किन्तु, अपनी सूक्ष्मतम प्रतिक्रियात्मक व्याख्या और परिणाम में वे किसी भी तरह आज की रासायनिक प्रतिक्रियात्मक व्याख्या या परिणाम से अलग नहीं सिद्ध होते।

माँ ने कहा– इसका मुख्य कारण है कि पुरातन वैज्ञानिकों का तत्त्विक विभाजन भी आज के रसायनज्ञों के तात्त्विक विभाजन–सिद्धान्तों के अनुरूप ही विश्लेषणात्मक था। आज जिस तरह तत्त्वों का विभाजन और परस्पर की प्रतिक्रिया परमाण्विक संरचनात्मकता पर आधारित है, उसी तरह उन प्राचीन वैज्ञानिकों ने अपने समय के ज्ञात तत्त्वों का विभाजन और उनके परस्पर की प्रतिक्रिया और परिणाम का अध्ययन स्थूल–सूक्ष्म–परतर सूक्ष्म–परतम सूक्ष्म आदि के स्तर पर किया था। उनका 'परतम–सूक्ष्म' परम–शक्तिमान् है। वह निर्गुण–निर्विकार होने के कारण 'स्वयम्भू', अर्थात् स्वयं का 'कारण–कार्य', मगर सभी का कारण–रूप है। वह एक है, और उस एक से ही अनेक हैं।[1]

वैज्ञानिकों को ही प्राचीन काल में 'विज्ञाता', 'ऋषि' आदि के रूप में जाना गया था। ये 'सर्वद्रष्टा', 'सर्वज्ञ', अथवा 'मन्त्र–द्रष्टा' थे। मन्त्र–द्रष्टा के रूप में वे घटनाओं और गुणों, अथवा गुण–कर्मों और गुण–धर्मों की सूत्रात्मक व्याख्या कर सकने में पूर्णतः समर्थ थे।

प्राचीन वैज्ञानिक दृष्टि में 'परतम–सूक्ष्म' से 'सूक्ष्म–कारण–जगत बना', और 'सूक्ष्म कारण–जगत' से स्थूल–जगत बना। यह स्थूल–जगत

अपने भौतिकीय दृष्टिकोण में पाँच महाभूतों– आकाश, वायु, तेज, जल पृथ्वी-से निर्मित है। इन स्थूल महाभूतों के कारण-तत्त्व हैं 'सूक्ष्म-तन्मात्राएँ'– 'शब्द', स्पर्श, रूप, 'रस' और 'गन्ध'।

माँ ने कहा– पाँच महाभूत अपने गुणानुरूप जैविक शरीर से सम्बद्ध हैं। 'शब्द' का सम्बन्ध शरीर में वाक् और श्रोत्र से है; 'स्पर्श' का सम्बन्ध त्वचा, वाक् और श्रोत्र से है; 'तेज' वस्तुतः अग्नि-तत्त्व है और वह शरीर में शक्ति-निर्माण से सम्बद्ध है; 'रस' का सम्बन्ध शरीर में शक्ति-संचरण से है; 'गन्ध' का सम्बन्ध शरीर में वस्तुतः 'संयोजन' से है।

माँ ने कहा– 'पृथ्वी' को 'गन्धवती' कहा गया है।[2]

माँ ने समझाया– 'गन्ध' शब्द की व्युत्पत्ति 'गन्ध्' धातु-शब्द से हुई है। 'गन्ध्' धातु-शब्द का अर्थ होता है– 'क्षति पहुँचाना', 'माँगना', 'जाना' या 'चलना'। स्पष्टतः 'गन्ध' गत्यात्मक शक्ति है, जो 'संयोग' अथवा 'सम्बन्ध' का अर्थबोधक है। इस रूप में यह 'कर्तृत्व' का भी बोधक होने से 'अहङ्कार' का निरूपक है।[3]

'पृथ्वी' भी, स्थूल 'मिट्टी' नहीं, वरन् सूक्ष्म् 'पृथ्वी'-तत्त्व के रूप में पञ्च महाभूतों का अवयव है। इसी तरह 'आकाश', 'वायु', 'तेज' और 'जल' आदि भौतिकतया अपने-अपने सूक्ष्म तात्त्विक-रूप में महाभूत के अवयव हैं। स्पष्ट है कि 'वायु' आदि 'महाभूत' वस्तुतः अपने स्थूल रूप में तत्त्व नहीं, बल्कि अपने-अपने गुण-तत्त्व, अर्थात् शब्द, स्पर्शादि सूक्ष्म कारण-तत्त्व के रूप में 'महाभूत' कहे गये हैं। दूसरे शब्दों में– जिसे हम 'आकाश' कहते या देखते हैं, वह स्थूल 'भूत' रूप द्रव्य (matter) है और उसका 'कारण' (cause) सूक्ष्म-'आकाश', अर्थात् 'आकाशत्व' सूक्ष्म 'तत्त्व' (element) है। कारण-रूप 'आकाशत्व' शक्ति है, जिसके संयोजन के अभाव में 'आकाश' का अस्तित्व ही निरर्थक है। वस्तुतः इन्हीं कारण-तत्त्वों का परिचय हमें सूक्ष्म-तन्मात्राओं के रूप में मिलता है।

माँ ने कहा– 'अपरतम' स्थूल पदार्थ या द्रव्य (matter)-रूप आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल और पृथ्वी, का विश्लेषण जब 'परतमता' की ओर बढ़ता है तो वह क्रियात्मक-प्रतिक्रियात्मक होता हुआ 'शक्ति-दर-शक्ति' प्राप्त करता चला जाता है। फलतः 'परतम' का रूप और उसकी व्यापकता

मात्र 'शक्ति' का ही एक व्यापक रूप हो जाती है। 'परमाण्विक-शक्ति' इसका स्पष्ट साक्ष्य है। आप समझ सकते हैं कि परतमता में निहित शक्ति कितनी अधिक हो सकती है। 'अकूत' सीमा को ही 'असीम' कहते हैं, और 'अकूत' अन्त को ही 'अनन्त'। जिस 'सीमा' अथवा 'अन्त' को माप लिया जा सके वही 'समीम' अथवा 'सान्त' होता है, अकूत नहीं।

माँ ने कहा– स्पष्ट है कि व्यापकता अथवा सूक्ष्मता तक पहुँचने की स्थिति में द्रव्य में शुद्धता की वृद्धि के साथ-साथ व्यापकता की शक्ति की भी वृद्धि होती है।

माँ ने कहा– अपनी बृहत्तम और शुद्धतम स्थिति में वह 'शक्ति'-तत्त्व शुद्धतः 'ज्योतिरूप' होता है। उसका वह ज्योति-रूप निश्चिततः निर्गुण और निर्विकार ही हो सकता है, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं होता। वह अपने आप का कारण होता है। वह स्वयम्भू सिद्ध होता है।

माँ ने समझाया– अगर आप 'स्थूलता' से 'सूक्ष्मता' की ओर बढ़ें तो भौतिकता की वह यात्रा संकीर्णता से व्यापकता की यात्रा होगी। यथा– पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। 'पृथ्वी-तत्त्व' से अधिक सूक्ष्म है 'जल'-तत्त्व', 'जल'- तत्त्व से अधिक सूक्ष्म है 'तेज' या 'अग्नि' तत्त्व, अग्नि-तत्त्व से अधिक सूक्ष्म हैं 'वायु'-तत्त्व, और 'वायु'-तत्त्व से अधिक सूक्ष्म है 'आकाश-तत्त्व'। 'ज्योति' के रूप में, 'अग्नि'-तत्त्व की ज्योति, पाँचों महाभूतों में मध्यस्थानीय है और पृथ्वी का आश्रय है। 'पृथ्वी' का प्रकाश न्यूनतम है। 'अग्नि' का 'ज्योति-रूप' अन्तरिक्षीय, अर्थात् वायुस्थानीय स्थिति में, 'विद्युत' है; और 'आकाशीय' या 'व्योम-स्थानीय' स्थिति में 'सूर्य'। 'अग्नि'-तत्त्व वस्तुतः ताप और प्रकाश रूप शक्ति (energy) का निरूपक है। वह 'ऊर्ध्वगामी'-नेतृत्व का प्रतीक है। उसमें पकाने, पचाने और शुद्ध करने की शक्ति है। वह शाश्वत है। उसका अभाव निष्प्राणता की स्थिति उत्पन्न करता है। उसके अभाव में कोई भी प्रतिक्रिया सम्भव नहीं।

माँ ने कहा– ज्योति या प्रकाश 'ज्ञान' का भी प्रतीक है। फलतः इसके विपरीत, 'अन्धकार' को आर्ष-विचारकों ने 'अज्ञान' का प्रतीक माना है। आर्ष-विचारकों की दृष्टि में 'अज्ञान' से व्यक्ति पशुवत् बनता है; 'ज्ञान' ही उसे पशुवत् होने से बचाता है।

माँ ने कहा– जैसा कि आप जानते हैं कि आर्ष–वाङ्मय में 'अज्ञान' का प्रतीक है– अन्धकार–रूप 'असुरी–वृत्ति', जो अपनी सगुणता और स–रूपता में 'पणि' है, 'दस्यु' है, 'असुर' या 'दानव' है । फिर, आप यह भी जानते हैं कि ज्ञान के साधनों में 'शब्द' प्रमुखतम है, क्योंकि वह 'ब्रह्म–रूप' कहा गया है । 'ब्रह्म' अद्वैतता का 'निरूपक है, और इसलिए ही शब्द को भी 'अद्वैत–रूप' परतम–'शक्ति' का ही निरूपक माना गया है। शब्दाद्वैत (शब्द+अद्वैत) उसे कहा भी गया हैं । इस तरह 'शब्द' परतम–सत्य का निरूपक होने के कारण 'ज्ञान' का प्रमुख साधन है । 'शब्द', अर्थात् 'सत्य–विचार'–रूपी 'ब्रह्म–शक्ति', से ही 'अज्ञानता'–रूपी 'आसुरी–वृत्ति को परास्त किया जा सकता है ।

माँ ने कहा– अज्ञानता का साधन है– 'अविचारणा' अथवा 'कुविचारणा'। अविचारणा अथवा कुविचारणा से शुभ एवं सफल कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं । 'शुभ' एवं सफल कार्य की सफलता के लिए अनिवार्य है– सामुदायिक या समूहिक 'सहमन्यता' और 'सहमत्यता' । 'सहमत्यता' का आधार ही होता है 'सत्विचारणा' । 'सत्विचारणा' के अभाव में न तो 'सत्–विचार' का अभ्युदय हो सकता है, और न ही उसका कार्यान्वयन सम्भव हो सकता है ।

माँ ने कहा– 'सहमत्यता', अर्थात् 'सभी की सहमति', सामुदायिक सहमति होने के कारण ही सामुदायिक–कल्याण की स्थिति बनती है । 'सामुदायिक कल्याण' ही शुभ होता है । इसके विपरीत 'असहमत्यता' में वैयक्तिकता की प्रधानता रहती है और वह मात्र वैयंक्तिक कल्याण का साधन बन पाती है । 'वैयक्तिक कल्याण' सामुदायिक कल्याण का विरोधात्मक हो सकता है । वस्तुतः सामुदायिक कल्याण में सबों का कल्याण निहित होता है, मात्र किसी एक व्यक्ति का नहीं । यही 'कल्याण', जब समुदाय से उठकर समाज और फिर सम्पूर्ण सृष्टि के लिये होता है तो, 'यथार्थ–कल्याण' अथवा 'परम कल्याण' कहलाता हैं ।

माँ ने कहा– 'परम कल्याण', कल्याण का 'परतम' रूप है । 'परतमता' अपनी व्यापकता के कारण वस्तुपरक न होकर शक्तिपरक, अर्थात् ज्ञानपरक हो जाती है । 'ज्ञान' सत् का रूप होने के कारण व्यवहारतः सदाचार का विषय होता है ।

माँ ने कहा– आर्ष-वाङ्मय हमें बतलाते हैं कि 'शब्द' ही अविचार अथवा कुविचार की समाप्ति के साधन है । 'शब्द' ज्ञान के आधार हैं, ज्ञान के नियामक हैं ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों की दृष्टि में 'सत्य की प्राप्ति' वस्तुतः 'सत्य के नियम', अर्थात् 'शाश्वत नियम' के ज्ञान से ही सम्भव है । 'शाश्वत नियम' परम-कल्याण या परमार्थ से सम्बद्ध है । वैयक्तिक कल्याण, अर्थात् 'सामूहिक कल्याण की उदासीनता' अज्ञानता-बोधक है । 'अविचार' अथवा 'कुविचार' अज्ञानता के नियम है । 'अविचार' अथवा कुविचार के माध्यम से 'शुभ' या 'परमार्थ' अथवा परम कल्याण' की प्राप्ति सम्भव नहीं । 'परम कल्याण' की प्राप्ति के लिए सत्य, अर्थात् 'सहज आचरण' ही अनिवार्य होता है । 'सहजता' ही 'सत्य' है । 'सहजता' की विशिष्टता स्वयं 'सहजता' ही होती है । 'सहजता' पर ही सहमन्यता अथवा 'सहमत्यता' निर्भर होती है । 'सहमत्यता' है एकमतता का पर्याय ! 'सहमत्यता' सत्य, और इस तरह 'कल्याण' की कसौटी है । इसे ही आर्ष-वाङ्मय 'ऋत' कहते हैं ।

माँ ने कहा– 'सत्य' के ज्ञान से, अथवा यों कहें, 'ज्ञान' के नियम से ही 'अज्ञानता' पर विजय प्राप्त की जा सकती है । अज्ञानता के नियम, अर्थात् 'अविचार-कुविचार', पर चलकर 'ज्ञान' की प्राप्ति, अर्थात् 'सत्य का ज्ञान, सम्भव नहीं ।

माँ ने समझाया– इस विवरण से आप समझ चुके होंगे कि 'अज्ञान' 'ज्ञान' के नियम पर चलकर ही अपनी अज्ञानता दूर कर सकता है । निश्चिततः 'अविचार-कुविचार' को 'सत्-विचार' से ही दूर किया जाना सम्भव होता है । इस तरह आपसे यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि 'अज्ञानता' की प्रतिमूर्ति का नाम ही 'असुर' है, और 'असुर'-रूपी अज्ञानता को 'सत् विचारों' से ही दूर किया जा सकता है ।

माँ ने आगे समझाया– आप अब जानते हैं कि 'जीवन' वस्तुतः 'शरीर-मन-प्राण' की समन्विति है । वह किसी एक अंशमात्र से निर्मित अवयव नहीं । वह अपनी क्रियात्मकता के लिए 'पूर्ण' है । जो, क्रियात्मतया अपूर्ण निर्मित होते हैं, उनकी स्थिरता सन्दिग्ध होती है । व्यवहारतः उनका

औपयोगिक मूल्य प्रायः शून्य होता है । उनकी प्रवृत्ति मूलतः 'शक्ति' रूप में,परिवर्त्तित होने अथवा अपने स्थैर्य-विन्दु पर पहुँचने की होती है । 'शरीरतः' वे क्षणभंगुर होते हैं । उनकी परस्पर की आवयविक समन्विति ढीली और क्षणिक होती है ।

माँ मुझे मेरे रसायन-शास्त्र के ज्ञान की ओर ले जा रही थीं । वे रेडियोधर्मी तत्त्वों (elements) का जिक्र कर रही थीं । 'शक्ति'-रूप द्रव्य (matter) की स्वभाविक प्रवृत्ति 'शक्ति'-रूप में ही 'उत्सृजित' होने की रहती है । 'शक्ति' का अन्तिम या परतम लक्ष्य शक्ति में ही मिल जाने की हो सकती है- यह समझना मेरे लिये अब कठिन नहीं हो रहा था । यह नियम है, 'ऋत्', अर्थात् 'स्वभाविक', 'सात्त्विक' और 'शाश्वत' नियम । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इस प्रक्रिया का ही कार्यरूप है ।

माँ जैसे मुझे अपने विचारों की दुनियाँ से जागतिक दुनियाँ में लाते हुए कह रही थीं- वस्तुतः 'असुर', 'शरीर'-बल या 'प्राण', बल के ही निरूपक हैं । वे हर कार्य को 'शरीर'-बल से ही सिद्ध कर लेना चाहते हैं । वे दूसरों के उपभोग की वस्तु को अपने उपयोग में ले लेना चाहते हैं, और उसे छीनकर प्राप्त भी कर लेते हैं, किन्तु उसका सदुपयोग नहीं कर पाते । उपयोगिता के लिये जिस 'ज्ञान' की आवश्यकता होती है वह उनमें नहीं होती । आवश्यकता है कि वे 'ज्ञान' प्राप्त कर वस्तुओं के उपयोग को जानें । बिना 'ज्ञान'-मार्ग को अपनाये शरीर-बल हिंसात्मक हो जाता है । आर्ष-वाङ्मय हमें अपने विचारों में पूर्ण होने का आदेश देते हैं- 'आओ, हम अपने विचारों में पूर्ण हों ।'[4]

माँ ने कहा-ज्ञान का मार्ग है, 'सत्यता और सहमत्यता' का मार्ग । विचारण, वस्तुतः, 'सत्य' की प्राप्ति के लिए ही करते हैं । फिर उस विचारित 'सत्य' पर सब की 'सहमति' होती है । 'सहमति' सर्वकल्याणात्मक होती है । 'सहमति' में 'सबों के कल्याण के साथ ही अपना भी कल्याण होता दीखता है । 'सत्य' की प्राप्ति, वस्तुतः 'सत्कर्म और सहमति' की 'संयुक्तता' और 'समन्विति' से होती है ।

माँ ने कहा- 'अज्ञान'-रूपी 'असुर' को सत्यविचारों से ही पराजित किया जा सकता है, भौतिक हथियारों से नहीं । 'असुरता' वस्तुतः अज्ञानता है । 'अज्ञानता' ही अन्धकार है, क्योंकि उस अन्धकार में देखकर भी हम

कुछ जान नहीं पाते, कुछ उपयोग नहीं कर पाते ।

माँ ने कहा– 'अन्धकार'–रूप 'अज्ञानता' की विनष्टि 'अन्तः प्रकाश'–रूप ज्ञान से ही सम्भव है । जागतिक सृष्टि में 'सूर्य', 'विद्युत' और 'अग्नि' प्रकाश के साक्षात स्रोत कहे गये हैं । ये तीनों अपने–अपने प्रकाश से सभी वस्तुओं को दृश्यमान करते हैं ।

माँ ने कहा– 'चक्षु' जागतिक वस्तुओं को प्रकाश रूप ही ग्रहण करते हैं । वस्तु से परावर्तित प्रकाश–किरणें ही चाक्षुष–सक्रियता द्वारा वास्तविक वस्तु का दृश्य–ज्ञान देती हं । प्रकाशविहीन 'त्वक–स्पर्श' हमें अपनी दृष्ट्र -'अज्ञानता' में भटकने पर मजबूर करता है ।

माँ ने कहा– चाक्षुष 'प्रकाश–ग्रहण' की शक्ति जहाँ दृश्य–जगत का हमें साक्षात् ज्ञान देती हैं, वहाँ दृश्य–जगत के ज्ञान के माध्यम से हमारे मनःचक्षु को भी खुलने पर मजबूर करती है । 'मनः चक्षु के खुलने' का अर्थ है 'मन की मननात्मक क्रिया का आरम्भन' । माँ ने कहा– इसे ही हमारे आर्ष–विचारकों ने 'शिव' के 'तीसरे नेत्र' के रूप में निरूपित किया है । उनकी मान्यता है कि 'ज्ञान' से ही इच्छा–वासना–प्रलोभन और अज्ञान का अन्त सम्भव है । 'शिव' का 'तीसरा' नेत्र वस्तुतः 'ज्ञान–चक्षु' का निरूपक है । इसे ही 'मनः चक्षु' 'दिव्य–चक्षु', 'आर्ष–चक्षु' आदि नामों से संज्ञापित किया गया है । सत्य, ऋत्, अथवा सहमति, सभी का ज्ञान मनः प्रकाश से प्रकाशित, अर्थात् मनः–प्रकाश में प्रतिभाषित दृष्ट सत्य–विचार से ही सम्भव होता है ।

माँ ने कहा– 'प्रकाश' अग्नि–तत्त्व है । इस रूप में 'सूर्य', 'विद्युत' और 'अग्नि' अपने–अपने निवास–लोकों को उजागरित करते हुए अन्य लोकों को भी अपने विभिन्न गुण–कर्मों से प्रभावित करते हैं । 'सूर्य' का अग्नि–तत्त्व ऋत् का प्रकाशक है ।

माँ ने कहा– 'ऋत्', जैसा कि आप जानते हैं, 'ब्रह्माण्डीय नियमितता' का द्योतक है । 'नियमन', वस्तुतः शक्तियों के परस्पर सम्मिलन, अर्थात् सकल परिणामदायी प्रतिक्रियात्मक संयोजन या समन्वयन की क्रिया का नाम है । इसे आप अपने रसायन–विज्ञान के रासायनिक प्रतिक्रिया (chemical reaction) के आधार पर आसानी से समझ सकते हैं ।

माँ ने समझाया– जब दो या दो से अधिक रासायनिक यौगिक परस्पर समुचित 'ताप' और 'दबाब' पर मिलते हैं तो उनके बीच रासायनिक प्रतिक्रियात्मक नियमों के अनुरूप तात्त्विक आयनों (ions) के स्तर पर आदान-प्रदान होता है और परिणाम-स्वरूप आपको नये यौगिक (compound) प्राप्त होते हैं। ये रासायनिक प्रतिक्रियाएँ विस्फोटक भी हो सकती हैं। तब शायद किसी को खुशी नहीं होती, स्वयं अभिकारक अवयवों (reactants) को भी नहीं। किन्तु, जब परिणाम (resultant) शुभ और कल्याणकारी होते हैं तो, वे सभी पक्षों को आनन्दित कर जाते हैं। प्रतिक्रियात्मक व्यवस्था में इस आनन्दपूर्ण सुफल परिणामदायी प्रतिक्रिया को 'निर्यमितता' का नाम देते हैं। 'नियम' शुभ परिणामों के लिए निर्धारित होते हैं और उन्हें 'दैवी' कहा जाता है। 'विस्फोटक' प्रतिक्रया के भी नियम होते हैं, किन्तु 'अशुभ' होने के कारण उन्हें 'आसुरी'-वृत्ति कही गई है। वह 'न'-कारात्मक होने से 'नियम' की श्रेणी में नहीं रखा जाता।

माँ ने आगे कहा– इसी आधार पर आर्ष-विचारकों ने हर वस्तु को त्रिगुणात्मक– अर्थात् सात्त्विक, रजस् और तमस् के सम्मिलन का परिणाम, कहा है। इसमें 'रजस्' गत्यात्मकता का द्योतक है। 'सत्त्व' शुभ, तथा 'तमस्' अशुभ के द्योतक हैं। निर्माण के लिए 'शुभात्मक' गत्यात्मकता को अपनाना, दैवी-प्रवृत्ति कही जाती है; और 'अशुभात्मक' गत्यात्मकता को 'आसुरी प्रवृत्ति' अथवा 'विध्वंसात्मक प्रवृत्ति' कहते हैं। आर्ष-विचारक सृजन के उपासक हैं। फलतः उनका हर 'कर्म' समन्वयात्मक होता है, हर 'कर्म' के पीछे एक समन्वयात्मक विचारणा रहती है। यह समन्वयात्मक विचारणा ही 'नियम' कहलाता है। यह सकारात्मक है। इसमें 'व्रत' है, 'प्रतिज्ञा' है। इसमें अनिवार्यता भी है और ऐच्छिकता की स्वतन्त्रता भी। यह नकारात्मक अथवा दमनात्मक या विध्वंसात्मक नहीं होता। 'नियम' का उल्लंघन ही विध्वंसात्मक सिद्ध होता है।

माँ ने कहा– आर्ष विचारकों ने इस 'नियम' को 'परमार्थिक' एवं 'परमात्मिक' स्तर पर 'सत् चित् आनन्द' के रूप में देखा है। 'सत्' अभिकारक अवयव है, 'चिद्' क्रियात्मक अवयव, एवं 'आनन्द' पारिणामिक (resultant) अवयव।

माँ ने समझाया– तीन शक्तियों का समन्वय' किसी भी अस्तित्व

अथवा सत्ता के लिये अनिवार्य है । सृष्टि की गत्यात्मकता का यही रहस्य है । 'गुण' और 'कर्म' का सम्यक समन्वय ही परिणाम को सम्यक रख पाता है, आनन्द का सृजन कर पाता है । यह 'सत् चित् आनन्द ही 'ऋत्' है, अर्थात् सृष्टि का शाश्वत नियम है, जिसे सभी देव, दानव, मानव मानते हैं।

माँ ने कहा– ऋत का ज्ञान ही प्रकाश है । वही दिव्यता है । यही ज्ञान और विज्ञान है ।

माँ ने कहा– 'सत् चित् आनन्द' की समन्विति का नाम ही 'परम-शक्ति' है । यही कारण है कि आर्ष-विचारक उसे 'सच्चिदानन्दघन' कहते हैं । वह 'परतम-शक्ति' ही उनका (आर्षविचारकों का) पर-ब्रह्म है। क्योंकि वह अपनी 'परतम' स्थिति में सबकुछ स्वयं है । वह 'परतम' शक्ति, वस्तुतः निर्गुण ज्योतिर्मय शक्ति है, जो दृष्टि का साधन होते हुए भी स्वयं अपने आप में अगम्य और अदृष्ट है ।

माँ रसायन विज्ञान का आधार लेकर सुगमता से मुझे आर्ष-विज्ञान की ओर अभिप्रेरित कर सकने में समर्थ सिद्ध हुईं । मैं माँ का कोई प्रतिकार नहीं कर सका । वह सत्यतः एक़ शिक्षिका हैं; और वह भी विज्ञान की । मेरी माँ मेरे लिए प्रातः स्मरणीया हैं; क्योंकि वह स्वयं में एक प्रकाशमय शक्ति-पुञ्ज हैं ।

●

सन्दर्भ :

1. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो मरुत्मान ।
   एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। ऋग्वेद 1/164/46 [पृष्ठ 320, प्रथम खण्ड]
2. वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुण कहे गये हैं । 'गन्ध' एक गुण है । वैशैषिंक 'पृथ्वी' को 'गन्धवती' शब्द से संज्ञापित करते हैं ।
3. शब्द-'गन्ध'; संस्कृत-हिन्दी कोश; पृष्ठ-333
4. ऋग्वेद, 5/45/5
   "एतोन्वद्य सुध्यो भवाम प्र दुच्छुना मिनवामा वरीय ।"
   भावार्थ है अब आ जाओ । आंज हम विचार में पूर्ण हों । कष्ट और असुविधा को नष्ट कर दें । उच्चतर सुख को अपनावें ।

'ॐ'

[उनतीस]

माँ ने कहा– आज मैं आपसे 'आदित्यों' के सन्दर्भ में कहने जा रही हूँ। क्या आप बता सकते हैं कि 'आदित्य' शब्द क़ा क्या अर्थ होता है ?

मैंने सोचा– 'आदित्य' शब्द से तो 'सूर्य' का बोध होता है । किन्तु, माँ ने तो 'आदित्यों' शब्द का व्यवहार किया है । इसका अर्थ है कि 'आदित्य' मात्र-सूर्य से ही अर्थ नहीं रखता । फिर स्मरण पर जोर देकर सोचने पर याद आया– देवताओं की माता के रूप में 'अदिति' का नाम आता है । अब तक मैं स्पष्ट हो चुका था– मैंने विश्वासपूर्वक कहा– 'अदिति के पुत्र' ।

माँ जैसे अतिशय आह्लादित हो उठीं । बोलीं– बहुत ठीक । उन्होंने मुझे दुलराया, फिर बोलीं–

देवमाता 'अदिति' के पुत्र 'आदित्य' कहलाते हैं । हमारे 'पुराणों की व्याख्या के अनुसार 'अदिति' 'कश्यप' की अनेक पत्नियों में से एक हैं ।[1] दिति, दनु आदि अन्य पत्नियाँ हैं । 'दिति' से कश्यप के जो पुत्र हुए उन्हें 'दैत्य' कहा गया; 'अदिति' से उत्पन्न पुत्रों को 'आदित्य' या 'देवता'; और 'दनु' से उत्पन्न पुत्र दानव कहलाये ।

माँ ने मेरी जिज्ञासा शान्त करते हुए कहा– 'कश्यप' 'प्रजापति' थे । 'प्रजापति' वह होता है जो प्रजा या प्राणियों का सृजन करता है अेर उसकी सुव्यवस्था करता है । कश्यप की पत्नियाँ 'दक्ष'-प्रजापति की पुत्रियाँ थीं ।

माँ ने कहा– वस्तुतः जैविक सृष्टि के विकास में 'प्रजनन' क्रिया का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । प्रजनन-कार्य को, पुरुष और स्त्री तत्त्वों के बीच भेद कर, आर्ष-विचारकों ने 'अदिति' से स्त्री-तत्त्व को, एवं 'दक्ष' से पुरुष-तत्त्व को निरूपित किया है ।[2] 'अदित्ति' को स्वाधीनता तथा निरपराधिता का स्वरूप कहा गया है । ऋग्वेद का मन्त्र-द्रष्टा उसे निस्सीम मानता है । उसके अनुसार-"आकाश, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सम्पूर्ण देवता, सभी जातियाँ, अथवा जो उत्पन्न हुआ है और होगा, वह सभी अदिति-रूप है । (ऋग्वेद 1/89/103); संदर्भ संख्या-10

माँ ने कहा– जैविक सृष्टि की विविधताओं ने स्त्री–तत्त्व के विविध–रूपों की अवधारणा दी है । यही कारण है कि स्त्री–तत्त्व के 'सत्तरह' (17) या 'तेरह' (13) रूपों को निरूपित करने के लिए 'दक्ष' की सत्तरह अथवा तेरह कन्याओं से 'कश्यप' के विवाह की बात कही गई ।[3] इस वैवाहिक सम्बन्ध से सम्पूर्ण सृष्टि में पाये जानेवाले प्राणियों का जन्म हुआ कहा गया है ।

माँ ने कहा– वस्तुतः 'नारी तत्त्व' को 'क्रियात्मक–शक्ति' के रूप में अवधारित किया गया है । इस तरह क्रियात्मक–शक्ति का वैविध्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है ।

माँ ने कहा– यह 'क्रिया–शक्ति' मूल–भूत शक्ति और अस्तित्व का आधार है । वस्तुतः 'शक्ति' का जागरण ही सृष्टि का आरम्भन है । 'शक्ति' और 'अस्तित्व' को ही शाक्तों ने 'क्रिया' और 'भूति' कहा है । ये 'कार्यान्विति' और 'कार्य' के द्योतक हैं । कार्य में आश्रित सत्ता, अर्थात 'गुण' द्वारा ही क्रियात्मक–शक्ति का परिचय मिलता है । 'ज्ञान', 'शक्ति', 'प्रतिभा', 'बल', 'पौरुष', और 'तेज' ऐसे ही गुण हैं । (हिन्दू धर्म कोश)

माँ ने कहा– स्पष्ट है कि 'अदिति' की अखण्डता और निस्सीमता उसके 'शक्ति–रूप' की ही परिचायिकाएँ हैं । अदिति अविभाज्य चेतना और शाश्वत ज्ञान–ज्योति का निरूपण करती है । ऐसी अदिति के पुत्र ही 'आदित्य' कहे गये हैं ।

माँ ने कहा– 'आदित्यों का परिचय देने के सन्दर्भ में 'देव'–वर्ग में नौ गण–देवों की अवधारणा दी गई है ।[4] इन्हीं नौ गण–देवों में एक 'गणदेव' हैं 'आदित्य' । आदित्यों की संख्या बारह है । वे बारह आदित्य हैं– 'धाता', 'मित्र', 'अर्यमा', 'रूद्र', 'वरुण', 'सूर्य', 'भग', 'विवस्वान', 'पूषा', 'सविता', 'त्वष्टा' और 'विष्णु' ।[5]

माँ ने कहा– हैं तो ये सभी ऋग्वैदिक देवता, किन्तु बाद के काल में एक ही देवता, 'सूर्य', के विभिन्न रूप मान लिये गये ।[6] ऋग्वैदिक काल में इनका महत्त्व अलग–अलग ही आँका गया था । समष्टि–रूप में उन्हें 'गण–रूप' पहचान दी गई थी । आदित्य–वर्ग के देवगण आश्रय–दाता हैं । 'आश्रयदाता' के रूप में वे 'धाता', अर्थात् 'धारक' और 'पोषक' हैं । धारक

या पोषक-रूप में 'धाता' का स्वरूप 'सूर्य' में स्पष्टतः नज़र आता है। 'सूर्य' विश्व का केन्द्र-स्थानी है । उसके ही गुरुत्व-केन्द्र में आश्रित उसके आभा-मण्डल में जीती-घूमती हमारी पृथ्वी उसके उपकार को भला कैसे भूल सकती है ? अपने ताप से 'सूर्य-रूप' आदित्य हमें निर्दोष और स्वस्थ रखता है, साथ ही अपनी ऊर्जा से पार्थिव सम्पदा की वृद्धि करता है ।[7] 'सविता' रूप में यह आदित्य 'प्राणदायक' है । 'सविता' शब्द 'सू' धातु-शब्द से निष्पन्न है, और 'सू' धातु-शब्द का अर्थ होता है 'प्राण प्रदान करना ।[8] वस्तुतः 'प्राणन' की क्रिया जहाँ 'प्रेरकता' का अर्थ देती है, वहाँ वह 'रचयिता' होने का भी अर्थ देती है । 'सविता'-रूप 'सूर्य' सत्य का प्रतीक है ।[9] 'देवता' वस्तुतः 'कार्य-निर्वाहक बल' के द्योतक हैं ।[10]

माँ ने कहा– 'सविता'-रूप 'सूर्य' उत्पादक के रूप में 'अव्यक्त' को 'व्यक्त करता है । वह जीवन-रस का उत्पादक है । वह आदित्य रूप में पूर्णता का निरूपक है ।

माँ ने कहा– 'अदिति' पृथ्वी का पर्याय है, और साथ ही 'गाय' के रूप में 'ज्ञान-ज्योति' का प्रतीक भी ।[12] वह स्वतंत्रता, सहजता, स्वाभाविकता, स्वच्छता की प्रतीक है । 'अदिति' वस्तुतः अपनी अखण्डता में वह शुद्ध ज्योति-रूप है, जो बाह्य रूप में सूर्य-रूप से ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करती है और 'ज्ञान-ज्योति' रूप से मानवीय अन्तर्दृष्टि को ज्योतिष्मान बनाती है। वह वस्तुतः यथार्थ की प्रकाशिका है ।

माँ ने कहा– आर्ष विचारकों की दृष्टि में 'यथार्थ', वस्तुतः 'सत्य' का द्योतित या प्रकाशित रूप है ।

'सत्य' या यथार्थ भी, वस्तुतः अस्तित्व या सत्ता से सम्बद्ध है । भौतिक अस्तित्व की व्याख्या करते हुए माँ ने कहा– 'एक-विमिय' दिक्-काल सहित हमारा क्रियात्मक 'त्रि-विमिय' शरीर, वस्तुतः 'शक्ति-रूप' और 'प्रकाश-आवृत्त' अस्तित्व ही तो है । शरीर की त्रिविमियता जहाँ हमें वाह्य रूप से शरीरतः क्रियाशील रखती है, वहाँ आभ्यन्तरतः 'वही' (त्रिविमियता) 'शक्ति-सृजक' अवयवों को धारण करती हुई हमारे क्रियात्मक चैतन्य का उसे (शरीर को) आश्रय बनाती है । इन दोनों के सम्यक् समन्वयन के अभाव में सम्भवतः न तो कुछ भी अस्तित्व में रह सकता

और न ही कुछ क्रियात्मक रहता ।

माँ ने कहा– हमारा शरीर 'शक्ति' का 'वास्तविक' (material) रूप (form) है । इसकी क्रियाशीलता में 'शक्ति' की ही प्रमुखता होती है । 'प्रकाश' इसका प्रमुख अवयव है । 'प्रकाश' के रूपों में विद्युतीय, सौर अथवा तापीय प्रकाश प्रमुख हैं । 'प्रकाश' के अभाव में किसी भी वस्तु का साक्षात्-ज्ञान सम्भव नहीं । हमारा सारा साक्षात्-ज्ञान प्रकाश-रूप में ही होता है । वस्तुएँ, जिन्हें हमारी आँखें देखती हैं, वस्तुतः प्रकाश-किरणों के रूप में ही हमारी आँखों के माध्यम से मस्तिष्क द्वारा छायाकृत-रूप अधिगृहित होती हैं । 'चेतना' वैद्युतिक प्रवाह-रूप में मस्तिष्क को क्रियाशील करती है, जो ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों की मदद से हमें वस्तु-स्थिति की जानकारी देती तथा उसके अनुकूल प्रतिक्रियात्मक बनाती है । आभ्यन्तरिक एवं वाह्य प्रकाश के सन्दर्भ में आर्ष विचारकों की अवधारणा स्पष्ट है । वे 'प्रकाश' को 'बाहरी सत्य' और 'सत्य' को अन्तःप्रकाश मानते हैं ।[13]

मुझे लगा, जैसे भौतिकी और जैविकी के साथ तथाकथित आध्यात्मिकी के संगम में मैं गोते लगा रहा होऊँ । मुझे लगा जैसे बाहरी सत्य तथा आभ्यन्तरिक सत्य, दोनों का संगम ही यथेष्ट नहीं, उसके लिये अनुकूल मस्तिष्कीय क्रियाशीलता को भी अन्तःसलिला के रूप में निरन्तर बहते रहना अनिवार्य होगा । इन तीनों का संगम ही यथार्थ 'संगम' है । 'बाहरी सत्य', 'वस्तु' है, जो परावर्तित प्रकाश के माध्यम से चर्म-चक्षु द्वारा ग्रहित होता है। बाह्य प्रकाश के अभाव में 'वस्तु' का दृष्ट या साक्षात् ज्ञान सम्भव नहीं। 'वस्तु' की छाया चर्म-चक्षु के अन्तःपटल (ratina) पर उलटे रूप में बनती है । 'रेटिना' पर पड़ी 'छाया' चेतना को उत्तेजित करती है । वह छाया ही चेतना के वैद्युतीय प्रभाव से मस्तिष्क को सक्रिय करती है । मस्तिष्क उस छाया को यथार्थतः दिखलाते हुए वस्तु का यथार्थ ज्ञान देता है । दृष्ट की वास्तविकता जब मनःचिन्तन में पहचानी और व्याख्यापित होती है । तब हमें 'वस्तु' का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है । इस वस्तु की 'उपयोगिता' और 'उपयोगिता के महत्त्व' का जब हमें 'अर्थ' मिलता है तब 'वस्तु' के यथार्थ से परिचित होते हैं । 'यथार्थ' को जानने के बाद उसकी 'परतमता' को जानने के चिन्तन-मनन को ही हम 'आध्यात्म' कहते हैं । यह 'आध्यात्म' ही परतम-रूप 'अध्यात्म' का हमें ज्ञान देता है ।

मुझे लगा, माँ ने ठीक ही कहा था कि विज्ञाता 'आर्ष-विचारकों' की 'वैज्ञानिक भाषा' आज की 'वैज्ञानिक भाषा' से अलग जरूर थी, किन्तु उनकी वैज्ञानिक क्रिया-प्रक्रिया की अवधारणा में विशेष अन्तर नहीं था। यही कारण है कि आर्ष-विचारकों का निर्णय 'सार्वभौमिक' और 'सार्वकालिक' रहा था। मैं पल भर में जैसे सैकड़ों मील चल गया। मुझे लगा मनःगति प्रकाश-गति से भी तेज चलती और बहु-आयामी विस्तार पाती आगे बढ़ती है।

माँ कह रही थीं— 'सविता'-रूप आदित्य मात्र रचनाकार ही नहीं, वरन् 'ऐश्वर्य-रूप 'भग'-आदित्य तक पहुँचने का मार्ग भी है।[14] 'भग' ऐश्वर्यदाता आदित्य है। ऐश्वर्य के माध्यम से दारिद्र्य-दुःख दूर हो सकता है। 'सविता' रचनाकार के रूप में आर्ष-साधकों का उपास्य इसलिए भी है कि वह अपने इस रूप में 'भग' या ऐश्वर्य को उसके सम्मुख उपस्थित करने वाला है।[15]

माँ ने कहा— आदित्यों में 'वरुण' 'मित्र' 'भग' और 'अर्यमा' स्वरूपतः एवं कार्यतः अपने वर्ग में एक दूसरे के निकटवर्ती हैं। 'वरुण' 'रात्रि' और 'अपान' के अधिष्ठता देव हैं; 'मित्र' दिन और 'प्राण' के अधिष्ठाता देवता हैं; 'भग' श्रेष्ठ ऐश्वर्य के देवता हैं; 'अर्यमा' चक्षु और सूर्य-मण्डल के अधिष्ठाता तथा 'संचालक-शक्ति' के निरूपक हैं। ये चारों 'कार्य-निर्वाहक' बल हैं। इस रूप में 'वरुण' विशुद्ध और वृहत् सत्ता, अर्थात् 'ऋत्' का द्योतक है। 'सच्चिदानन्दघन' के 'सत्' का निरूपण 'वरुण'- देव से होता है। 'अर्यमा' प्रधानता का द्योतक है। इस रूप में वह 'चिद्-शक्ति' का भी द्योतक है। वह चेतना का प्रकाश माना गया है। इस रूप में वह सच्चिदानन्दघन की रचनात्मकता में प्रमुख कार्यनिर्वाहक शक्ति है। वह पितरों का प्रधान भी है। इस तरह वह पितर-शक्ति का भी निरूपक है।

माँ ने 'आर्यमा'— रूप 'सौर-शक्ति' पर अपना मन्तव्य देते हुए कहा— कि जैविक क्रियाकलाप में आधुनिक अवधरणा में 'जीन' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह रचनात्मक तथा जैविक 'कार्य-निर्वाहक बल' के रूप में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह 'पितर-शक्ति' के संचरण का माध्यम है। 'सूर्य' को 'ब्रह्म'-रूप, अथवा 'जैविक-सृष्टि' के कारण-रूप 'ऊर्जा-स्रोत'

का मुख्याधार मानकर उसे 'पितर-प्रमुख' माना गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। 'अर्यमा' शब्द का एक अर्थ 'पितरों का प्रधान' या 'पितरों का एक गण या वर्ग' भी कहा गया है ।[16] हर हाल में 'अर्यमा' श्रेष्ठता और महत्ता का, या 'सत्ता' के चेतन प्रकाश-तत्त्व का परिचायक है ।

माँ ने कहा– 'मित्र' प्रकाश और ज्ञान का द्योतक है । 'भग' द्योतक है 'रचनाजन्य' सुखरूपी आनन्द अथवा परम 'ऐश्वर्य' का ।

माँ ने कहा– भौतिक रूप में कार्यरत रचनात्मकता के ये चार कार्यनिर्वाहक बल अपने आध्यात्मिक पक्ष में भी रचनात्मकता के ही 'कार्य निर्वाहक-बल' के रूप में कार्य करते दीखते हैं । 'मित्र' और 'वरुण' कर्त्तव्य-कर्म के नियमों को जहाँ दृढ़ता से धारण करते हैं, वहाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उसका अनुपालन भी दृढ़तापूर्वक कराते हैं । अपने वैयक्तिक रूप में 'वरुण' को वृहत्तरता, सत्यता और शुद्धता का, तथा 'मित्र' को समस्वरता, स्थिरता तथा सम्यक् सम्बन्ध स्थापित करनेवाली शक्ति का परिचायक माना गया हे ।[17]

माँ ने अन्य आदित्यों की ओर मुड़ते हुए कहा– 'जीवन' अपनी गत्यात्मकता में, अथवा क्रियात्मकता, में वैयक्तिक व्यक्तता की ससीमता-सान्तता के दृष्टिकोण, से असीम और अनन्त है, क्योंकि उसका जीवात्मा-रूप क्रियात्मक अव्यक्त-तत्त्व उसे बहुआयामी बना जाता है । अव्यक्तता की अनन्तता-असीमता ही 'परतम' पुरुष को पूर्ण, निर्गुण और नित्य या अविनाशी घोषित करने पर हमें बाध्य करता है । किन्तु, व्यक्तता की परिधि में 'जीवन' के सारे कार्य-कलाप 'अदिति' और 'आदित्य'-रूपी अखण्डित ऊर्जा और उसके कार्य-निर्वाहक विभिन्न 'बल', रूप या देवत्व से व्याख्यापित होते हैं । अन्य आदित्यों में 'रुद्र', 'विवस्वान', 'पूषा', 'त्वष्टा', 'विष्णु' और 'सूर्य' हैं।

माँ ने कहा– 'सूर्य' दृश्य आदित्य है । सौर-मण्डल का केन्द्र-स्थानी होने के कारण वह सौर मण्डलीय वैश्विक सृष्टि का मुख्य ऊर्जा-स्रोत है । सौर-मण्डल के 'ग्रह' (planet) स्वयं और अपने-अपने चारो ओर घूमते उपग्रहों (satellite) के साथ 'सूर्य' की परिक्रमा करते हैं । अपने इस परिभ्रमणात्मक यात्रा में वे जिस जीवन को जीते हैं, उन्हें आर्ष-विचारकों ने 'वैयक्तिक' और 'मानवीय' दृष्टिकोणों से समझने और देखने का प्रयास किया है । व्यक्ति को 'मानवीय' स्तर तक ले जाने और 'मानव' को

'व्यक्ति' में उतारने का उनका अथक प्रयास प्रशंसनीय है। उनकी दृष्टि में 'व्यक्ति' अपने व्यक्त रूप में पशु से भिन्न नहीं। यह तो 'मानवता' है, जो उसे, अर्थात् व्यक्ति को 'मानव'-पद से विभूसित करती है।

माँ ने कहा– व्यक्त 'व्यक्ति' की इन्द्रियाँ जब तक अपनी बुभुक्षा को मिटाने में लगी रहती हैं वह व्यक्ति पशुवत् ही रहता है; उसका आभ्यन्तरिक बुद्धि-तत्त्व जागरित नहीं होता। और जब वह जागरित होता है, व्यक्ति जैसे सूर्य के प्रकाश में पूर्णतः सराबोर हो जाता है– वाह्यतः भी, और आभ्यन्तरतः भी। वह तब वाह्य सत्य और आभ्यन्तरिक सत्य, दोनों को पहचानता और वैश्विक सृष्टि को उसके 'परतम' रूप में देखने का प्रयास करता है। यहाँ ही उसका साक्षात् स्वतः-प्रकाश ज्ञान (Revelation), अन्तः प्रेरणा (Inspiration), अन्तर्ज्ञान (Intuition) और प्रकाश-पूर्ण विवेक (luminous discernment) जैसी प्राज्ञीयता से होता है। वह वैयक्तिक 'पशु' अपने ऐन्द्रिय बुभुक्षा से उठकर 'प्रज्ञानघन' का अंश अर्थात् दिव्य 'ज्ञान-किरण' का रूप ले लेता है। वह 'पशु', तब पशु नहीं रह जाता, वेदों का 'उस्र', 'उस्रा', 'उस्रिया' बन जाता है; प्रकाशमान 'दिव्य गोधन' या 'ज्ञान-किरण' का रूप ले लेता है।

माँ ने कहा– भौतिकतया 'उस्र' कहते हैं साँड़ को, 'उस्रा' गाय है और 'उस्रिया' गो-धन या गोधन का निवास-स्थल या चारागाह। वेदों ने गो-धन की भौतिकता को 'प्रकाश-किरणों', 'दिव्य-ज्ञान' के स्रोतों के रूप में देखा समझा और वर्णन किया है।

मैं 'उस्रिया' शब्द पर जैसे सजग हो उठा था। मैंने माँ से पूछा– हमारे पैतृक ग्राम का नाम 'उसरहिया' सम्भवतः इसी 'उस्रिया' का अपभ्रंश रूप तो नहीं ?

माँ ने निर्णायक शब्दों में कहा– हाँ। 'उस्रिया' शब्द वस्तुतः स्थल-विशेष की व्याख्या है। यह उस स्थान-विशेष की व्याख्या है जो नदी-विशेष की धारा के पश्चिमी ऊँचे किनारे पर होती है, जिसे 'उषा' और 'सूर्योदय' की प्रकाश-किरणें नदी के जलधार से परावर्तित होकर प्रकाशमान करती चली जाती हैं। वह एक साथ ही 'ऐश्वर्य'[18] और 'ज्ञान' का संसाधन सिद्ध हो उठती है। उसकी ऐश्वर्यीय उर्बरता असीम हो उठती है।

माँ ने मेरी जिज्ञासा को शान्त करने के बाद कहा– सूर्य की किरणें पृथ्वी को, या वैश्विक सृष्टि को, मात्र प्रकाशित ही नहीं करतीं, वरन् उसे हर रूप में विकसित होने का अवसर भी देती हैं, प्रेरित करती हैं । यही कारण है कि वह 'सविता' है । 'सविता'–रूप 'सौर–शक्ति' प्रेरणापूर्ण रचनात्मकता का आगार है, साधन है । सौर–शक्ति का भौतिक रूप जहाँ उसे 'धातृ'–शक्ति रूप में 'धाता' बनाता है, वहाँ 'पोषक' रूप में 'पूषा' । 'पूषा'–रूप में वह पशु–धन की वृद्धि और उन्नति का कारण होता है । यह उन्नति निश्चिततः भौतिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों से सम्बद्ध है । कहते हैं– स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है ।

माँ ने कहा– 'सूर्य'–रूप में वह आदित्य विश्व को गतिशील रखते हुए अपने स्थान से ही उसे हर पल प्रकाशमान रखता है; स्वयं उसे देखता तथा उसे दिखलाता भी है । वह अपनी रचनात्मकता में जहाँ विश्वकर्मा–रूप 'त्वष्टा' है, वहाँ विश्लेषण–संश्लेषण–समन्वयन के रूप में 'विष्णु' भी है, जो 'स्थिति' के लिये उत्तरदायी है । विध्वंसक और नव निर्माण की शक्ति के रूप में वह जहाँ 'रुद्र' है, वहाँ सबसे ऊपर वह मानव–व्यक्ति को उसके 'पशुत्व' से छुटकारा दिलाने और दिव्य–किरण का रूप देने के लिए मनः–प्रकाशरूप 'मनु' का जनक भी है । वह 'मनुष्य' का आदि–पितर है । आदि पितर के रूप में वह सर्व–श्रेष्ठ है, 'अर्यमा' या 'अर्यमन्' है । 'दिन' का निर्माता वह 'दिवाकर' है ।

'दिवाकर' शब्द के साथ माँ ने मेरा मस्तक सूँघा, प्यार किया और बोली– आप हमारे 'पीयूष' ही नहीं, 'दिवाकर' भी हैं । 'सूर्यांश–रूप' (सूर्य-पर्व, अर्थात् षष्ठी–व्रत के सांध्य अर्घ्य के दिन पैदा होने के कारण मुझे मेरे पिता 'सूर्यांश' ही मानते हैं) आप हमारी आँखों की ज्योति और जीवन–प्रकाश हैं ।

मैं अपने माता–पिता का जीवन हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं । किन्तु, माँ का असमय जाना हम दोनों पिता–पुत्र के लिए शायद सह्य नहीं हो रहा। हम तीनों ही एक दूसरे के प्राण रहे हैं । क्या एक के चले चले जाने से दूसरे दोनों रह पायेंगे ? मेरे मन में यह प्रश्न बार–बार कौंधता रहता है ।

●

सन्दर्भ :

1. ब्रह्मा के छः मानस-पुत्रों में से एक 'मरीचि' थे, जिन्होंने अपनी इच्छा से 'कश्यप' नामक 'प्रजापति'-पुत्र उत्पन्न किया। कश्यप ने दक्ष प्रजापति की सत्तरह (17) पुत्रियों से विवाह किया। अन्यत्र भार्या की यह संख्या तेरह है। प्रमुख हैं- दिति, अदिति, दनु आदि। [हिन्दू धर्म कोश; पृष्ठ 170; कश्यप]

2. हिन्दू धर्म कोश; पृष्ठ- 309; शब्द- 'दक्ष'

3. 'अदिति' से आदित्य या 'देवता'; 'दिति' से दैत्य; 'दनु' से दानव; 'काष्ठा' से अश्वादि; 'अनिष्टा' से गन्धर्व; 'सुरसा' से राक्षस; 'इला' से वृक्ष; 'मुनि' से अप्सरागण; 'क्रोधवशा' से सर्प; 'सुरभि' से गौ और महिष; 'सरमा' से श्वापद (हिंस्र पशु); 'ताम्रा' से श्येन-गृध्र आदि; 'तिमि' से यादोगण (जल-जन्तु); 'विनता' से गरूड़ और अरुण; 'कद्रू' से नाग; 'पतंगी' से पतङ्ग; 'यामिनी' से शलभ की उत्पत्ति हुई।

4. नौ गण-देव और उनमें देवों की संख्या (संख्या कोष्टक में)- आदित्य (12); विश्व या विश्वेदेवा (10); वसु (8); तुषित (12 या 36); आभास्वर (64); अनिल (49); महाराजिक (220); साध्य (12); एवं रूद्र (11)। [अमर कोषः /पृष्ठ-3(फुट नोट)/काण्ड-1; स्वर्ग वर्ग -1; श्लोक -10]

5. मानक हिन्दी-कोश; प्रथम खण्ड; पृष्ठ - 264; शब्द - 'आदित्य'।

6. हिन्दी धर्म कोश; पृष्ठ - 52; शब्द-'अर्यमा'।

7. ऋग्वेद; 7/51/1-3 [पृ० 1045 ऋग्वेद भाग-3]

8. मानक हिन्दी कोश (पञ्चम खण्ड) पृष्ठ-313; शब्द - 'सविता' [सू (प्राण प्रदान करना) + तृच्]

9. एवं 10. वेद-रहस्य (पूर्वार्द्ध); 'भग सविता'; सातवाँ अध्याय; पृष्ठ 387 एवं 386

11. ऋग्वेद; 1/89/10

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ।।"

12. संस्कृत-हिन्दी कोश; 'अदिति' शब्द का अर्थ ।

13. हिन्दी धर्म कोश, पृष्ठ-521; शब्द- 'मित्र' ।

14. ऋग्वेद; 5/82 (पृष्ठ - 824, खण्ड-2)

"तत् सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् ।

श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ।। 1 ।।"

अर्थात्, 'हम साधक सवितादेव से भोग्य ऐश्वर्य की याचना करते हैं। उनकी कृपा से हम 'भग' देवता के पास से श्रेष्ठ ऐश्वर्य तथा उपभोग्य और शत्रुओं का नाश करने वाला धन प्राप्त करें ।'

15. ऋग्वेद 5/82/5

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।

यद् भद्रं तन्न आ सुव ।। 5 ।।"

अर्थात्, "हे सविता देव ! हमारे सभी अनिष्टों को दूर करते हुए हमें सौभाग्य और ऐश्वर्य प्रदान करो ।"

16. संस्कृत-हिन्दी कोश; पृष्ठ 100; शब्द-'अर्यमन' ।

मानक हिनी कोश (प्रथम खण्ड) पृष्ठ 185; शब्द- 'अर्यमा' [आ (मान)+ कनिन]

17. वेद रहस्य (श्री अरविन्द); (पूर्वार्द्ध खण्ड; द्वितीय खण्ड); अध्याय-7 'भग सविता, आनन्दोपभोक्ता' - पृष्ठ 385-86

18. 'ऐश्वर्य' छः भगों में एक है । अन्य पाँच भग है– वीर्य, यश, शोभा, ज्ञान और वैराग्य । ऐश्वर्य के पर्याय हैं– विभूति, भूति, प्राप्ति, प्रकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता ।

पृष्ठ - 146, हिन्दू धर्म कोश ।

'ॐ'

[तीस]

माँ ने कहा– 'मानव-मनन' की यह खूबी है कि वह अपने तर्क-वितर्क, अथवा बुरे-भले की खोज में यथार्थ और भलाई के पक्ष में निर्णय लेता रहा है। वह अयथार्थ, अथवा बुराई को पहचान-भर लेता है उसे अपनाता नहीं। उससे अपनी दूरियाँ बढ़ाता हुआ 'मानव-मन' भलाई को उजागरित करता चला जाता है। बुराई के प्रति उसकी यह भावना उसके 'वाक्' और 'वाङ्मय' में जगजाहिर होती रही है। वेद की ऋचाओं के 'असुर', 'पणि', 'दस्यु' या 'दानव' हों, अथवा आधुनिक तानाशाही अथवा आतङ्कवादी-प्रवृत्ति, हर काल, हर युग में विचारकों ने अयथार्थ और बुराई का साथ न देना अपना कर्त्तव्य-कर्म, या धर्म माना है; उनकी भर्त्सना की है।

माँ ने कहा– 'मानव-मनन' 'कल्याण' में भी, मात्र वैयक्तिक कल्याण पर रुक नहीं जाता, वह 'सार्व' और परम के लिए 'परतम' कल्याण की खोज करता है। वह 'सर्वकल्याण' को परम-कल्याण या यथार्थ-कल्याण की कसौटी मानता है। वह 'संगठन' का पक्षधर है, क्योंकि वह 'विघटन' में 'सर्वनाश' का बीज देखता है।

माँ ने कहा– 'मानव-मनन' कल्पना की ऊँची उड़ान में नहीं जीता। वह जीता है दृष्ट-अदृष्ट यथार्थ में। वह जीता है प्रकृति और प्रकृति के अवयवों में। वह जीता है अनुभवों और अनुभूतियों में। 'ऐन्द्रिय'-अनुभवों के 'प्रत्यक्षण' में वह 'अनुमिति' का सहारा लेकर विभिन्न प्राकृतिक या सहज-स्वाभाविक अवयवों के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित करता है और उपमिति के सहारे प्रकृति में ही उसका 'उपमान' खोजकर अपने वाङ्मय द्वारा 'मानव-संसार' के समक्ष अपनी प्रतिक्रियाओं, अपने विचारों और निर्णयों को उसकी भलाई के लिये रख देता है।

माँ ने कहा– 'मानव-मनन' का निर्णय मानव-कर्म को निर्धारित करता है–

"सभी 'भूतों' के प्रति अद्रोह, अनुग्रह और दान का भाव, और वह भी 'मन-वचन-कर्म' की समष्टि में रखना ही मानव का पुरातन या सनातन धर्म है।"[1]

'अनुमिति' में कोरी कल्पना की स्थिति को नकारते और 'कल्पना' के अस्तित्व की व्याख्या करते हुए माँ ने कहा– जिसका अस्तित्व ही नहीं, उसकी 'कल्पना' भी सम्भव नहीं । 'कल्पना' तो, वस्तुतः 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' और 'उपमान' का यथार्थ-विध 'सम्पादन' है । वहाँ 'प्रत्यक्ष' या 'साक्षात' का विश्लेषण 'अनुमान' में होता है, और 'उपमान' में वही 'विश्लेषित' अपना संश्लेषणात्मक रूप धारण कर वस्तु की 'यथार्थता' का बोध कराता है । 'अनुभूति' में 'मानव-मनन' 'यथा' को 'अर्थ' देता है; अव्याख्यापित को 'अनुमान-उपमान' के व्याख्यापन द्वारा व्याख्यापित करता है । 'वैयक्तिकता' जब कभी किसी 'साक्षात' या 'प्रत्यक्ष' को समझ नहीं पाती, उसे उस 'साक्षात' या 'प्रत्यक्ष' को समझने के लिये 'अर्थ' ढूँढ़ने होते हैं । वह 'अनुमान-विध' उसका विश्लेषण करता है, और 'उपमान-विध' 'अर्थ-रूप' में उसका एक 'सगुण-रूप' खोज कर, उसको एक 'उपमान-रूप' देता है। यह 'उपमान-रूप' ही उस अव्याख्यापित की 'यथार्थता' का बोधक होता है। 'अनुभूति' में 'संश्लेषित साक्षात' का आनुमानिक विश्लेषण और औपमानिक संश्लेषण इतनी तेज वैचारिक-गति से होता है कि 'वैयक्तिकता' की स्थूलता उसे समझ ही नहीं पाती । 'वैयक्तिकता' की अवैज्ञानिकता उसे एक रहस्य समझकर 'लोकोत्तर' अथवा 'अलौकिक' शक्ति मान बैठती है ।

माँ ने कहा– 'कल्पना' शब्द की व्युत्पत्ति 'क्लृप्' धातु-शब्द से हुई है, और इस धातु-शब्द का अर्थ होता है– 'प्रकाशित करना', 'सुप्रबद्ध तथा विनियमित होना', 'सँवारना', 'स्थिर करना' ।[2] इस तरह 'कल्पना' शब्द का अर्थ होता है– 'रूप देना', 'व्यवस्थित करना', 'संरचना', और 'आविष्कार'।

माँ ने समझाया– 'व्यक्ति' को वास्तविक्ता का जितना ही अधिक ज्ञान होगा उसकी 'कल्पना'-शक्ति उतनी ही अधिक सक्रिय, सशक्त और गतिशील होगी । 'वास्तविकता' के ज्ञानाभाव में 'कल्पना'-शक्ति शून्य होती है । 'आनुभूतिक' प्रक्रिया में 'ऐन्द्रिय-प्रत्यक्षण' की 'मनः स्मृति' ही क्रियाशील होती है, 'ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष' नहीं । 'ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष' सद्यः अनुभव का कारण बनता है ।

मेरी जिज्ञासा शान्त करते हुए माँ ने कहा– 'कल्पना'[3] शब्द से यद्यपि कि 'कृत्रिमता', और 'कपटता' का भी अर्थ-बोध होना कहा गया है, किन्तु ये 'न-कारात्मक' अर्थ 'कल्पना'-शब्द की अपभ्रंशित व्यावहारिकता के

लक्षण हैं, जो कि बाद के काल में 'कोरी कल्पना' जैसे व्यवहार के साथ जुड़कर आया हो सकता है । मीमांसा दर्शन में 'कल्पना' शब्द के लिए 'अर्थापत्ति' शब्द का व्यवहार किया गया है ।[4] 'अर्थापत्ति' शब्द का अर्थ है– 'ऐसा प्रमाण जिससे एक बात कहने पर दूसरी बात आप से आप सिद्ध हो जाय।' अलङ्कार-रूप में भी यह शब्द इसी अर्थ में मान्य है । इस शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'प्रिजम्पशन'[5] (Presumption) कहा गया है, जो सम्भवतः पूर्णतः शुद्ध या सटीक नहीं। 'कल्पना' मात्र पूर्वानुमान नहीं । वस्तुतः 'कल्पना' मनःजात वह कला-कौशल है, जो वाह्य वस्तुस्थिति को कलात्मक व्यवस्थिति प्रदान करता है ।

माँ ने कहा– आर्ष विचारणा में 'अनुमान' वस्तुतः सटीकता और यथार्थता से सम्बद्ध है । वह पूर्णतः यथार्थ विवेचन की देन है, कोई अटकलबाजी नहीं । इसमें अंग्रेजी पर्याय 'प्रिजम्पशन' का एफ्रॅन्टॅरि (effrontery) अर्थात् 'धृष्टता', अथवा ऐरॅगॅन्स (arrogance), अर्थात् 'अहंकार' या 'अक्खड़पन' अथवा 'दुराशा' (false hope) का भाव नहीं । आर्ष विचारणा अथवा आधुनिक 'तर्कशास्त्र' में 'अनुमान' शब्द पूर्णतः तथ्यात्मक आधार पर निर्वचित होता है । वहाँ एक 'तथ्य' से दूसरा तथ्य प्राप्त होता है। 'यथा' को 'अर्थ' मिलता है, 'यथा' की 'व्याख्या' होती है । 'यथा' का अभाव नहीं होता।

माँ ने कहा– 'अनुमान', वस्तुतः, 'शुद्ध विचारण' की देन है । आर्ष-विचारणा में 'अनुमान' का विशेष महत्त्व है, और वह आकारिक (Formal) एवं वास्तविक (Material) दोनों प्रकार की सत्यताओं (truth) पर आधारित होता है । यहाँ 'आगमन' और 'निगमन' दोनों तर्कों का समन्वयन पाया जाता ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारण का 'अनुमान', मात्र अपनी समझ के लिए नहीं होता । अपनी समझ के लिए वहाँ अपना विचार तो स्मरण में रहता ही है । वे तो मात्र दूसरों के संशयों को दूर करने के लिए 'अनुमान' का सहारा लेते हैं । फलतः 'अनुमान' के निर्वचन के लिए वे कम-से-कम पाँच वाक्यों में तीन पदों को व्यवस्थित करके उसकी यथार्थता प्रस्तुत करते दीखते हैं । इन पाँच वाक्यों की व्यवस्थिति शास्त्रानुसार निम्न रूप में होती है–

सर्वप्रथम जिस बात को सिद्ध करना है, उसे वाक्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है; इसे 'प्रतिज्ञा' (Proposition) कहते हैं। फिर, 'प्रतिज्ञा' का कारण (reason) स्पष्ट किया जाता है। तीसरे स्थान पर दृष्टान्त (example) को स्पष्टीकरण के रूप में रखा जाता है। यह अनुमान में आगमन और निगमन के समन्वयात्मक प्रवृत्ति का बोधक सिद्ध होता है। चौथे स्थान पर अनुमान में 'निरपेक्ष' व्यापकता का प्रदर्शन, दृष्टान्त (example) के आधार पर ही, किया जाता है। इस वाक्य को उपनय (application) कहा गया है। और अन्ततः निष्कर्षात्मक वाक्य 'निगमन' (conclusion) रूप में रखा जाता है। इससे प्रतिज्ञा (Proposition) की सिद्धि पूर्ण होती है।

माँ ने इसे समझाने के लिए पाँच वाक्य क्रमबद्ध रूप में रखते हुए कहा– 'राम मरणशील है'। यह प्रतिज्ञा (Propositon) है। 'क्योंकि वह मनुष्य है'– यह हेतु (Reason) है। 'सभी मनुष्य मरणशील होते हैं; यथा कृष्ण, मोहन आदि'– यह द्रष्टान्त (example) है। 'राम भी मनुष्य है'– यह उपनय (Application) है। 'अतः राम मरणशील है' यह निगमन (conclusion) है।

इन पाँच वाक्यों में तीन पद हैं– 'राम', 'मरणशील' और 'मनुष्य'। तर्क-शास्त्र के तकनिकी रूप में कहें तो 'राम'- पद को 'पक्ष-पद' (Minor term), 'मरणशील'- पद को 'साध्य' (Major term), तथा 'मनुष्य'- पद को 'लिङ्ग' (Middle term) कहा जाता है। 'राम'- पद जो 'पक्ष', को निरूपित करता है, उद्देश्य का निरूपक है; 'मरणशील'- पद, जो 'साध्य' का निरूपक है 'विधेय' का निरूपक है। और 'मनुष्य'- पद जो मध्यस्थ का है, जिससे 'पक्ष' तथा 'साध्य' में सम्बन्ध स्थापित होता है, 'लिङ्ग' (Middle term) कहा जाता है।

माँ ने कहा– इस तरह आपने देखा कि आर्ष-विचारणा में 'अनुमान' निश्चयन की प्रक्रिया है, जो पूर्णतः वैज्ञानिक विधि पर आधारित है, वहाँ 'संवेदनशीलता' तथा 'अनुभव' के प्रति आदर का भाव भी निहित है। आर्ष-विचारकों की 'अनुमान'-सन्दर्भित विचारणा 'सामान्य' (Universal) के आधार पर 'विशेष' से 'विशेष' की ओर अग्रसर होती है और 'परतम' तक पहुँचती है।

माँ ने कहा– 'यथार्थ-ज्ञान' की प्राप्ति के साधन हैं– 'प्रत्यक्ष',

'अनुमान', 'उपमान' और 'शब्द'। आप प्रथम तीन साधनों से परिचित हैं। 'शब्द' से भी आप अवगत हैं, किन्तु 'यथार्थ ज्ञान'-प्राप्ति का साधन-रूप 'शब्द', वस्तुतः 'आप्त पुरुषों द्वारा कहे गये शब्दों का अर्थ रखता है। ये 'शब्द' मात्र शब्द नहीं होते, वरन् स्वयं-सिद्ध 'सत्य विचार' होते हैं।

माँ ने 'आप्त पुरुष' के सन्दर्भ में मेरी जिज्ञासा शान्त करते हुए कहा– 'आप्त पुरुष' वे होते हैं, जिन्होंने चरम सत्य का साक्षात्कार कर लिया हो। ये आप्त पुरुष अपने 'स्व' से अलग, 'पर' और 'सार्व' मात्र के लिये मनसा-वाचा-कर्मणा सत्य का अनुसरण करते हैं। यहाँ अन्धविश्वास नहीं होता। यहाँ यथार्थता या सत्यता का अनुसरण होता है। आर्षविचारकों की नजर में सत्य ही सर्वकल्याणकारी होता है, सत्य ही मनसा-वाचा-कर्मणा अनुसरणीय और अनुकरणीय होता है।

माँ ने कहा– 'शब्द' तभी विचारों को प्रकट कर पाते हैं, जब कि उनके बीच परस्पर अपेक्षा का सम्बन्ध हो; उनकी व्यवस्था व्याकरण के नियमों के आधार पर हो; उनमें विचारों को व्यक्त करने की क्षमता और योग्यता हो; वे परस्पर सान्निध्य में हों; और, उनसे कहनेवाले का तात्पर्य निश्चिततः स्पष्ट होता हो।

माँ ने कहा– 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान', 'उपमान' अथवा 'शब्द' के ज्ञाता-ऋषि उन्हें उनके परमार्थ-रूप में लेते हैं। फलतः वे उन्हें 'ब्रह्म' का प्रतिरूप समझते हैं। 'ब्रह्म', अर्थात् 'परमसत्य', 'परम कल्याणकारी'। 'शब्द' इस रूप में विशुद्ध, नित्य और अवनिाशी होते हैं। इनकी अर्थ-निश्चितता और नित्यता ही इन्हें अद्वैत सिद्ध करती हैं।

माँ ने कहा– आर्ष-वाङ्मय को इन्हीं कारणों से सार्वलौकिक, सार्वभौमिक और अपौरुषेय तथा नित्य कहे जाने का गौरव प्राप्त है।

माँ ने कहा– अगर हम 'वेद' को एक 'पुरुष-रूप' में देखें तो इसके छः अङ्गों में– 'शिक्षा', को उस पुरुष की नाक, 'कल्प' को हाथ, 'व्याकरण' को मुख, 'निरुक्त' को कान, 'छन्द' को पैर तथा ज्योतिष को आँख के रूप में देखते हैं। इनमें चार अङ्ग वस्तुतः भाषा विज्ञान से सम्बद्ध हैं। वे हैं– 'शिक्षा', 'निरुक्त', 'व्याकरण', और 'छन्द'।

माँ ने कहा– 'शिक्षा', वर्ण–उच्चारण से; 'निरुक्त', शब्द–व्युत्पत्ति से; 'व्याकरण', शब्द–विचार से; और 'छन्द', मात्राओं और स्वरों के विवेचन से सम्बद्ध हैं । 'शिक्षा' में ध्वनि या वर्ण की उच्चारण–शुद्धता का, निरुक्त में 'पदों' का, व्याकरण में वाक्यों का, और 'छन्द' में 'मात्राओं' तथा 'स्वरों' का विवेचन होता है । वेदाङ्गों में 'कल्प' का सम्बन्ध यज्ञ–यागादि कर्म सम्बन्धी विधि से, तथा 'ज्योतिष' का सम्बन्ध यज्ञ–यागादि करने के योग्य अयन, ऋतु, संवत्सर, मुहूर्त से है ।

माँ ने कहा– वेदाङ्गों[6] में 'शिक्षा' का प्रथम स्थान है । इसमें जहाँ ध्वनि का आरोह–अवरोह, उच्चारण की शुद्धता, उच्चारण की कालावधि का परिसीमन आदि मुख्य विषयों का विवेचन होता है, वहाँ वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान, आदि छः विषयों[7] का वर्णन भी सम्मिलित है । इनके ज्ञान के अभाव में भाषा का शुद्ध उच्चारण और अर्थ–बोध सम्भव नहीं ।

माँ ने कहा– जैसा कि आप जान चुके हैं ध्वनि जो हमारे ओठों से बाहर आती और हम जिसे सुनते हैं, वह स्फोटदर्शन के अनुसार 'बैखरी' है।[8] यह 'कण्ठ' से लेकर ओठ तक में वायु–स्पन्दन से प्रभावित होती हुई ओठ से बाहर ध्वन्यात्मक रूप में आती है । इससे स्पष्ट होता है कि 'वाक्' मात्र कण्ठ से लेकर ओठ तक की ही यात्रा नहीं करता, वरन् आभ्यन्तरिक क्रियात्मकता से भी सम्बद्ध है ।

माँ ने कहा– 'वाक्' देव–रूप, अर्थात् कार्यनिर्वाहक शक्ति–रूप है । उसे एक भावात्मक देवता कहा गया है । वह अभिव्यक्ति का साधन है। 'परा, पश्यन्ती और मध्यमा' रूपों में वह आभ्यन्तरिक वाक्–शक्ति बनी रहती है, और 'ब्रह्म–शक्ति', अर्थात 'आध्यात्मिक शक्ति' का निरूपण करती है । 'परा' का दर्शन योगी को उसकी निर्विकल्प समाधी में होता है, 'पश्यन्ती' का दर्शन सविकल्प समाधी में, और 'अर्थ–ग्रहण' हृदयस्थ 'मध्यमा' में । 'बैखरी' का 'स्फुट शब्द' अथवा 'ध्वनि' भी अपना अर्थ मध्यमा में ही ग्रहण करती है ।

माँ ने कहा– 'वाक्' मात्र ध्वन्यात्मक नहीं होता, विचारात्मक भी होता है, और इस तरह वह विचार अभिव्यक्ति का साधन भी है । वह 'एषणा' और 'प्रयत्न' का परिणाम है । इसकी महत्ता और आवयविक सम्बद्धता बहुमुखी है । वह 'प्राण' का 'वशिष्ठ'–रूप है । 'वशिष्ठ' का अर्थ

आर्ष-विचारकों ने 'ब्राह्मणोचित प्रतिष्ठा तथा शक्ति के आदर्श प्रतिनिधि' के रूप में लिया है ।[१] धनी, कुबेर, वस्तुमान आदि शब्द इसके पर्याय हैं । यह आश्रयदाता-रूप में अपनी जाति में प्रतिष्ठित होता है । श्रेष्ठ वक्ता, जहाँ दूसरों का पराभव करते हैं, वहाँ वे धन से धनी भी होते हैं, उनकी इज्जत भी होती है ।

माँ ने समझाया– वाक् की वसिष्ठता उसकी अपनी ही शुद्धता-विशुद्धता की अपेक्षा रखती है । उच्चारण की शुद्धता 'वैचारिक' अभिव्यक्ति को शुद्ध और बोधगम्य बनाती है । वैचारिक समझ की शुद्धता, 'आचार' को शुद्ध रखती है । शुद्ध उच्चार, विचार और आचार से व्यक्ति विश्वसनीय, गरिमामय और स्वजाति का प्रधान, अर्थात् वसिष्ठ होता है ।

माँ ने कहा– 'शिक्षा-शास्त्र' उच्चारण की शुद्धता से हमारा परिचय कराता है । कहते हैं– 'वेद', 'यज्ञ' आदि से सम्बन्धित मंत्रों के उच्चारण-दोष के कारण जहाँ उनका पाठ दूषित होता है, वहाँ 'कर्म' भी दूषित होकर सबों के लिए अहितकर और भयावह बन जाते हैं ।

माँ ने कहा– उच्चारण-दोष के प्रभाव की एक कहानी है:– असुर-राजा 'वृत्रासुर' और देवराज 'इन्द्र' एक दूसरे के शत्रु थे । कहते हैं 'वृत्र' ने 'इन्द्र' को मारने के लिए एक यज्ञ का अनुष्ठान किया । यज्ञ में शत्रु इन्द्र, अर्थात 'वृत्र' के शत्रु, 'इन्द्र', को मारे जाने-सम्बन्धी मंत्र का उच्चारण होना था, किन्तु वहाँ 'इन्द्र के शत्रु' का अर्थ लेते हुए मंत्र में 'इन्द्रशत्रु' का उच्चारण हो गया । फलतः अमर 'वृत्र' स्वयं ही इन्द्र के हाथों मारा गया । 'इन्द्रशत्रु' अपने उच्चारण में 'शत्रु इन्द्र' का अर्थ नहीं देता ।*

माँ ने कहा– शिक्षा का लक्ष्य सर्वहितकारी-सर्वकल्याणकारी होना है। 'शिक्षा', अन्य वेदाङ्गो के साथ, 'वेद' के विज्ञान, अर्थात् महत्तम अथवा चरम या परतम के ज्ञान का माध्यम है । 'शिक्षा' के माध्यम से शुद्धतम को जानना और उसे जानकर उसमें ही लीन हो जाना– यही साध्य रहा था आर्ष विचारकों का ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों ने शिक्षा के माध्यम से 'लोक', 'ज्योति', 'विद्या', 'प्रजा' और 'शरीर' आदि पाँच स्थानों में संधि (संहिता अथवा सन्तान) का महत्त्वपूर्ण वर्णन किया है । वहाँ इन पाँचों स्थानों की संहिता की समष्टि को 'महासंहिता' का नाम दिया गया है ।

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों ने जैसे सम्पूर्ण सृष्टि की ही व्याख्या पूर्व-वर्ण, पर-वर्ण, संयोजक और संधि के माध्य से कर दी है । वे कहते हैं– 'लोक-विषयक संहिता' में 'पृथ्वी' पूर्व वर्ण, 'द्यौ' पर-वर्ण, 'वायु' संयोजक, तथा 'आकाश' संधि या संन्तान है पृथ्वी और द्यौ की । इसी तरह 'ज्योति'-संहिता' में 'अग्नि' पूर्ववर्ण, 'आदित्य' परवर्ण, 'विद्युत' संयोजक, तथा 'जल' अग्नि और आदित्य की सन्तान है । 'विद्या'-विषयक संहिता में 'आचार्य' पूर्ववर्ण है, 'शिष्य' उत्तरवर्ण है, गुरु का प्रवचन संयोजक तथा 'विद्या', 'गुरु और शिष्य की संहिता का परिणाम है । 'प्रजा' के सन्दर्भ में 'माता' पूर्व-वर्ण, 'पिता' पर-वर्ण, 'प्रजनन' संयोजक या सन्धान, तथा 'प्रजा या पुत्र' संधि या सन्तान है । 'आत्म' विषयक संहिता में नीचे के जबड़े को 'पूर्व-वर्ण' या पूर्व-रूप, ऊपर के जबड़े को पर-वर्ण, 'जिह्वा' को संधान तथा 'वाक' को सन्धि या सन्तान कहा गया है ।[10]

माँ ने कहा– आर्ष-विचारकों की सम्पूर्ण सृष्टि सम्बन्धी ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया इस संधि-प्रकरण के आधार पर ही व्याख्यापित होती है । बिना 'पूर्व' और 'पर'-वर्णों तथा उनके संयोजकों को जाने हम परिणाम या वास्तविक ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकते । गुरु और शिष्य 'प्रवचन' के आधार पर ही 'विद्या का दान' दे, या प्राप्त कर पाते हैं ।

माँ ने और भी स्पष्ट करने के उद्देश्य से याद दिलाते हुए आगे कहा– आप व्याहृतियों या अभिव्यक्तियों' के सात रूपों 'भूः','भुवः', 'स्वः', 'महः', 'जनः', 'तपः', और सत्यम् को जानते हैं । इनमें से प्रथम चार, अर्थात् 'भूः', 'भुवः' स्वः और महः की चर्चा सविस्तार आर्ष विचारकों ने उपनिषद् (तैत्तिरीय) में की है । 'महः' को उन्होंने 'ब्रह्मरूप' में माना है । वे सृष्टि के अन्य तत्त्वों को भूः, भुवः और स्वः-स्वरूप मानते हैं । यथा– 'भूः' को पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, और प्राण कहा गया है । 'भुवः' को अन्तरिक्ष, वायु, सामवेद और अपान कहा गया है । 'स्वः' या 'सुवः' को स्वर्ग, आदित्य, यजुर्वेद और व्यान कहा गया है । 'महः' को आदित्य, चन्द्रमा, ब्रह्म और अन्न माना गया है । आदित्य, चन्द्रमा, ब्रह्म और अन्न से ही क्रमशः सभी लोक, सभी ज्योतियाँ, सभी वेद और सभी प्राण महिमान्वित होते कहे गये हैं ।[11]

माँ ने आध्यात्मिकता के प्रति मेरी जिज्ञासा को शान्त करने के उद्देश्य से कहा– 'शरीर-रूप' स्थूल 'कार्य-तत्त्व' को आर्ष-विचारकों ने सृष्टि का

'आधिभौतिक' रूप कहा है, और 'शरीरस्थ' क्रियात्मक 'सूक्ष्म शक्ति-तत्त्व' को 'आध्यात्मिक-रूप' कहा है । इस तरह उन्होंने सृष्टि को मुख्यतः दो रूपों, अर्थात् आधि-भौतिक और आध्यात्मिक रूपों में देखा एवं मनन किया है । 'शरीर' और 'शरीरस्थ' या 'शरीर में स्थित', या फिर 'शरीरी' की अन्योन्याश्रित आर्ष-अवधारणा अपने आप में महत्त्वपूर्ण है । यह अवधारणा 'शक्ति' के कार्यात्मक और क्रियात्मक रूप की व्याख्या करती है ।

माँ ने कहा– 'शक्ति' के 'द्रव्यात्मक' और 'क्रियात्मक' रूपों की चर्चा आर्ष विचारकों ने 'नाम' और 'आख्यात' अथवा 'सत्त्व' और 'भाव' अथवा 'सिद्धिवस्थापन्न भाव' और साध्यावस्थापन्न भाव' के रूप में की है। 'सत्त्व' और 'भाव' शब्दों की व्युत्पत्ति क्रमशः 'अस्' और 'भू' धातु-शब्दों से हुई है, जो अपने अर्थों (होना) में समान हैं । इस आधार पर यह कहा गया है कि 'शक्ति' अपनी क्रियाशीलता तक 'भावात्मक' या 'भाव-प्रधान' रहती है और जैसे ही उसकी क्रियात्मकता समाप्त होती है, परिणाम निकल आता है, 'कारण' कार्य रूप में परिणत हो जाता है, 'भाव' 'सत्त्व'-रूप धारण कर लेता है।[12]

माँ ने कहा– आर्ष-विचारक हर पल अपने लक्ष्य-प्राप्ति के अभियान में सजग हैं । उनका लक्ष्य उनके मनःचक्षु से कभी दूर नहीं होता । वे वैयक्तिक स्थूल-शरीर को व्यापक दृष्टिकोण से देखते हुए सृष्टि के परतम 'शरीर-रूप' को देखने लगते हैं, और तभी उन्हें 'शरीरी' का भी दर्शन होता है । 'भौतिकता और आध्यात्मिकता', अथवा 'शरीर और शरीरी' में उन्हें कहीं भी अभेद नहीं दीखता । वे 'शरीरी' के शुद्धतम रूप को देख सकने में समर्थ हैं, क्योंकि 'कारण' अपने आप में स्वजन्मा तभी हो सकता है, जब वह अपने आप का कारण भी हो और कार्य भी, अन्यथा अनवस्था दोष का वह शिकार हो जाता है ।

माँ ने कहा– 'शिक्षा' का उद्देश्य इसी शुद्धता तक पहुँचना है । वेद-वेदाङ्ग-उपनिषत् आदि का एक ही लक्ष्य है– व्यक्ति अपने को 'भूत' और 'भाव' दोनों रूपों में विशुद्ध बनाकर उस 'परतम विशुद्ध' में लीन हो जाये ।[13] उनके लिए यही 'मोक्ष', अर्थात् महत्तम आनन्द है ।

माँ ने कहा– उस परम विशुद्ध शक्ति-रूप 'परब्रह्म' भाव-धारी का ज्ञाता ही 'ब्रह्मवेत्ता' कहा जाता है । अपने अन्तकाल में वह समदर्शी,

सर्वकल्याणकारी ब्रह्मवेत्ता ही अपने आप में शान्त, सन्तुष्ट और जीवन-मृत्यु के द्वन्द्व के प्रति अनासक्त रहता हुआ अपने उस परतम इष्ट में लीन होने हेतु इस स्थूल नाशवान संसार से प्रयाण करता है। 'अग्नि-रूप' 'भूः'-व्याहृति में प्रतिष्ठित उस परमात्म-अंश ब्रह्मवेत्ता को 'वायु-रूप' 'भुवः' व्याहृति 'आदित्य'-रूप 'स्वः'-व्याहृति तक ले जाता है। वहाँ से 'आदित्य' उसे उसके लक्ष्य ब्रह्म-परब्रह्म रूप 'महः'-व्याहृति तक ले जाता है, और वह अपने इष्ट में लीन हो जाता है।[14]

माँ ने कहा– 'शक्ति' के दो रूपों को आर्ष-विचारकों ने अपनी अनुभूतियों में झाँककर, अपने मनः चक्षु से साक्षात् देखा था। उन्होंने उन दोनों में से 'शारीरिक-रूप' को 'कार्य-शक्ति' या 'द्रव्य-शक्ति' कहा और दूसरे सूक्ष्म 'शरीर' की चेतनात्मक शक्ति को 'कारण', अर्थात् क्रियात्मक' शक्ति के रूप में देखा। 'क्रियात्मक शक्ति' को उन्होंने संज्ञानात्मक रूप से क्रियाशील देखकर चेतनात्मक माना और उसके परतम रूप को 'ब्रह्म' कहा। आर्ष विचारकों का ब्रह्म चेतनात्मक भी है, क्रियाशील और सृजनशील या कर्मशील भी है। वह 'ब्रह्म' वस्तुतः, 'ज्ञान-प्रधान कर्म' का कर्त्ता, कर्म, क्रिया और अधिकरण सभी है। वह साधन भी है और साध्य भी। उसकी, अर्थात् उस ब्रह्म की सृष्टि में कोई 'अचेतन' या 'निर्जीव' नहीं। जब तक वह क्रियाशील रहता है 'क्रिया'-रूप में रहता है, और 'क्रिया' की समाप्ति पर 'कार्य' का रूप ले लेता है, यह कार्य ही अपने अनेक कार्यों का कारण बन जाता है। एक ही शक्ति के ऐसे मुख्य दो रूपान्तरण, हमें उसकी सूक्ष्मतमता को और गहरे रूप से देखने को विवश करते हैं। आर्ष-विचारक भी इसी तरह उद्वेलित हुए होंगे।

माँ ने कहा– उनका वही वैचारिक उद्वेलन उन्हें ऐसी विशुद्ध शक्ति की उपस्थिति को दिखला गया जो अपनी सक्रियता में चेतनात्मक थी, कारण-रूप थी, किन्तु कारण और कार्य के माया-जाल से अलिप्त थी। वहाँ रहकर भी वह वहाँ नहीं थी। वह शुद्ध भावात्मक और ज्ञानात्मक थी।

माँ ने कहा– आज का 'भौतिक विज्ञान' अपने अहङ्कार को छोड़, अगर अपने 'निर्जीव' को निर्जीवता के क्षेत्र से निकालकर सजीवता के क्षेत्र के साथ समन्वित कर दे, तो निश्चिततः उसे उस सर्व-सामान्य नियम का ज्ञान प्राप्त हो जायेगा जिसके द्वारा वह सम्पूर्ण सृष्टि की व्याख्या एक साथ

कर सकता हो । इस नियम का ज्ञान आर्ष विचारकों को, उन में कुछ को ही सही अवश्य था । क्योंकि वे इस विचार में स्पष्ट थे कि 'उस एक' को जान लेने के बाद सब कुछ जाना जा सकता है ।[15] सर्वज्ञता उसी स्तर पर प्राप्त हो सकती है ।

माँ ने कहा– ज्ञान और कर्म की क्रियात्मक शक्तियों की उपमा आर्ष विचारकों ने 'गो' और 'अश्व' तत्त्वों से दी है । 'गो' शब्द का व्यवहार 'ज्ञान-प्रकाश' के लिए तथा, शरीर-बल और गत्यात्मक तेजी के लिए 'अश्व'-शक्ति का सहारा लिया है । अब इनके विषय में कभी और ।

माँ ने कहानी को तो वहीं समाप्त कर दिया और मुझे दुलराकर सो भी गईं, किन्तु मैं माँ के व्यक्तित्व से अभिभूत उन्हें समझने में कुछ देर तक लगा रहा । मेरी माँ विदुषी हैं, यह तो उनकी 'डिग्रियाँ' बतलाती हैं । किन्तु, जो 'डिग्रियाँ' नहीं बतलाती वह है– उनका मानववादी व्यक्तित्त्व और शिक्षक का आदर्श रूप । वह स्वयं में शिक्षिका और शिक्षा दोनों हैं ।

●

सन्दर्भ :

1. "अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
   अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ।।" [महाभारत, वन पर्व 297/35-36]
2. 'संस्कृत-हिन्दी कोश' (वामन शिवराम आप्टे); शब्द - 'क्लृप्', पृष्ठ - 301 ।
3. वही; शब्द- 'कल्पनम्', कल्पना; पृष्ठ - 258
4. वामन शिवराम आप्टे कृत 'संस्कृत-हिन्दी कोश; पृष्ठ - 258; शब्द - 'कल्पना'; अर्थ-12 ।
5. 'अर्थापत्ति; 'मानक हिन्दी कोश'; सम्पादक रामचन्द्र वर्मा (पहला खण्ड) पृष्ठ- 182 ।
   और वह आकारिक (Formal) एवं वास्तविक (Material) दोनों प्रकार की सत्यताओं (truth) पर आधारित होता है । यहाँ 'आगमन' और 'निगमन' दोनों तर्कों का समन्वयन पाया जाता । यह 'निरपेक्षता' का द्योतक है । आर्ष विचारकों के 'अनुमान' में

'गुण' और 'परिणाम' सदा एक रहता है । यह भावात्मक और पूर्णव्यापी होता है ।

6. हिन्दू धर्मकोश; पृष्ठ - 603; शब्द-वेदाङ्ग ।
7. तैत्तिरीय उपनिषद् बल्ली-1, अनुवाक-2
   "शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्ण स्वरः । मात्रा बलम् । साम संतानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ।"
8. 'मूलाधार में रहनेवाली जो 'परा' नाम की वाक्शक्ति है, वही प्राणवायु की सहायता से उसके साथ ही उठती हुई तिरसठ (63) वर्णों का उत्पन्न करती है । उनमें प्रथम उत्पन्न, अर्थात् नाभि देश में अभिव्यक्त होने पर पश्यन्ती और हृदयदेश अभिव्यक्ति होने पर 'मध्यमा' पद की वाच्य होती है । वही जब मुख में आकर दूसरों के श्रवण का विषय होती है तो बैखरी कही जाती है ।''

   ''या सा मित्रावरुण सदना दुश्चरन्ती त्रिषष्टि
   वर्णनन्तः प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात प्रसूते ।
   तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमा बुद्धि संस्थाम्
   वाचं चक्रे करणविशदां बैखरीञ्च प्रपद्ये ॥''

   [स्फोट दर्शन : पण्डित रङ्गनाथ पाठक] पृष्ठ- 25 ।
9. संस्कृत-हिन्दी कोश; पृष्ठ-909; शब्द-'वसिष्ठः' ।
   * तैत्तिरीय उपनिषद्; वल्ली-1, अनुवाक-2; पृष्ठ 275, सन्दर्भ ।
10. तैत्तिरीय उपनिषद्, वल्ली-1, अनुवाक-तीन (तृतीय) पृष्ठ- 276 से 279 ।
11. तैत्तिरीय उपनिषद्, वल्ली-1, अनुवाक-पाँच (पञ्चम्) पृष्ठ 285 से 288 ।
12. यास्क प्रणीत 'निरुक्तम्' - सम्पादक डा० उमाशङ्कर शर्मा ऋषि; भूमिका- तृतीय परिच्छेद; पृष्ठ- 16-17 ।
13. छान्दोग्य उपनिषद्; अध्याय-8; खण्ड-12; मंत्र-1; पृष्ठ- 906 ।
14. तैत्तिरीय उपनिषद्; वल्ली-1; अनुवाक-6; पृष्ठ- 289-90 ।
15. छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय- 8; खण्ड- 7; मंत्र-1 ।

निरपेक्ष

(एक)

देखता-समझता
सापेक्ष को,
'मनुज-मन' ही
देखता है निरपेक्ष को।

सापेक्ष को देखते
'चर्म-चक्षु' व्यक्ति के,
देख नहीं पाते
निरपेक्ष 'वास्तव' को।

स्थूलता-बीच जीता 'व्यक्ति',
स्थूलता को देखती उसकी वे आँखें,
देख नहीं पातीं कभी
सूक्ष्मतम वास्तव 'निरपेक्ष' को।

स्थूलता के सापेक्ष में
जीता हुआ 'व्यक्ति'
जी नहीं पाता जीवन
स्वयं जीवन की निरपेक्षता को।

'निरपेक्ष' शक्ति-रूप है
हर 'शक्तिमान्' में;
शक्ति-रूप निरपेक्ष ही
धारता है हर शक्तिमान् को।

हर शक्तिमान्, मीत !
अस्तित्वहीन है शक्ति-बिन,
'अस्तित्व' की अवधारणा, मीत !
त्यागती नहीं 'शक्ति' को।

'शक्ति' और 'शक्त', मीत !
आश्रय और आश्रयी-रूप
एक दूजे का धारक बन,
धारते हैं सृष्टि को।

सक्रियता सृष्टि की,
गतिमानता हर वस्तु की,
है शक्ति की देन, मीत !
भूलो नहीं तथ्य को।

'शक्ति' ही 'शब्द', मीत !
'शक्ति' से ही 'अर्थ' है;
शक्तिमान्-रूप 'शिवः', मीत !
त्याजते नहीं 'शक्ति' को।

●

(दो)

'निरपेक्ष' के जीवन में
आग्रह है सत्य का,
सत्य के आग्रह में
व्यापार नहीं स्वार्थ का।

स्वार्थ के व्यापार में
लिप्त आज व्यक्ति, मीत!
भूला ही रहता है
मार्ग यहाँ परमार्थ का।

'परमार्थ' के अभाव में
'भाव' नहीं सत्य का,
सत्य के 'अभाव' में
भाव नहीं 'निरपेक्ष' का।

गौण होता 'निरपेक्ष', मीत!
सापेक्षमय सृष्टि में,
है देख रहा दृश्य, मीत!
क्रमिक विनाश सृष्टि का।

जानवर-से जीते हम
तन लिये मानव का,
हैं भूल चुके, मीत! हम
अर्थ आज 'मनन' का।

ढूँढ़ना है आज, मीत!
'अर्थ' उस 'निरपेक्ष' का,
'गर जीना है जीवन हमें
जीवन एक मानव का।

देखते हम 'सापेक्ष' को
'सापेक्ष' के रूप में;
'सापेक्ष' में देखते नहीं
रूप उस निरपेक्ष का।

'अनेक' नहीं 'न-कार', मीत!
यहाँ किसी 'एक' का;
वह तो 'एक-एक' में,
है रूप 'मात्रा-एक' का।

'शक्ति-रूप' सृष्टि में
है 'शक्ति' ही 'एक', मीत!
'एक' वही 'शक्ति', मीत!
है अनेक-रूप सृष्टि का।

अनेक-रूप सृष्टि, मीत!
है बँटी नहीं 'वस्तुतः',
'वस्तु' तो 'रूप' है,
'रूप' वह 'शक्ति' का।

सापेक्षगत वस्तु हर,
'शक्ति' का 'रूप' है,
'शक्ति' के रूप में
है रूप वह 'निरपेक्ष' का।

'कर्म' का आधर बना,
'सापेक्ष' कर्म हेतुक, मीत!
'कर्म हेतुक-रूप' वह,
है 'भाव'-रूप 'निरपेक्ष' का।

●

Dear Priyamvad

The Heart of my heart !
'The Love of Heart
Never lives apart'.
'The steam of love,
The love so warm',
My Love ! My Charm !
'Always Lives in arm'.
My Love ! My Art !
O, Mummy's Heart !
You live in arm,
You dwell in heart.
My Love ! My Life !
The Light of Soul !
My Brightest Star !
You are my Goal.
Thy Papa dwelleth
In thy heart,
He never goes
Miles apart.
Papa Wishes
From the Core of heart,
'A happy new year
From the start'.
'A happy new year'
Your Papa says,
'You shine like sun'
Your Papa prays.

– Shachindra.

Love is the fairest flower that
blooms in God's garden.

Darbhanga
1.1.1998

My Dear Priyamvad !

Received your Greeting for the new year. Your card, the overwhelming one, shows your high imagination and artistic choice. My Heart ! My Love ! you are a real gem of the universe. 'What a beautifyl Card !' everybody praises when one knows the theme and nature of the card. Dear Son ! your love for art is praiseworthy. Thanks for sending such a beautiful card with your touch of great and eternal love and affection. I have tried a few lines on the same pattern but in vain before your great artistic imagination and touch. Thanks again; Thanks a lot. God may bless you with all the successes in life on the new year, and always. Mummy too may bless you with the same from the Heaven. Mummy is always with us in the form of good will and love.

Your
Papa
Shachindra.

प्रस्तुत आख्यानों में यक्ष की कहानी के माध्यम से विनम्रता के महत्त्व का स्पष्टीकरण विचार की पौराणिक विधि का जहाँ उदाहरण है, वहाँ अश्वपति कैकेय सन्दर्भित आख्यान समन्वय विधि का, इन्द्र और विरोचन सन्दर्भित आख्यान यथावसर विधि का और राजा जनक एवं याज्ञवल्क्य संदर्भित आख्यान प्रतिगमन विधि का उदाहरण है।

औपनिषदिक आख्यानों के माध्यम से माँ प्रियंवदा ने पुत्र पीयूष में अपनी पुरानी वैज्ञानिक थातियों के प्रति अभिरुचि पैदा करने का सफल प्रयास किया है। 'प्रियंवदा' के पीयूषवत् प्रिय, अर्थात् अमृतमय, शब्द, उनके ही अपने जाये दूसरे 'पीयूष', अर्थात् पुत्र-रूप अमृतत्व, में पीयूष-धार की तरह प्रवाहित हो सकते हैं। 'प्रियंवदा' और 'पीयूष' का यह नित्य-शाश्वत सम्बन्ध यहाँ 'माँ-पुत्र' के वैचारिक समन्वय में स्पष्टतः और स्वतः उजागरित हुआ है। अगर 'पुत्र' 'पीयूष' अपनी माँ 'प्रियंवदा' के स्पष्टीकरण के कायल हैं, तो माँ प्रियंवदा भी पुत्र 'पीयूष' की जिज्ञासा, एकाग्रता और उन्मुक्त मानसिक विस्तार की कायल हैं। 'प्रियंवदा' अगर 'शाश्वती'-रूपा हैं, तो 'पीयूष' उनका 'अमृतत्व है।'

'माँ ने कहा था.....' की इस प्रस्तुति-विशेष में श्री पीयूष ने 'माँ प्रियंवदा' के सुलझे विचारों को बहुत ही सुलझे रूप में पाठकों के समक्ष रखा है। उनके विचार से आज के माहौल में 'धर्म' अथवा 'दर्शन' को स्वनिर्मित रहस्यों के पर्दे से बाहर निकलना होगा और अपने साथ-साथ उसे हर व्यक्ति को विचारणा के मानवीय स्तर पर ले जाकर खड़ा भी करना होगा।

श्री पीयूष ने उपनिषद् के जिन आख्यानों को जिस रूप में सुना, समझा और अभिव्यक्त किया वह निश्चय ही सराहनीय है। अगर वे असमय काल-कवलित न हुए होते तो हम उनकी प्रतिभाओं को अपने समक्ष अवश्य फूलते-फलते देखते। फिर भी, उनका दूसरा प्रयास, माँ प्रियंवदा के कुछ आलेखों की प्रस्तुति के रूप में, पाठकों के समक्ष आ सकेगा- ऐसी उम्मीद की जा सकती है।

श्री पीयूष की इस कृति को मानव-समाज भरपूर स्वागत करेगा ऐसी ही शुभ कामना है। मैं श्री पीयूष को उनकी इस प्रस्तुति के लिए साधुवाद देता हूँ। यह समय की अपेक्षा भी है।

शचीन्द्र

श्रीमती प्रियंवदा सिन्हा

अवतरण : 14 मई 1950 ई०

मोक्ष : 4 सितम्बर 1996 ई०

शिक्षा : बी०एससी०; एम०ए० (दर्शन); बी०एड० दर्शन-शास्त्र में डॉक्टरेट के लिए निबन्धित।
डॉक्टरेट का विषय- "मानववाद-रवीन्द्रनाथ टैगोर, मानवेन्द्र नाथ राय और सर्वपल्ली राधाकृष्णन के मानववाद के सन्दर्भ में।"

प्रकाशन : 'एकाकीपन मेरा' और 'मानवी बनी मैं.....' दोनो ही काव्य-मान० द सन्दर्भित हैं।

व्यवसाय : विज्ञान शिक्षका।
'मानव', विशेषत: औपनिषदिक मानववाद की मुरीद।

अभिलाषा : पुत्र पीयूष को महान और विद्वान बने देखने की।

पीयूष सिन्हा उर्फ पीयूष प्रियंवद

अवतरण : 3.11.1981 ई०

मोक्ष : 16.3.2002 ई०

श्री पीयूष सिन्हा जन्मजात प्रतिभाशाली रहे। उनकी स्मरण-शक्ति और व्याख्यात्मक शैली दोनों ही प्रशंसनीय रही। "माँ ने कहा था..." की प्रस्तुति इसका साक्ष्य है।

श्री पीयूष 'फास्टनेस' के मुरीद थे। उनमें एक अच्छे अभिनेता और आज के तथाकथित 'फास्ट डान्स' 'ब्रेक' के अच्छे कलाकार के सभी आवश्यक गुण मौजूद थे। स्टेज पर उनका आगमन 'चित्रगुप्त पूजा' और विद्यालयीय सांस्कृतिक कार्यक्रम के माध्यम से हुआ था। वे 'फास्ट' गीत भी अच्छा गाते थे। पंजाबी, अंग्रेजी, हिन्दी की बोल पर उनकी पकड़ अच्छी थी। अंग्रेजी शब्द के उच्चारण पर उनका अधिकार उनके पिता तक के लिए सहायक सिद्ध होता रहा। अपनी दुविधा में उनके पिता भी उनसे ही जटिल शब्दों के उच्चारण का ज्ञान प्राप्त करते थे, विशेष रूप से विदेशी नामों के।

वेदों की अनभिज्ञता ने उन्हें पुरातन विज्ञान के प्रति उदासीन कर रखा था। माँ प्रियंवदा ने उनकी इसी कमी को कतिपय औपनिषदिक आख्यानों के माध्यम से दूर करने का प्रयास किया। विदुषी माँ का उनके मन-मस्तिष्क पर गहरा असर रहा था।